

● आचार्य हेमचन्द्र रचित

देशी नाममाला

का

भाषावैज्ञानिक अध्ययन

डॉ० शिवमूर्ति शर्मा

प्राध्यापक हिन्दी विभाग

मुद्रङ्ग क्रिश्चियन कॉलेज,

हलाहाबाद

देवनागर प्रकाशन, जयपुर

कृति : आचार्य हेमचन्द्र रचित
 देशीनाममाला का भाषा वैज्ञानिक अध्ययन
 कृतिकार : डॉ० शिवमूर्ति शर्मा
 सस्करण :
 मूल्य :
 प्रकाशक : देवनागर प्रकाशन,
 चौडा रास्ता, जयपुर
 मुद्रक : एलोरा प्रिन्टर्स, जयपुर

A LINGUISTIC STUDY OF DESHINAMAMALA ACHARYA
 HEMCHANDRA'S by Dr SHIVMURTI SHARMA

प्राक्कथन

एक ग्रामीण अंचल का निवासी होने के कारण, प्रारम्भ से ही मुझे ग्रामीण भाषा और उसमें व्यवहृत होने वाली शब्दावली से लगाव रहा है। सस्कृत के अध्ययन ने इस रुचि में और भी परिष्कार किया। सस्कृत की स्नातकोत्तर कक्षा में वैदिक साहित्य के विशिष्ट अध्ययन से यह रुचि और भी परिष्कृत हुई। वेदों में व्यवहृत भाषा कितने जन-भाषा के तत्वों से मण्डित है। इन तत्वों की खोज करने की प्रेरणा और भी बलवती हो उठी। इसी बीच मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं के अध्ययन के बीच 'देशी' शब्दों पर ध्यान गया। स्वाभाविक रुचि होने के कारण मैंने इस विषय को शोध-कार्य के रूप में ग्रहण करना चाहा। परमपूज्य गुरु डा० लक्ष्मीसागर वाष्णीय (अध्यक्ष-हिन्दी-विभाग) एव डा० माता बदल (जायसवाल) की कृपामयी अनुकम्पा से मुझे इस विषय पर कार्य करने का प्रोत्साहन भी मिल गया। प्रारम्भ में समवेत रूप से 'देशी' शब्दों के आलोडन की भावना से अध्ययन प्रारम्भ किया। अध्ययन की इसी परम्परा में आचार्य हेमचन्द्र की 'देशीनाममाला' पर दृष्टि गयी। इस ग्रन्थ की क्लिष्टता और परम्परा के कारण विद्वानों द्वारा की गयी उपेक्षा ने पहले तो हतोत्साहित किया, पर गुरुओं की प्रेरणा ने कार्य को इसी ग्रन्थ तक सीमित कर आगे बढ़ाने का साहस दिया।

आचार्य हेमचन्द्र की देशीनाममाला भारतीय कोश साहित्य में तो अदभुत है ही, समस्त विश्व के कोशों में भी विलक्षण है। आचार्य हेमचन्द्र ने इसकी रचना अपने व्याकरण ग्रन्थ 'सिद्धहेमशब्दानुशासन' के पूरक ग्रन्थ के रूप में की थी। वे अपने शब्दानुशासन को पूर्णता तक पहुँचाना चाहते थे, अतः उन्होंने तत्सम और तद्भव शब्दों का आख्यान कर लेने के बाद युग-युगों से जनभाषाओं में व्यवहृत होते आये, एव समय-समय पर साहित्य में स्थान पाने वाले असदभ्य 'देशी शब्दों' का प्रत्याख्यान 'देशीनाममाला' में किया। समवेत रूप से देशीनाममाला के महत्व-निर्दर्शन का यह प्रथम प्रयास है। इस पर कार्य करने के बीच जितनी कठिनाइयाँ सामने आयी हैं, सभी का उल्लेख कर पाना कठिन है, प्राकृत तथा अपभ्रंश के मर्मज्ञविद्वान् डा० माताबदल जायसवाल तथा प्रो. महावीरप्रसाद लखेड़ा जी ने पग-पग पर आने वाली कठिनाइयों का निवारण अत्यन्त उदारतापूर्वक किया है।

इस शोध-प्रबन्ध में निहित अध्ययन को दो खण्डों में बांट दिया गया है प्रथम खण्ड में चार अध्याय हैं। प्रथम अध्याय—आचार्य हेमचन्द्र के व्यक्तित्व और उनके कृतित्व का निदर्शन है। द्वितीय अध्याय—देशीनाममाला के स्वरूप पर प्रकाश डालता है। तृतीय अध्याय—देशीनाममाला में आयी हुई उदाहरण की गाथाओं के साहित्यिक सौन्दर्य पर प्रकाश डालता है। चतुर्थ अध्याय—देशीनाममाला के सांस्कृतिक महत्व का निदर्शन है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का द्वितीय खण्ड देशीनाममाला के भाषावैज्ञानिक महत्व पर प्रकाश डालने वाला है। इस खण्ड में कुल तीन अध्याय हैं। पंचम अध्याय 'देशी' शब्दों के स्वरूप विवेचन तथा उनके उद्भव एवं विकास की सैद्धान्तिक चर्चाओं से संचित हैं। पष्ठ अध्याय में देशीनाममाला के 168 देशी शब्दों को हिन्दी तथा उसकी प्रमुख बोलियों में स्वरूप परिवर्तन के साथ ज्यों का त्यों व्यवहृत होते दिखाया गया है। सातवा अध्याय 'देशी' शब्दों के भाषाशास्त्रीय अध्ययन से संबद्ध है। इस अध्याय का पूरा अध्ययन ध्वनिग्राहिक, पदात्मक एवं अर्थगत तीन खण्डों में विभाजित है। इस प्रकार प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का सारा अध्ययन कुल दो खण्डों और सात अध्यायों में विभाजित है, जिनमें देशीनाममाला के विविध पक्षों का सुष्ठुप्रकाशन एवं उसके महत्व-निदर्शन का प्रयास किया गया है।

प्रस्तुत शोधकार्य को सम्पन्न करने की बलवती प्रेरणा मुझे अपने पूज्य गुरु डा० माताबदल जायसवाल जी से मिली। समय समय पर भ्रष्ट गुरु डा० लक्ष्मी-सागर वाष्णैय की कृपा-प्रेरणा ने भी मुझे आगे बढ़ने में प्रोत्साहित किया है। सच पूछा जाये तो डा० वाष्णैयजी की स्नेहमयी प्रेरणा ने ही मुझे यह गुह्यतर कार्य—मार उठाने की शक्ति दी थी। संस्कृत विभाग के प्रो० महावीरप्रसाद लखेड़ा जी ने नित्य मुझे विषय से सम्बन्धित नवीन सूचनाएँ देकर अनुग्रहीत किया है। अतः इन सभी का मैं हृदय से आभारी हूँ। अन्य विभागीय गुरुओं से भी मुझे समय-समय पर प्रेरणा एवं सहायता मिलती रही है, अतः इन सभी का मैं हृदय से आभारी हूँ। परम आदर्शणीय श्री राजकिशोर सिंह (वरिष्ठ प्रवक्ता हिन्दी-विभाग यूटूंग क्रिश्चियन कालेज—इलाहाबाद) ने भी इस शोधकार्य में पर्याप्त सहायता की है, अतः मैं उनका भी हृदय से आभारी हूँ। मेरे परमहितमित्र श्री सूर्यनारायण मिश्र डा० हरिशंकर तिवारी तथा डा० पद्माकर मिश्र ने भी पर्याप्त सहयोग दिया है अतः मैं इनके प्रति भी अपना आभार व्यक्त करता हूँ। इस शोधप्रबन्ध के टट्टरण का कार्य मेरे प्रिय मित्र श्री मेवालाल देखेकधी ने रुचि' लगन एवं योग्यता के साथ किया है, अतः मैं इनका भी आभारी हूँ। सहायक ग्रन्थों की सूची अन्त में परिशिष्ट के रूप में दे दी गयी है।

—डा० शिवमूर्ति शर्मा

अनुक्रमणिका

आमुख	1-8
अध्याय 1	9-42
आचार्य हेमचन्द्र का व्यक्तित्व और कृतित्व	
हेमचन्द्र का जीवन चरित्र	9
विद्याध्ययन और व्यक्तित्व निर्माण	13
हेमचन्द्र और सिद्धराज जयसिंह	16
हेमचन्द्र और कुमारपाल	24
कुमारपाल	24
हेमचन्द्र और कुमारपाल की प्रथम भेंट	27
हेमचन्द्र का कुमारपाल पर प्रभाव	30
आचार्य हेमचन्द्र और उस युग के ख्याति प्राप्त व्यक्तित्व	32
आचार्य हेमचन्द्र की रचनाएँ	32
सिद्धहेमशब्दानुशासन, उसका स्वरूप	34
आचार्य हेमचन्द्र के कोष ग्रन्थ—अभिधानचिन्ता मणि, देशीनामाला, निघण्टु	37
द्रव्याश्रयकाव्य	38
काव्यानुशासन	38
छन्दोऽनुशासन	40
प्रमाणमीमांसा	40
त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित	40
योगशास्त्र एवं स्तोत्र	40
आचार्य हेमचन्द्र की रचनाओं का तिथि-क्रम	40

अध्याय 2 देशीनाममाला 43-74

देशीनाममाला—स्वरूप—विवेचन	43
नामकरण की समस्या	44
देशीनाममाला का रचनाकाल	47
देशीनाममाला की मूलप्रतियाँ	49
देशीनाममाला का स्वरूप और उसकी विषयवस्तु	54
देशीनाममाला की गाथाएँ	57
वृत्ति या टीकाभाग	59
देशीनाममाला में आयी हुई उदाहरण की गाथाएँ	66
गाथाश्लो का वर्गीकरण	70
देशीनाममाला का महत्त्व	72
भाषावैज्ञानिक महत्त्व, साहित्यिक महत्त्व	73

अध्याय 3 रयणावली (देशीनाममाला) का साहित्यिक अध्ययन 75-102

रयणावली की गाथाश्लो की विषयवस्तु	76
बौद्धिक प्रेम और शृंगार से सम्बन्धित पद्य	76
सयोग-वर्णन	77
विविध नायिकाएँ और उनके अभिसार-चित्र	80
रयणावली का मादक सौन्दर्य चित्र	82
रयणावली का वियोग-चित्रण	84
मान	85
प्रवास और विरहताप	85
कुमारपाल की प्रशस्ति से सम्बन्धित पद्य	90
रयणावली के विविध विषयात्मक पद्य	94
रयणावली का कला-पक्ष	97
छन्द	97
भाषा	99
श्लोकार	99
निष्कर्ष	100

अध्याय 4 रयणावली (देशीनाममाला) का सांस्कृतिक अध्ययन 103-128

देशीनाममाला का सामाजिक वातावरण	104
सामाजिक एवं पारिवारिक सम्बन्ध	105
रहन-सहन, रीति-रिवाज तथा देश-भूषा व खान-पान	106
छूतक्रीडा	117
घरेलूवस्तुएँ	117
सामाजिक उत्सव एवं खेल-कूद	119
धार्मिक आचार-विचार और देवी-देवता	121
साहित्य और कला	124
ग्रामीण कृषक-जीवन से सम्बन्धित शब्दावली	126
राजनीति और शासन-व्यवस्था	127
निष्कर्ष	128

अध्याय 5 देशी शब्दों का विवेचन 129-168

देशी शब्दों का स्वरूप-विभिन्न मत	131
प्राकृत तथा देशी	134
अपभ्रंश और देशी	140
निष्कर्ष	145
देशी शब्दों के प्रति हेमचन्द्र के पूर्व के आचार्यों का दृष्टिकोण	146
आचार्य हेमचन्द्र का मत	149
प्राधुनिक भाषा वैज्ञानिकों का मत	151
देशी शब्दों का उद्भव और विकास	158
भाषा वैज्ञानिक कारण	158
देशी शब्दों का विभिन्न प्रान्तीय बोलियों से उद्भव	158
देशी शब्दों का आर्घ्यतर भाषाओं से उद्भव	162
देशी शब्दों के उद्भव और विकास का सांस्कृतिक आधार	166

अध्याय 6	मानक हिन्दी तथा उसकी प्रमुख बोलियों में विकसित देश्य शब्द	169-203
	निष्कर्ष	202
अध्याय 7	देशीनाममाला का भाषाशास्त्रीय अध्ययन ध्वनिग्रामिक विवेचन	204-303
	खण्डीयध्वनिग्राम	205
	स्वर ध्वनिग्राम—प्राप्य स्वर ध्वनिग्रामों की प्रकृति	206
	अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ, ऋ, लृ का प्रयोग, ऐ और औ की स्थिति—	206-211
	स्वर ध्वनिग्रामों का वितरण	211
	खण्डेतर स्वर ध्वनिग्राम	213
	अनुस्वार तथा अनुनासिक	213
	विसर्ग का प्रयोग	214
	सन्धि और स्वर-सयोग	215
	य श्रुति और व श्रुति	216
	स्वराघात	223
	देशीनाममाला के व्यजन ध्वनिग्राम	225
	कण्ठ्य—क, ख, ग, घ,	226
	तालव्य—च, छ, ज, झ,	229
	मूर्धन्य—ट, ठ, ड, ढ, ण, ण्ह ध्वनिग्राम की स्थिति	233
	दन्त्य या वत्स्य—त, थ, द, ध, न	240
	ओष्ठ्य—प, फ, ब, भ, म, म्ह की स्थिति	245
	अन्त स्थ व्यजन—य, र, ल, व, ल्ह की स्थिति	250
	स और ह	255
	निष्कर्ष	257
	व्यजन परिवर्तन	257
	1. लोप—(क) आदिव्यजन-लोप (ख) मध्यव्यजनलोप	258

2	आगम—(क) आदिव्यजनागम, (ख) मध्यव्यजनागम, (ग) अन्त्यव्यजनागम	258
3	वर्णविपर्यय	258
4	समीकरण	258
5	घोषीकरण	259
6	महाप्राणीकरण	259
	व्यजन-सयोग—(क) प्रबलपयुक्तव्यजन	259
	(ख) क्षीणसयुक्तव्यजन	260
	(ग) मिश्रसयुक्तव्यजन	260
	सयुक्ताक्षर	260
	पदग्रामिक अध्ययन	261
	पदग्राम	261
	शब्दों का स्वरूप	261
	प्रत्यय प्रक्रिया	
1.	विभक्ति प्रत्यय—(क) ओ, आ, ई, शून्य विभक्ति—ई, अ	262
	(ख) निर्विभक्तिक शून्य प्रयोग	266
2	व्युत्पादकपूर्व प्रत्यय	
	(क) व्युत्पादक पूर्व प्रत्यय या उपसर्ग	267
	(ख) व्युत्पादक परप्रत्यय	270
	ताद्धतान्तशब्द-कर्तृवाचकप्रत्यय, सवधार्थक- प्रत्यय, स्त्री प्रत्यय व कृदन्तीप्रयोग	274
	अर्थगत अध्ययन (अर्थ—विज्ञान)	275
	(देशीनाममाला की शब्दावली का वर्गीकरण)	
	अनादि प्रवृत्तप्राकृत भाषा के शब्द	291
	संस्कृतमिथान मे अप्रसिद्ध भारोपीय भाषा से सम्बद्ध शब्द	292
	द्राविड परिवार की भाषाओं के शब्द	292
	विदेशीशब्द	296
	ध्वन्यनुकरणात्मक शब्द	299
	लोकोद्भूत ध्वन्यनुकरणात्मक शब्द ।	299

चेष्टानुकरण से सम्बद्ध ध्वन्यनुकरणात्मक शब्द	300
ध्वनिविधायक नाम	300
शैशवक्रीडा मे गृहीत सम्बन्धवाची शब्द	300
देशीनाममाला के अर्थप्रतिपत्तिनिमित्तक तत्सम एव तद्भव शब्द	300
(क) तत्समशब्द—(ख) धातुओं के अर्था- तिशययोगसे युक्त	300
देशी शब्द या तथाकथित तद्भव शब्द	300
निष्कर्ष	302
सहायक ग्रन्थ सूची	304-311
कोशग्रन्थ	309
जर्नल्स	310

आमुख

आचार्य हेमचन्द्र का 'देशीनाममाला' नामक कोशग्रन्थ भारतीय कोशग्रन्थ परम्परा में तो अद्भुत है ही, समस्त विश्व के कोषों में भी अद्भुत एवं विलक्षण है। मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाओं पालि, प्राकृत अपभ्रंश आदि की प्रकृति को भलीभाँति समझने में इस कोश ग्रन्थ का सूक्ष्म अध्ययन अत्यन्त महत्वपूर्ण है। 'देशीनाममाला' 'देशी' शब्दों का एक कोशग्रन्थ है। इसमें लगभग 4,000 देशी शब्दों का संकलन है। आचार्य हेमचन्द्र ने इस कोश में देशी शब्दों का अर्थ देने के साथ ही उनके प्रयोग निदर्शन के लिए अत्यन्त सुन्दर एवं उच्चकोटि के साहित्यिक पद्यों की रचना भी की है। इसी कोष ग्रन्थ के साहित्यिक एवं भाषावैज्ञानिक महत्व का प्रतिपादन प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का विषय रहा है। भारतीय साहित्य परम्परा में आचार्य हेमचन्द्र बहुमुखी प्रतिभा से युक्त विद्वान् रहे हैं। उन्होंने धर्म, दर्शन, व्याकरण और साहित्य-लगभग सभी विषयों से सम्बन्धित ग्रन्थों की रचना की थी। देशीनाममाला उनके प्रसिद्ध व्याकरण ग्रन्थ सिद्ध हैमशब्दानुशासन का पूरक ग्रन्थ है। आचार्य हेमचन्द्र ही अकेले ऐसे विद्वान् हैं, जिन्होंने, संस्कृत प्राकृत और अपभ्रंश—सभी परम्परा प्रचलित साहित्यिक-भाषाओं का व्याकरण लिखा। एक ही ग्रन्थ सिद्ध हैमशब्दानुशासन में उन्होंने तत्सम और तद्भव दोनों ही शब्दों का प्रत्याख्यान किया। तत्पश्चात् व्युत्पत्ति की दृष्टि से गूढ़ एवं असदमर्थ देशी शब्दों का परिगणन देशीनाममाला में कर, अपने शब्दानुशासन को सभी दृष्टियों से पूर्ण बनाया।

आचार्य हेमचन्द्र के लगभग सभी ग्रन्थों पर अधिकारी विद्वानों ने कार्य किया है, पर देशीनाममाला लगभग उपेक्षित ही रहा है। 1874 ई के पहले तो संभवतः लोग इस ग्रन्थ के बारे में जानते भी नहीं रहे होंगे। बुल्हर ने पर्याप्त परिश्रम के बाद पिशेल के साथ मिलकर 1880 ई में इस ग्रन्थ को प्रकाशित कराया पर ये लोग प्रकाशन कार्य तक ही सीमित रहे, इस ग्रन्थ की महत्ता का

प्रतिपादन न कर सके। इस क्षेत्र में रामानुजस्वामी ने पहला कदम रखा, पर वे भी देशीनाममाला की ग्लासरी तैयार करने और इसके शब्दों की संस्कृत से कुछ भ्रामक व्युत्पत्तियाँ देने के अतिरिक्त कुछ न कर सके। इसके बाद कलकत्ता विश्वविद्यालय के प्रो० मुरलीधर वेनर्जी ने इस दिशा में स्तुत्य प्रयास किया। उन्होंने विस्तृत भूमिका और आलोचनात्मक टिप्पणियाँ तथा अंग्रेजी अनुवाद के साथ इसे दो भागों में विभक्त करके प्रकाशित कराया। परन्तु इसका प्रथम भाग (भूमिका तथा मूलपाठ) ही आज प्राप्त है। द्वितीय भाग सम्भवतः वे पूरा नहीं कर सके। मुरलीधर वेनर्जी के बाद अनेकों ग्रन्थों में छिटपुट उल्लेखों के रूप में ही देशीनाममाला का नाम आता है। देशी शब्दों का एकमात्र ग्रन्थ होने के कारण अधिकारी विद्वान् इसका उल्लेख तो करते रहे हैं, पर गहराई में उतरकर किसी ने भी इसके महत्त्व-प्रतिपादन का प्रयास नहीं किया। इस दिशा में इस शोध प्रबन्ध को प्रथम प्रयास कहा जा सकता है। देशीनाममाला पर कार्य करते-करते, परम्परा प्रसिद्ध विद्वानों की अनेकों भ्रान्तियाँ भी सामने आ गयी हैं, जिन्हें बिना किसी लाग-लपेट के साफ-साफ स्पष्ट कर दिया गया है। पूरे शोधकार्य के बीच शोधकर्त्ता का अपना एक निश्चित दृष्टिकोण रहा है सर्वत्र ग्रन्थकार के साथ चलकर ही समस्याओं पर प्रकाश डाला गया है। देशीनाममाला को लेकर आचार्य हेमचन्द्र की तरह-तरह की आलोचनाएँ हुई हैं। बल्हर ने तो इसे 'देशी' शब्दों का कम तद्भव शब्दों का अधिक कोष माना। परन्तु मैंने सर्वत्र हेमचन्द्र के दृष्टिकोण की रक्षा करने का प्रयास किया है। आचार्य हेमचन्द्र ने जिस दृष्टि से इस ग्रन्थ का सकलन किया है, उनकी उमी दृष्टि को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

एक बात यहाँ और भी स्पष्ट कर देने की है—जहाँ तक देशी शब्दों के स्वरूप, उनके उद्भव और विकास का प्रश्न है, परम्परा के विद्वानों ने तरह-तरह का वितण्डा खड़ा किया है। कोई इन्हें प्रार्योतर शब्द बताता है तो कोई संस्कृत का ही विकार। परन्तु इन सभी विवादों से परे मैंने देशी शब्दों को युग युगों से चली आयी सामान्य जन-भाषा से सम्बन्धित माना है। आचार्य हेमचन्द्र का भी लगभग यही मत है। सामान्य जनजीवन में प्रचलित बोलचाल के शब्द ही, देशीनाममाला के सकलन के प्रमुख आधार रहे हैं हेमचन्द्र ने लोक में व्यवहृत और साहित्य में अव्यवहृत शब्दों की ही गणना इस कोषग्रन्थ में की है। ये तो हुए कुछ पूर्वनिश्चित दृष्टिकोण, जो अध्ययन की दिशा का निर्धारण करते हैं; शोध प्रबन्ध की विविध दिशाओं का संक्षिप्त उल्लेख नीचे किया जा रहा है।

पूरा शोध-कार्य दो खण्डों और सात अध्यायों में बाँट कर सम्पन्न किया गया है। प्रथम खण्ड आलोचनात्मक है—जिसमें लगातार चार अध्याय हैं। इन अध्यायों

मे हेमचन्द्र के व्यक्तित्व और कृतित्व, देशीनाममाला के स्वरूप एवं उसके साहित्यिक तथा सांस्कृतिक महत्त्व पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। द्वितीय खण्ड देशीनाममाला के भाषावैज्ञानिक महत्त्व पर प्रकाश डालता है। इसमें निहित तीन अध्यायो (5, 6, 7) में क्रमशः देशी शब्दों का स्वरूप-विवेचन उनका उद्भव तथा विकास, देशी शब्दों का हिंदी तथा उसकी बोलियों में विकास एवं देशी शब्दों का भाषाशास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत किया गया है। एक एक अध्याय में निहित अध्ययन की दिशाओं का उल्लेख इस प्रकार है।

अध्याय 1 — इस अध्याय में आचार्य हेमचन्द्र के व्यक्तित्व और कृतित्व पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। आचार्य हेमचन्द्र का विलक्षण व्यक्तित्व और उनके द्वारा की गयी रचनाओं का विस्तृत कलेवर आश्चर्य में डाल देने वाला है। अकेले हेमचन्द्र इनने विशाल कार्य को पूर्ण कैसे कर सके? इसका रहस्य उनके जीवन-चरित्र से अवगत हुए बिना नहीं जाना जा सकता। हेमचन्द्र को दो महान् हिन्दू राजाओं सिद्धराज जयसिंह और कुमारपाल का सहयोग प्राप्त हुआ था। वे इन दोनों राजाओं के पूज्यगुरु थे, अतः हेमचन्द्र को उनसे समय-समय पर बहुत अधिक सहायता मिलती रही। इन राजाओं के आश्रय में रहने वालों विद्वन्मण्डली ने भी हेमचन्द्र की पर्याप्त सहायता की होगी। ये ही कुछ स्थितियाँ थी जिन्होंने हेमचन्द्र को एक ही जन्म में इतने विशाल ग्रंथों की रचना में सक्षम बनाया। इस अध्याय में आचार्य हेमचन्द्र की जीवनगत परिस्थितियों को केन्द्र में रखकर उनके कृतित्व पर विस्तार से विचार किया गया है। संक्षेप में पूरे अध्याय का अध्ययन तब इस प्रकार है—हेमचन्द्र का जीवनचरित्र विद्याध्ययन और व्यवित्तत्व निर्माण, सिद्धराज जयसिंह से सम्पर्क तथा सिद्ध हैमशब्दानुशासन की रचना की प्रेरणा प्राप्त करना, कुमारपाल से सम्पर्क तथा प्राकृतद्वयाश्रय काव्य की रचना, कुमारपाल तथा उस युग के ख्याति प्राप्त विद्वानों से हेमचन्द्र का सम्पर्क और अन्त में आचार्य हेमचन्द्र की सभी रचनाओं का सक्षिप्त विवरण एवं तिथिक्रम निर्धारण। संक्षेप में प्रथम अध्याय के अध्ययन की यही सीमा है। इस अध्याय में निहित प्रयास लगभग पारस्परिक है। हेमचन्द्र के व्यक्तित्व और कृतित्व से सम्बन्धित पूर्व विद्वानों के प्रयास ही यहाँ निहित अध्ययन के मूल आधार हैं।

अध्याय 2 — यह अध्याय देशीनाममाला के स्वरूप विवेचन से सम्बन्धित है। इस अध्याय में निहित अध्ययनक्रम इस प्रकार है—देशीनाममाला का स्वरूप तथा इसके नामकरण की समस्या एवं उसका निराकरण, देशीनाममाला का रचना काल (वि.स. 1214-15 या 1150 ई.) इसकी मूलप्रतियों का सक्षिप्त उल्लेख, इसकी विषयवस्तु तथा इसके स्वरूप पर विस्तार से विचार, देशीनाममाला की मूलगाथाओं तथा उदाहरण की गाथाओं का महत्त्व प्रकाशन, वृत्ति या टीका भाग पर विस्तृत विचार, उदाहरण की गाथाओं का वर्गीकरण, उनकी सख्या एवं विषयवस्तु के विस्तृत प्रत्याख्यान के साथ-और अन्त में देशीनाममाला के साहित्यिक एवं भाषा-वैज्ञानिक महत्त्व का निदर्शन। संक्षेप में यही द्वितीय अध्याय का प्रतिपाद्य है। इस अध्याय के कुछ तथ्य पूर्व विद्वानों द्वारा प्रतिपादित हैं—जिन्हें ज्यों का त्यों मान लिया गया है। गाथाओं का वर्गीकरण और उनकी सख्या का निर्धारण प्रो. मुरलीधर वेनर्जी का उल्लेख मात्र है। अध्याय के अन्य प्रयास मेरे अपने हैं। स्वरूप

विवेचन के बीच पिशेल द्वारा सम्पादित देशीनाममाला के द्वितीय संस्करण की आधार बनाया गया है ।

अध्याय 3—तीसरा अध्याय देशीनाममाला के साहित्यिक अध्ययन से सम्बन्धित है । देशी शब्दों का प्रयोग दिखाने की दृष्टि से आचार्य हेमचन्द्र ने पूरे कोश में 634 गाथाओं की रचना की है । ये गाथाएँ साहित्यिक सौन्दर्य की दृष्टि से अत्यन्त उच्चकोटि की हैं । इनकी भावतरलता, सरसता एवं काव्यात्मक प्रभावात्मकता अत्यन्त सराहनीय है । इन पद्यों को देखते हुए, आचार्य द्वारा इस ग्रन्थ का, दिया गया रयणावली नाम भी सार्थक लगने लगता है । उदाहरण की इन गाथाओं में ऐहिकतापरक शृंगार, रति-भावना, नख-शिख-चित्रण, रणाङ्गणगतवीरता, प्रकृति के सुन्दर मनमोहक चित्र तथा विविध लोकव्यवहारों एवं उत्सवों का चित्रण हुआ है । हेमचन्द्र की इन गाथाओं की तुलना सभी दृष्टियों से 'हाल' की 'गाहासत्तसई' से की जा सकती है । गाथाओं की संख्या भी 'रयणावली' की सत्तसई ग्रन्थ परम्परा में ला बैठाती है । विषयवस्तु की दृष्टि से 'रयणावली' (देशीनाममाला) की उदाहरण की गाथाओं को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

- (1) लौकिक प्रेम और शृंगार से सम्बन्धित पद्य ।
- (2) कुमारपाल की प्रणप्ति से सम्बन्धित वीर-भावना के उद्-भावक पद्य ।
- (3) विविध लोकाचारों, सामाजिक एवं नैतिक नियमों, देवी-देवताओं तथा भिन्न-भिन्न प्रादेशिक रीति-रिवाजों व अथ विश्वासों से सम्बन्धित पद्य ।

इन तीन वर्गों में बाँटकर देशीनाममाला के साहित्यिक महत्व का प्रतिपादन करने का प्रयास किया गया है । विषय की भलीभाँति स्पष्ट करने के बाद शास्त्रीय दृष्टि से रयणावली के छन्दों उसकी भाषा तथा अलंकार योजना आदि पर भी विचार किया गया है । साहित्यिक दृष्टि से 'देशीनाममाला' के अध्ययन का यह प्रथम प्रयास है । संभवतः इसकी गाथाओं की क्लृप्तता ने विद्वानों को इसके साहित्यिक सौंदर्य से अवगत होने से दूर ही रखा है । देशीनाममाला के पद्यों का अनुवाद सचमुच एक दुःसाध्य कार्य है । इस अध्याय में लगभग 100 पद्यों का अनुवाद दिया गया है । अध्ययन के एक निश्चित दायरे में बंधे होने के कारण, रयणावली के कितने ही सुन्दर पद्यों का समावेश नहीं किया जा सका । यह सविषय के अनुसन्धितों के लिए एक सराहनीय कार्य हो सकता है । शोधकर्त्ता इस कार्य में सलग्न भी हैं । यदि रयणावली के सभी पद्यों का अनुवाद कर दिया जाये तो यह निश्चित ही 'गाहासत्तसई' और 'वज्रालङ्कार' जैसे श्रेष्ठ काव्य-ग्रन्थों की कोटि में रखा जा सकता है । इस अध्याय में निहित अध्ययन का यही निष्कर्ष है ।

अध्याय 4 — इस अध्याय में देशीनाममाला की शब्दावली का सांस्कृतिक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है । देशीनाममाला की शब्दावली का सम्बन्ध युग-युगों से व्यवहृत होती प्राचीन जन-भाषाओं से है । इन शब्दों में पता नहीं कितने प्राचीन सांस्कृतिक प्रतीक छिपे पड़े हैं । इन्हीं प्रतीकों का स्पष्टीकरण इस अध्याय का प्रमुख विषय रहा है । इस अध्याय का अध्ययन क्रम प्रकार है—

- (1) देशीनाममाला का सामाजिक वातावरण—इसके अन्तर्गत सामाजिक एवं पारिवारिक सम्बन्धों, रहन-सहन, रीति-रिवाज, वेश-भूषा व खान-पान, द्यूत-

क्रीडा, घरेलू वस्तुओं, सामाजिक उत्सवों एवं खेलों से सम्बन्धित शब्दों का उल्लेख किया गया है। इस वर्ग के शब्दों के माध्यम से जो सांस्कृतिक चित्र बनता है, वह प्रायः युग-युगों से चली आयी निम्नवर्गीय संस्कृति का चित्र है। स्पष्ट रूप से इसे किसी युग विशेष के समाज से नहीं दर्शित किया जा सकता।

(2) धार्मिक आचार-विचार एवं देवी-देवता—देशीनाममाला में अनेकों ऐसे शब्द हैं जो युग-युगों से चले आये धार्मिक आचार-विचारों, देवी-देवीताओं एवं अंधविश्वासों से सम्बन्धित हैं, इन्हीं शब्दों का विवरणात्मक अध्ययन करने का प्रयास किया गया है।

(3) साहित्य-कला—इसके अन्तर्गत विविध ज्ञान-विज्ञान एवं कला से सम्बन्धित शब्दावली का उल्लेख किया गया है।

(4) ग्रामीण कृषक जीवन से सम्बन्धित शब्दावली—देशीनाममाला के अधिकांश शब्द ग्रामीण कृषक जीवन से सम्बन्धित हैं, इन सभी का उल्लेख स्पष्ट रूप से किया गया है।

(5) राजनीति—इस सन्दर्भ में राजनीति और शासन व्यवस्था से सम्बन्धित शब्दों का विवरण दिया गया है। ऐसे शब्दों के माध्यम से जिस शासन व्यवस्था का चित्र सामने आता है वह प्राचीन भारतीय शासन व्यवस्था है। इसका संवर्ध 11 वीं और 12 वीं सदी के गुजरात से भी जोड़ा जा सकता है।

अन्त में इस अध्ययन का निष्कर्ष यह दिया गया है कि देशीनाममाला के ये शब्द किसी एक युग विशेष की संस्कृति से सम्बद्ध न होकर, युगयुगों से चली आयी ग्रामीण निम्नवर्गीय संस्कृति से सम्बद्ध हैं।

अध्याय 5—इस अध्याय से देशीनाममाला के अध्ययन का दूसरा पक्ष प्रारम्भ होता है। यह अध्याय 'देशी' शब्दों के सैद्धान्तिक विवेचन से सम्बन्धित हैं। सबसे पहले 'देशी' शब्दों के स्वरूप को लेकर विभिन्न विद्वानों द्वारा व्यक्त किये गये मतों का उल्लेख किया गया है। निष्कर्ष रूप में—सभी विद्वानों ने किसी न किसी रूप में 'देशी' शब्दों को युग युगों से चली आयी जन-भाषाओं की सम्पत्ति स्वीकार किया है। ये ही जनभाषाएँ प्राकृत (प्राथमिक प्राकृत या लोक भाषाएँ) नाम से भी अभिहित की जा सकती हैं। देशी शब्दों और प्राकृतों की निकटस्थ स्थिति पर विचार करने की दृष्टि से प्राकृत और देशी शब्दों के सम्बन्ध पर विस्तार से विचार किया गया है। इसी सन्दर्भ में, प्राकृत को छान्दस (वैदिक) भाषा के मूल में स्वीकार किया गया है। प्राकृत का तात्पर्य यहाँ प्रकृत (स्वाभाविक) रूप से उद्भूत होने वाली जनभाषा से है। इसके बाद अपभ्रंश और देशी शब्दों के सम्बन्ध पर विचार कर, यह निष्कर्ष निकाला गया है कि देशी शब्द सामान्य जनभाषा और लोकव्यवहार से सम्बन्धित हैं। जो भाषाएँ लोकजीवन से प्रेरणा लेकर आगे बढ़ी, उनमें तो 'देशी' शब्दों की भरमार है—जैसे—प्राकृत और अपभ्रंश—इसके विपरीत संस्कृत जैसी परिष्कृत साहित्यिक भाषा में लोक अभिव्यक्ति को प्रश्रय न मिलने के कारण 'देशी' शब्दों का व्यवहार बिल्कुल ही नहीं, जो है भी, उसे परिष्कृत कर लिया गया है।

देशीशब्दों के स्वरूप का स्पष्टीकरण कर देने के बाद इन शब्दों को लेकर आचार्य हेमचन्द्र के पूर्व के आचार्यों स्वयं हेमचन्द्र तथा उनके बाद के आचार्यों या भाषावैज्ञानिकों का अभिमत प्रदर्शित किया गया है। निष्कर्ष रूप में सभी ने देशी-

शब्दों को प्रान्तीय जनभाषाओं की शब्द सम्पत्ति स्वीकार किया है। इसके बाद देशी शब्दों के उद्भव और उनके विकास के कारणों का निरूपण किया गया है। देशी शब्दों के उद्भव एवं विकास के दो प्रमुख कारणों (भाषावैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक) का विस्तृत उल्लेख किया गया है, और अन्त में फिर यही निष्कर्ष दिया गया है कि देशी शब्द युग युगों से व्यवहृत होती आयी भारतीय जन भाषाओं से सम्बन्धित हैं। इनका ज्ञान लोकव्यवहार पर आधारित है। इन्हें व्याकरण गत सम्कारों के बन्धन में नहीं बाधा जा सकता।

अध्याय 6—इस अध्याय में देशीनाममाला के लगभग 168 शब्दों का हिन्दी तथा उसकी प्रमुख बोलियों में विकास प्रदर्शित किया गया है। इन सभी शब्दों को आचार्य हेमचन्द्र ने देशी कहा है यहाँ भी इन्हें देशी ही माना गया है। इसका एक कारण है, शब्दों की प्रकृति और उनकी स्थिति का निर्धारण उनके प्रयोग के वातावरण को देखकर किया जाना चाहिए। उनकी ध्वनिगत और पदगत विशेषताओं को देखकर नहीं। इस अध्याय में जितने शब्द आये हैं, उनमें अधिकांश विद्वानों की दृष्टि में तद्भव हो सकते हैं। इस बात का सकेत भी कर दिया गया है परन्तु वातावरण की दृष्टि से ये सभी शब्द देशी लगते हैं। इनका व्यवहार साहित्यिक भाषाओं में न होकर प्रायः लोकभाषाओं में होता देखा जा रहा है। हेमचन्द्र ने भी इन शब्दों का सकल लोकभाषाओं की ही सम्पत्ति मानकर किया था, इसी मान्यता के अनुगम इस अध्याय में कुछ शब्दों का प्रयोग हिन्दी तथा उसकी प्रमुख बोलियों, अवधी ब्रज, भोजपुरी आदि में दिखाया गया है। शब्दों का यह विकास निरूपण यद्यपि पारम्परिक नहीं है, फिर भी शोध को पारम्परिक लीक को तोड़कर जो निष्कर्ष निकाले गये हैं वे भविष्य के अनुसन्धानों को दिशा निर्देश करने में सहायक हो सकते हैं। इसी रीति से देशीनाममाला के सभी शब्द किसी न किसी प्रान्त की लोकभाषा में सर्वाभित किये जा सकते हैं। देशीशब्दों की व्युत्पत्ति ढूँढ़ने के चक्कर में न पड़कर यदि इनके विकास का ज्ञान प्राप्त कर, इनकी प्रकृति का निर्धारण किया जाये तो अत्यन्त महत्वपूर्ण परिणाम सामने आ सकता है।

अध्याय 7—इस अध्याय में देशी शब्दों का भाषाशास्त्रीय अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। पूरे अध्ययन को तीन खण्डों में बाटा गया है—(1) ध्वनिग्राहिक अध्ययन (2) पदग्राहिक अध्ययन (3) अर्थगत अध्ययन। देशीनाममाला के शब्द या तो निविभक्तिक हैं, या फिर प्रथमान्त हैं, अतः इनका रूप-ग्राहिक अध्ययन संभव नहीं था, यही कारण है कि अध्ययन को तीन ही खण्डों तक सीमित रखा गया है प्रत्येक खण्ड का अध्ययन क्रम इस प्रकार है—

(1) ध्वनिग्राहिक अध्ययन—इसके अन्तर्गत देशीनाममाला के शब्दों में व्यवहृत स्वर एवं व्यंजन ध्वनिग्रामों का ऐतिहासिक एवं वर्णनात्मक विवेचन किया गया है। देशीनाममाला में व्यवहृत स्वर ध्वनिग्राम एवं व्यंजन ध्वनिग्राम इस प्रकार हैं

स्वर ध्वनिग्राम—(खण्डीय)—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ। ऋ और ॠ का प्रयोग वित्तुल नहीं है। ऐ और औ का प्रयोग भी अइ और अउ स्वर-संयोगों के ही रूप में मिलता है। प्राप्त स्वर ध्वनिग्रामों का आदि मध्य और अन्त्य स्थितियों में वितरण भी दिखा दिया गया है।

खण्डितर स्वर ध्वनिग्राम—इसके अन्तर्गत अनुस्वार का प्रयोग, विसर्ग का अभाव, सधि का अभाव, स्वर सयोगो की भरमार य श्रुति और व श्रुति का बहुनायत से प्रयोग, स्वराघात या वलाघात का निरूपण आदि बातें प्रमुखतया प्रदर्शित हैं—

व्यंजन ध्वनिग्राम—देशीनाममाला के शब्दों में व्यवहृत व्यंजन ध्वनिग्राम ये हैं

क, ख, ग, घ, (ङ० का सर्वथा अभाव है)

च, छ, ज, झ, (ञ का भी अभाव है)

ट, ठ, ड, ढ, ण तथा ण्ह

त, थ, द, ध, (न का प्रयोग नहीं है) ।

प, फ, ब, भ, म तथा म्ह

य, र, ल, व तथा ल्ह

स, ह,

देशीनाममाला के ये व्यंजन ध्वनिग्राम देशी शब्दों में व्यवहृत होते हुए भी पूर्णतया मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा के ध्वनिग्रामों का ही अनुकरण करते हैं। इन सभी के आदि, मध्य और अन्त्य तीनों ही स्थितियों में प्रयोग का देशीनाममाला से उदाहरण भी दे दिया गया है।

व्यंजन ध्वनिग्रामों का ऐतिहासिक एवं वर्णनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने के बाद व्यंजन-परिवर्तन की विविध दशाओं लोप, आगम, वर्णविपर्यय, समीकरण घोषीकरण महाप्राणीकरण आदि के भी उदाहरण दे दिये गये हैं। अन्त में व्यंजन-सयोगों और सयुक्ताक्षरों की भी विस्तृत चर्चा कर दी गयी है।

(2) **पदग्रामिक अध्ययन**—देशीनाममाला के शब्दों का पदग्रामिक अध्ययन एक अत्यन्त दुरूह कार्य है। इसके अधिकतर शब्द प्रकृति-प्रत्यय निर्धारण प्रक्रिया की पहुँच के बाहर हैं फिर भी ज्ञात व्युत्पत्तिक शब्दों की प्रकृति और उनमें लगने वाले प्रत्ययों का प्रत्याख्यान करने का सभव प्रयास किया गया है। पदग्रामिक अध्ययन की दृष्टि से देशीनाममाला की पदावली तीन वर्गों में बाँटी गयी है सज्ञा, विशेषण तथा क्रियाविशेषण। पूरा पदग्रामिक अध्ययन क्रम इस प्रकार है—

शब्दों का स्वरूप-विवेचन, प्रत्यय-प्रक्रिया, विभक्ति प्रत्यय, निर्विभक्तिक शून्य प्रयोग व्युत्पादक प्रत्यय-व्युत्पादकपूर्वप्रत्यय या उपसर्गों का निरूपण, व्युत्पादक पर प्रत्यय-तद्धित और कृदन्ती प्रयोग। पदग्रामिक विवेचन के इस प्रयास में देशीनाममाला के सभी शब्द नहीं आ सके हैं। सभी शब्दों का विवेचन प्रस्तुत करने में व्याकरणिक अपवादों की भरमार हो जाने की सम्भावना थी। व्युत्पादक प्रत्ययों के बीच लगभग सभी देशी प्रत्ययों का परिगणन कर दिया गया है। देशीनाममाला में अनेकों शब्द ऐसे हैं जिनमें न तो प्रकृति-अक्षर का पता चलता है और न ही प्रत्यय अक्षर का, ऐसे शब्दों का अर्थगत अध्ययन ही, सभव है, ये शब्द विशुद्ध 'देशी' हैं, इनका ज्ञान 'लोकात्' अर्थावधारण मात्र से ही हो सकता है।

(3) **अर्थगत अध्ययन**—देशीनाममाला की शब्दावली का अध्ययन पूर्णतया अर्थविज्ञान का विषय है। इसका ध्वन्यात्मक एवं पदात्मक अध्ययन किसी भी महत्व का नहीं है। आचार्य हेमचन्द्र स्वयं ही इतने समर्थ थे कि, यदि चाहते तो इन शब्दों का प्रकृति-प्रत्यय निर्धारण कर सकते थे, पर उन्होंने इन शब्दों की व्युत्पत्ति पर बल न देकर, मात्र इनके अर्थावधारण पर बल दिया है। देशीनाममाला के शब्दों को

लेकर विद्वानों ने तरह-तरह की आन्त धारणाएँ फैलायी हैं। बुल्हर महोदय ने तो वहाँ तक बल दिया था कि देशीनाममाला के सारे शब्दों को संस्कृत से सर्वाभूत किया जा सकता है। इन्हीं की परम्परा का पालन श्री रामानुजस्वामी ने अपने द्वारा बनायी गयी देशीनाममाला की ग्लासरी में किया है। उन्होंने देशीनाममाला के अनेकों शब्दों की व्युत्पत्तियाँ दी हैं, जो पूर्णतया ध्वनि साम्य पर आधारित हैं। किसी भी शब्द का उसके अर्थ से शाश्वत सम्बन्ध होता है, ध्वनियों से नहीं। रामानुजस्वामी ने ध्वनि साम्य के आधार पर व्युत्पत्तियाँ दे तो दी, पर अर्थ की ओर ध्यान नहीं दिया। इस प्रकार की भ्रामक व्युत्पत्ति वाले लगभग 200 शब्दों का उदाहरण इस अध्याय में दिया गया है और यह प्रतिपादित करने का प्रयास किया गया है कि देशीनाममाला के शब्दों की व्युत्पत्तियाँ ठूँटना व्यर्थ है, अर्थ की दृष्टि में इनका अध्ययन अत्यन्त महत्वपूर्ण हो सकता है। आचार्य हेमचन्द्र ने इन का सकलन भी इसी दृष्टिकोण से किया था।

पुनः देशीनाममाला के कुछ शब्दों को आर्योत्तर भाषाओं की सम्पत्ति बताया गया है। इस मत का भी खण्डन इसी अध्याय में किया गया है। जिन शब्दों को मुन्नी विद्वानों ने दक्षिणी भाषाओं तमिल, तैलुगु, कन्नड आदि की सम्पत्ति बताया है, इन भाषाओं के व्याकरणकार भी इन्हीं देशी ही मानते हैं। ऐसी स्थिति में हेमचन्द्र की मान्यता गलत कहा हुई ? इसी प्रकार देशीनाममाला के अरबी फारसी शब्द-ग्रहण की मान्यता का भी खण्डन किया गया है।

अन्त में देशीनाममाला के शब्दों की प्रकृति का निर्धारण करते हुए पुनः यही निष्कर्ष निकाला गया है कि ये शब्द युग युगों से प्रचलित जनभाषा से सम्बन्धित हैं। इनका अध्ययन किसी भाषा विशेष में ध्वन्यात्मक या पदात्मक तुलना के आधार पर न किया जाकर अर्थ के आधार पर किया जाना चाहिए। देशीनाममाला का अध्ययन पूर्णतया अर्थ-विज्ञान का विषय है।

अस्तु ! मक्षेप में, प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के अध्ययन की ये कुछ दिशाएँ हैं। इनके अन्तर्गत देशीनाममाला से सम्बन्धित अध्ययन के जितने भी पक्ष हो सकते हैं, लगभग सभी को समाहित कर लिया गया है। देशीनाममाला पर समवेत रूप से कोई कार्य न होने के कारण, इसकी शोध दिशाओं का निर्धारण कहीं-कहीं सर्वथा स्वच्छन्द रीति से किया गया है। इस प्रयत्न के बीच अनेकों विद्वानों की धारणाओं का खण्डन करना पड़ा है, आशा है वे मुझे क्षमा करेंगे। देशीनाममाला पर किये जाने वाले शोधकार्य का यह प्रारम्भ मात्र है। यह तो ऐसा ग्रन्थ है, जिसकी जितनी ही गहराई में उतरा जाये, उतनी ही नयी नयी दिशाएँ खुलती जाती हैं।

— शिवमूर्ति शर्मा

आचार्य हेमचन्द्र : व्यक्तित्व एवं कृतित्व

भारत प्राचीन काल से स्वनामधन्य एव स्वसाधनापूत ऋषियो तथा महापुरुषो का देश रहा है । इन महामानवो ने अपनी सतत साधना द्वारा देश की साहित्यिक, सामाजिक और सांस्कृतिक उन्नति मे अभूतपूर्व योग दिया । 12वीं शताब्दी मे एक ऐसे ही महापुरुष का जन्म हुआ जिन्होंने अपने युगान्तकारी और युग सस्थापक व्यक्तित्व के आधार पर तत्कालीन गुजरात के सामाजिक, साहित्यिक एव राजनीतिक इतिहास के निर्माण मे अद्भुत योग दिया । इनकी अप्रतिम प्रतिभा का सम्पर्क प्राप्त कर सम्पन्न परम्पराओ से युक्त गुर्जर धारित्री साहित्य और कला के नवविकसित सुमनो से प्रफुल्लित हो उठी । पाटलिपुत्र कान्यकुब्ज, वलभी, उज्जयिनी आदि की परम्परा मे गुजरात का अणहिलपुर भी साहित्य-कला और संगीत के साथ ही विविध विद्याओ का केन्द्र बना । गुजरात के दो पराक्रमशील राजाओ सिद्धराज जयसिंह और कुमार पाल के संरक्षण मे अणहिलपुर भोज की धारानगरी के वैभव को पहुचने लग गया । अणहिलपुर के इस उत्कर्ष मे इन दो राजाओ के अतिरिक्त वहाँ के विद्वानो का भी बहुत बड़ा हाथ रहा । आचार्य हेमचन्द्र जिन्हे कलिकाल सर्वज्ञ की उपाधि से विभूषित किया गया है, अणहिलपुर के विद्वत्परतनो मे सर्वश्रेष्ठ थे ।

हेमचन्द्र का जीवन-चरित .

स्वर्गीय डा बूलर ने अपने "Life of Hemchandra"¹ नामक ग्रन्थ मे आचार्य हेमचन्द्र के जीवन का आलोचनात्मक विवरण प्रस्तुत किया है । हेमचन्द्र के

1. सिंधी जैन ग्रन्थमाला मे 1889 मे प्रकाशित ।

जीवन का विशद विवेचन करने में डा वूलर ने निम्नलिखित चार ग्रन्थों की सहायता ली है :-

- (1) प्रभाचन्द्र सूरि का प्रभावकचरित-समय 1278 ई० ।
- (2) मैरुतुङ्ग कृत प्रबन्धचिन्तामणि ।
- (3) राजशेखर का प्रबन्ध कोश ।
- (4) जिनमण्डल उपाध्याय का कुमारपाल प्रतिबोध ।

इन विभिन्न ग्रन्थों से सहायता लेने के अतिरिक्त स्वयं हेमचन्द्र द्वारा रचित द्रव्याश्रय काव्य, सिद्धहेमव्याकरण की प्रशस्ति, त्रिषण्टिशलाका पुरुष-चरितान्तर्गत 'महावीरचरित' आदि से भी डा वूलर ने हेमचन्द्र के जीवन के प्रामाण्य एकत्र किये ।

आधुनिक खोजों के आधार पर कुछ और भी ग्रन्थ सामने आये हैं, जिनसे हेमचन्द्र के जीवन पर प्रकाश पड़ता है । इनमें दो ग्रन्थ तो हेमचन्द्र के समकालीन हैं—

- (1) सोमप्रभ सूरि कृत कुमारपाल प्रतिबोध ।
- (2) यशपाल कृत मोहराज पराजय ।
- (3) पुरातनप्रबन्ध संग्रह ।

उपर्युक्त तीन ग्रन्थों में प्रथम दो हेमचन्द्र के समकालीन ग्रन्थ हैं अन्तिम पुरातन प्रबन्धसंग्रह अनेकों विवरणों का एकत्र सलग्न मात्र है ।

ऊपर गिनाये गये ग्रन्थों में सोमप्रभसूरि कृत कुमारपाल प्रतिबोध हेमचन्द्र की समसामयिक रचना होने के कारण उनकी जीवन विषयक प्रामाणिक सामग्री दे सकती थी, परन्तु लेखक स्वयं ही इस बात को स्वीकार करता है कि 'मैंने दोनों (हेमचन्द्र और कुमारपाल) के जीवन से सम्बन्धित वही घटनाएँ ली हैं जिनका सम्बन्ध उनके जैनधर्म स्वीकार करने के बाद के जीवन से है । इस प्रकार यह ग्रन्थ हेमचन्द्र और कुमारपाल के मिलने तथा कुमारपाल के जैनधर्म स्वीकार करने के बाद की ही घटनाओं का उल्लेख करता है । यदि इस ग्रन्थ को आधार बनाकर हेमचन्द्र के जीवन का विवेचन किया जाये तो उनके जीवन की अनेकों महत्वपूर्ण घटनाएँ अन्वकार में रह जायेंगी । इसकी तुलना में प्रभावकचरित इस दृष्टि से अत्यधिक उपयोगी है ।' कुमारपाल प्रतिबोध हेमचन्द्र के जीवन की जितनी घटनाओं का उल्लेख करता भी है सीधे नहीं घुमा फिरा कर करता है । इसके लिये लेखक एक नाटकीय स्थिति की आयोजना करता है—ब्राह्मण धर्म में यज्ञो इत्यादि के बीच भयानक रक्तपात देखकर उसको वास्तविक धर्म न मानते हुए कुमारपाल का वास्तविक धर्म के ज्ञान की जिज्ञासा होती है । यह जिज्ञासा चिन्ता का रूप धारण कर लेती है । जब उसके मंत्री वाहडदेव (वाग्भटदेव) को इस बात का पता चलता है तब वह

राजा के सामने पहुँचकर विनम्रतापूर्वक अपने द्वारा कही जाने वाली कथा को सुनने का आग्रह करता है। उसकी यह कथा हेमचन्द्र के कुमारपाल के सम्पर्क में आने के पहले के जीवन की कथा है। परन्तु यह घटना ऐतिहासिक नहीं प्रतीत होती। हो सकता है कुमारपाल प्रतिबोधकार ने अपनी रचना को कवितापूर्ण बनाने के लिए इस प्रसंग की उद्भावना की हो।

पूरातल्लगच्छ¹ जिससे कि हेमचन्द्र का सम्बन्ध था तक की कथा बताने के बाद मन्त्री बाहड आगे की कथा कहता है—‘एक समय देवाचन्द्राचार्य तीर्थयात्रा हेतु अणहिलपट्टन से घघूका गाव पहुँचे और वहाँ मौढवशियों के वसही जैन मन्दिर में देवदर्शन के लिये पधारे। धार्मिक उपदेशों की समाप्ति के बाद उनके पास एक आठ वर्ष का बालक आया और उसने देवचन्द्राचार्य से प्रार्थना की कि इस ससार-सागर के सतरण हेतु मुझे सुचरित रूपी नाव प्रदान कीजिये। अर्थात् मुझे भी साधु बनने की प्रेरणा दीजिये। देवचन्द्राचार्य बालक की चपलता और उसकी वैराग्यवृत्ति से बहुत अधिक प्रभावित हुए। उन्होंने बच्चे का और उसके पिता का नाम पूछा। इस पर साथ आये हुये बच्चे के मामा नेमि ने बच्चे के बारे में बताना प्रारम्भ किया—

“यहाँ (घघूका में) चाचा (चाचिग) नाम का प्रसिद्ध व्यापारी रहता है। अपने पूर्वजों के धर्म और अपने कुल देवताओं का उपासक है। ‘चाहिणी’ नाम की उसकी पत्नी है जो मेरी बहिन भी है। यह लड़का उसी का पुत्र है। इसके बाद नेमि चाहिणी द्वारा देखे गये स्वप्न का विवरण देते हुए बालक को उसी सत्स्वप्न का परिणाम बताता है। आगे नेमि कहता है—इन दिनों धर्म की बातों के अतिरिक्त बालक का मन और किसी बात में नहीं लगता।²

इस पर गुरु देवचन्द्र बोले—‘यदि बालक को उचित दीक्षा दी जाये तो बहुत अच्छा होगा। हम उसे ले जाकर सभी शास्त्रों के धर्म का ज्ञान कराते हैं। यह तीर्थङ्करो के समान लोक कल्याण करेगा। अतः तुम इसके पिता चाचा (चाचिग) से कहो कि वे इसकी नियमित दीक्षा की आज्ञा दें।²

पिता ने अत्यधिक प्रेम के कारण पुत्र को दीक्षा लेकर घर छोड़ने की आज्ञा नहीं दी परन्तु लड़के ने साधु बनने का निश्चय कर लिया था। मामा के द्वारा प्रोत्साहन मिलने पर उसने घर छोड़ दिया। अपने गुरु के साथ वह खम्भतीर्थ (स्कम्भतीर्थ, खम्भात) आया और वहाँ जैनधर्मानुकूल जीवन प्रारम्भ करने की दीक्षा

1 आचार्य हेमचन्द्र की माता पाहिणीया चाहिणी देवी ने एक अद्भुत स्वप्न देखा था। बालक चङ्गदेव उसी स्वप्न का परिणाम था। इसके आगे की कथा बाहड मन्त्री बताता है।

2 कु. प्र. वो. पृ. 21

ली। दीक्षा के बाद उसका 'सोमचन्द्र' नाम पड़ा। जैनागमों में बताया गया था कि गंधर्वों द्वारा कठिन तप करके बहुत शीघ्र ही उसने समस्त विद्या समुद्र का प्रवगाहन कर लिया। गुरुदेवचन्द्र ने जब सोमचन्द्र में कुछ ऐसे गुण देखे जो हम घोर अनिष्टान में सभी के लिये सम्भव नहीं थे, तो उन्होंने उसे गणधर (आचार्य) पदवी देकर वर्य भिक्षुओं का अगुआ बना दिया। सोमचन्द्र के शरीर का रंग सोने का था अतः उसका नाम हेमचन्द्र पड़ा।¹

हेमचन्द्र विभिन्न प्रान्तों में घूमते रहे। परन्तु उपाम्य देवी के गुर्जर-विषय (गुजरात प्रान्त) छोड़कर न जाने, तथा यह कहने पर कि 'गुजरात में रहकर तुम इसका बहुत हित करोगे' हेमचन्द्र ने अन्य प्रान्तों में आना जाना बन्द कर दिया और गुजरात में ही रहकर लोगों के बीच ज्ञान का प्रकाश फैलाते रहे।¹

कुमारपाल के मंत्री वाहट (वाग्भट) ने अपनी कथा जागी रखी - 'विश्व-प्रसिद्ध विद्वान् शिरोमणि गुजरात का पराक्रमी राजा मिद्वराज जयमिह इन्हीं आचार्यों हेमचन्द्र से अपनी ममस्त शकाओं का निवारण करवाता था। इसके बाद वह हेमचन्द्र के सकेत पर बनवाये गये अणहिलपुर के 'राजविहार' और मिद्वपुर के 'मिद्वविहार' की चर्चा करता है। यही वह यह भी बताता है कि मिद्वराज की ही प्रार्थना पर आचार्य ने मिद्वहैम जैसे महान् व्याकरण ग्रन्थ की रचना की थी। वह कहता है सिद्धराज सदैव इन आचार्यों की स्वर्गिक वाणी सुनने के लिए लालायित रहता था।

'अत यदि आप (कुमारपाल) धर्मों का रहस्य जानना चाहते हैं तो मुनियों में श्रेष्ठ हेमचन्द्र की पत्रित वाणी का श्रवण भक्तिपूर्वक कीजिए।'¹

'कुमारपाल प्रतिबोध' द्वारा दिया गया हेमचन्द्र विषयक यह विवरण यद्यपि सक्षिप्त है फिर भी उनके जीवन की प्रसिद्ध घटनाओं का द्योतन करने में समर्थ है। ग्रन्थ का रचयिता हेमचन्द्र का समसामयिक है अतः उसके द्वारा दी गयी घटनाएँ प्रामाणिक भी हो सकती हैं।

आचार्य हेमचन्द्र के जीवन की प्रमुख घटनाओं की तिथियाँ प्रभावक चरित में मिल जाती हैं। वे तिथियाँ इस प्रकार हैं—

- (1) हेमचन्द्र का जन्म-वि स 1145 (1089 ई) कार्तिक पूर्णिमा।
- (2) दीक्षा ग्रहण-वि स 1150 (1094 ई)
- (3) सूरि या आचार्यपद ग्रहण-वि स 1166 (1110 ई) (प्र. च—
पृ 347, 848, 849)

जहा तक हेमचन्द्र के जन्म का प्रश्न है, प्रत्येक ग्रन्थ मे तिथिया लगभग समान ही हैं । दीक्षा के सम्बन्ध मे दी गयी तिथियो मे मतभेद है । जैनशास्त्रो मे यह निर्देश है कि बिना 8 वर्ष की अवस्था पूर्ण किये कोई भी जैन धर्म मे दीक्षित नही हो सकता । प्रभावकचरित, पुरातनप्रबन्ध सग्रह तथा प्रबन्ध कोश के अनुसार दीक्षा के समय हेमचन्द्र लगभग 8 वर्ष के थे । परन्तु कुमारपाल प्रतिबोध के अनुसार इनकी दीक्षा वि स 1154 (1098)¹ मे हुई । यह तिथि ठीक भी लगती है । गुरु देवचन्द्र सूरि का धन्वू का आगमन वि स 1150 (1194 ई) मे हुआ था । अब मे लेकर हेमचन्द्र के पिता से आज्ञा प्राप्त करने के बीच कुछ समय अवश्य लगा होगा । प्रभावकचरित के अनुसार घर से निकलने के बाद हेमचन्द्र का पालन पोषण खम्भात के एक अधिकारी उदयन के यहा हुआ था । इसी उदयन ने हेमचन्द्र के पिता को तीन लाख रुपये देकर खुश भी करना चाहा था । हेमचन्द्र के पिता के रुपया न स्वीकार करने तथा पुत्र की दीक्षा के लिए आज्ञा दे देने की घटना वि. स 1154 (सन् 1098) मे हुई थी । अत हेमचन्द्र का यही दीक्षा काल प्रामाणिक है ।

जहा तक 'सूरिपद' प्राप्त करने का प्रश्न है, सभी ग्रन्थ एक मत हैं । प्रभावक चरित मे यह तिथि वि. स 1166 (सन् 1110 दी गयी है यही तिथि कुमारपाल-प्रबन्ध² की भी है । इस प्रकार आचार्य हेमचन्द्र ने 8 वर्ष की अवस्था मे जैन धर्म की दीक्षा ली और 21 वर्ष की अवस्था मे 'सूरिपद' प्राप्त किया ।

विद्याध्ययन और व्यक्तित्व निर्माण

आचार्य हेमचन्द्र के जीवन से सम्बन्धित प्रमुख घटनाओं की तिथियो के अतिरिक्त उनके व्यक्तित्व निर्माण और शिक्षा दीक्षा सम्बन्धी बातों का विवरण भी विभिन्न ग्रन्थो मे प्राप्त हो जाता है । कुमारपाल प्रतिबोध के अनुसार गुरुदेवचन्द्रसूरि ने बालक चङ्गदेव के मामा 'नेमि' से कहा कि दीक्षा प्राप्त करने के बाद बालक बहुत थोड़े ही समय मे शास्त्रो के तथ्य से अवगत हो जायेगा । हुआ भी कुछ इसी प्रकार । चङ्गदेव ने बहुत शीघ्र ही सभी विद्याओं के समुद्र को पार कर लिया । आचार्य-पद प्राप्त करने के बाद वे विभिन्न प्रान्तो मे घूमते रहे परन्तु बाद मे वे गुजरात से कभी बाहर नही गये । 'हेमचन्द्र के विद्याध्ययन के बारे मे केवल इतना ही उल्लेख कुमारपाल प्रतिबोध मे मिलता है ।

अपने विद्याध्ययन का सारा श्रेय हेमचन्द्र अपने गुरु देवचन्द्र सूरि को देते

1. कु प्र बो पृ. 12

2. वही, पृ 13

हैं। 'त्रिपष्टिशलाका पुरुषचरित' की प्रशस्ति में वे इस बात को स्वीकार भी करते हैं—

'तत्प्रसादादधिगतज्ञान सम्पन्न महोदयः।¹ परन्तु उन्होंने किन प्रकार गुरु में विद्या सीखी इसका कोई उल्लेख नहीं किया अतः उस सन्दर्भ में उनकी यह स्वीकारोक्ति कोई महत्त्व नहीं रखती।

आचार्य हेमचन्द्र के ज्ञानार्जन और व्यक्तित्व निर्माण का कुछ विस्तृत उल्लेख प्रभावकचरित में प्राप्त होता है—'सोमचन्द्र ने शीघ्र ही तर्क-लक्षण और साहित्य में अधिकार प्राप्त कर लिया। परन्तु कुछ हजार पदों को कण्ठस्थ मात्र कर लेने में सोमचन्द्र को मतोष नहीं मिला अतः अपने गुरु से विद्या प्राप्ति के लिए 'काश्मीर-देववासिनी' देवी को जाकर प्रसन्न करने की आज्ञा मांगी। वे ताम्रलिप्ति (खम्भात) से चले और रात बिताने के लिए 'श्रीरैवतावतार' नामक एक जैन मन्दिर में रुके। अर्धरात्रि के समय जब वे ध्यानावस्था में बैठे थे, ब्राह्मी देवी प्रकट हुई और उन्हें काश्मीर जाने का कण्ट उठाने में रोक दिया क्योंकि सोमचन्द्र की साधना में वे अत्यन्त प्रसन्न थी। ब्राह्मी देवी ने उन्हें इच्छित फल प्रदान करने का वचन दिया। सारी रात ब्राह्मी देवी की प्रशंसात्मक स्तुति में बिताकर सोमचन्द्र मुगह अपने स्थान को वापस लौट आये। 'इसके बाद से ही वे' मिद्ध सारस्वत ('अनायाम मिद्धमारस्वत भी) कहे जाने लगे।'² 'इसके बाद ही उन्होंने सूरि पद प्राप्त किया।'³

'कुमारपालप्रबन्ध' के रचयिता जिनमण्डल उपर्युक्त घटना से ही मिलती-जुलती एक अत्यन्त रहस्यात्मक घटना का उल्लेख करते हैं।

अब देखना यह है कि इन कथाओं में वास्तविक तथ्य कहा है। सोमचन्द्र के गुरु देवचन्द्र सूरि निश्चित रूप से एक उद्भट विद्वान् थे परन्तु प्रश्न यह है कि आचार्य हेमचन्द्र ने अध्ययन की जिन विभिन्न शाखाओं का पाण्डित्यपूर्ण प्रदर्शन अपनी रचनाओं में किया है क्या इतना सारा ज्ञान अकेले देवचन्द्र उन्हें दे सके थे? इस प्रश्न का समाधान अत्यन्त सरल है। यदि हम हेमचन्द्र के जीवन काल के गुजरात के इतिहास को देखें तो बात अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है। हेमचन्द्र खम्भात में रहते थे। उस समय खम्भात एक सुन्दर बन्दरगाह होने के कारण व्यापार का केन्द्र तो था ही साथ ही समृद्ध होने के कारण-साहित्य और कला के क्षेत्र में भी अद्वितीय था। वहाँ अनेको उद्भट विद्वान् अध्ययन और अध्यापन में रत थे। आचार्य हेमचन्द्र

1 त्रि पु च श्लोक सख्या 15

2 प्रभावकचरित-श्लोक सख्या, 37-46

3 वही, श्लोक सख्या, 48-59

ने इन सभी से प्रेरणा ग्रहण की। अणहिलपुर आने पर तो निश्चित ही वे बहुत बड़े-बड़े विद्वानों के सम्पर्क में आये।

‘प्रभावकचरित’ का हेमचन्द्र से सम्बन्धित काश्मीर यात्रा प्रसंग भी उनकी अध्ययनशीलता और जिज्ञासा का परिचायक है। उन दिनों काश्मीर विद्याध्ययन का बहुत बड़ा केन्द्र था अतः हेमचन्द्र वहाँ अध्ययन करने के लिए जाना चाहते थे। परन्तु यात्रा में अनेको कठिनाइयाँ होने के कारण वे काश्मीर जाने से रोक दिये गये। उनके काश्मीर जाने का एकमात्र उद्देश्य अध्ययन ही था इस बात की पुष्टि काश्मीर देशवामिनी देवी (सरस्वती) के उल्लेख से ही हो जाती है। काश्मीर स्थित सरस्वती का मंदिर उस समय विविध दिशाओं से आये हुए विद्वान् पण्डितों का केन्द्र था। इन्हीं पण्डितों के सम्पर्क में रहकर ज्ञानवृद्धि करना हेमचन्द्र का प्रमुख उद्देश्य था। जब इन पण्डितों के सम्पर्क में जाकर अध्ययन करना सम्भव न हुआ तो गुजरात में ही स्थित काश्मीरी पण्डितों से हेमचन्द्र ने बहुत कुछ सीखा होगा। ऐतिहासिक प्रमाण यह सिद्ध करते हैं कि सिद्धराज जयसिंह के दरबार में उस समय अनेको उद्भट विद्वान् रहते थे। बिल्हण के एक उल्लेख से विदित होता है कि उस समय जयसिंह के दरबार में अनेको काश्मीरी पण्डित भी थे। उनमें ‘उत्साह’ नाम के पण्डित सर्वप्रसिद्ध थे। ये वैयाकरण थे। सिद्धहैम शब्दानुशासन की रचना के पहले इन्हीं ‘उत्साह’ पण्डित के हाथ ही काश्मीर के विभिन्न पुस्तकालयों से व्याकरण के आठ प्रसिद्ध ग्रन्थ हेमचन्द्र को प्राप्त हुए थे।

आचार्य हेमचन्द्र सिद्धराज जयसिंह के समकालीन हैं सिद्धराज जयसिंह विद्वानों का बहुत अधिक आदर करने वाला राजा था। धारानगरी के शासक भोज के दरबार की विद्वता की कहानियाँ आज भी चलती हैं। ऐसे ही विद्वानों का जमघट जयसिंह के दरबार में भी था। उस समय विद्या की कोई ऐसी शाखा नहीं थी जिसका प्रचार गुजरात में न रहा हो। आचार्य हेमचन्द्र ने इन विद्वानों के सम्पर्क में रह कर बहुत कुछ सीखा था।

सिद्धराज जयसिंह के विद्वतापूर्ण दरबार का उल्लेख रसिकलाल सी पारिख ने ‘काव्यानुशासन’ की भूमिका में किया है।¹

1. ‘Tarka Sahitya and lakshana logic and the art of dilectics, literature and poetries Grammar and the philosophy of language were the subjects practiced by the cultured citizens of Anhillapura and proficiency in these subjects was a pass post to the Royal Courts and the assemblies of the learned the

(Contd.)

पारिसजी के विवेचन में स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य हेमचन्द्र के चारों तरफ उद्भट विद्वानों की एक शृंखला थी। उन्होंने ऐसे वातावरण के प्रभाव के कारण ही व्याकरण,—साहित्य,—प्रमाण—शास्त्र, काव्य, छन्द शास्त्र आदि लगभग काव्य तथा भाषा सम्बन्धी साहित्य के सभी अंगों पर कार्य किया। यदि उन्हें स्वस्थ साहित्यिक परम्परा का वातावरण न मिला होता तो शायद वे इतने विपुल और विविधात्मक ज्ञान—विज्ञान पूर्ण ग्रन्थों का निर्माण न कर पाते।

हेमचन्द्रसूरि और सिद्धराज जयसिंह ।

पिता का घर छोड़ कर बालक चङ्गदेव गुरु के आदेशानुसार गम्भान के एक अधिकारी उदयन मन्त्री के यहाँ रहने लगा था। वही मन्त्री पुत्र वाट्ट (वाग्भट) के साथ ही उसके अध्ययन अध्यापन का प्रबन्ध हुआ। यह बात पढ़ने ही बतायी जा चुकी है। 'सूरि' पद प्राप्त करने के बाद हेमचन्द्र अणहिल्लपुर गये।¹ यहाँ दो प्रश्न अपने आप ही उठ खड़े होते हैं—क्या हेमचन्द्र पहली बार अणहिल्लपुर गये या पहले गये थे? दूसरी बात वे सूरिपद प्राप्त करने के कितने दिन बाद अणहिल्लपुर गये? इन दोनों ही प्रश्नों का कोई समाधान प्राप्त नहीं होता।

आचार्य हेमचन्द्र और सिद्धराज जयसिंह से प्रथम भेंट की कथा प्रभावक चरित में इस प्रकार वर्णित है—'एक दिन सिद्धराज जयसिंह अपने हाथी पर बैठ कर नगर भ्रमण के लिए निकले। जाते समय एक दुकान के सामने उन्हें हेमचन्द्र दियायी पड़े। उन्होंने हाथी रोककर उनसे कुछ कहने का आग्रह किया। इस पर हेमचन्द्र ने एक श्लोक पढ़ा—

chaityas and the Mathas of the different sects in fact were the academics and the colleges where these subjects were discussed and taught. We referred to the great dialectician Santisuri who had thirty two students studying under him Pramana-sastra which included the Buddhist logic, whose categories were difficult to grasp. This atmosphere of learning of public debates and of literary criticism as also of literary compositions was a significant feature of the times which became more and more marked with the spread of political power of Anahillapura.... It was in this intellectual milieu that Hemchandra the greatest intellectual of the age lived and did his work. He must have received immense benefit and impetus from such an environment but he must have also found it very difficult to shine out amongst such a galaxy of learned men."

‘कारय प्रसर सिद्धहस्तिराजमशङ्कितम् ।

वस्यन्तु दिग्गजा किं तैर्भूस्त्वयैवोद्धृता यत ॥

‘हे सिद्धराज ! अपने गजराज को नि शक होकर आगे बढ़ने दो । इसके भय से दिशाओ के दिग्गज भयभीत होकर कापते हैं तो कापे—पृथ्वी की कोई हानि नहीं होगी क्योंकि उसका भार तुम्हारे कन्धो पर है (दिग्गजों के नहीं) । बुद्धिमान राजा हेमचन्द्र की इस प्रशस्ति से बहुत अधिक प्रभावित हुआ और उसने दोपहर के बाद मिलने के लिए हेमचन्द्र को आमन्त्रित किया ।’¹

इस प्रकार प्रभावकचरित के अनुसार युग के दो महान् व्यक्तित्व—एक राजा दूसरा सूरिपद प्राप्त अद्भुत विद्वान् साधु, दोनों आपस में मिले और दोनों में शीघ्र घनिष्टता भी हो गयी । इन दो महान् व्यक्तियों के मिलन का बहुत ही अच्छा परिणाम हुआ ।

प्रभावकचरित के अनुसार हेमचन्द्र और सिद्धराज की दूसरी भेंट तब हुई जब मालवा विजय के उपलक्ष्य में भिन्न-भिन्न मतावलम्बी सभी लोग राजा को साधु-वाद देने गये । हेमचन्द्र जैन धर्म के प्रतिनिधि के रूप में गये और उन्होंने सिद्धराज की प्रशस्ति में निम्न पक्तियाँ पढ़ी—

भूमि कामगवि । स्वगोमयरसैरासिञ्च रत्नाकरा ।

मुक्तास्वस्तिकमातनुध्वमुडुप । त्व पूर्णं कुम्भीभव ।

घृत्वाकल्पतरोर्दलानि सरलैर्दिग्वारणस्तोरणा-

न्याघत्तस्वकरैर्विजित्य जगती नन्वेति सिद्धाधिप ॥

इन पक्तियों ने राजा को और भी अधिक प्रभावित किया और उसने दोबारा आचार्य को, मिलने के लिए अपने महल में बुलाया ।²

सिद्धराज जयसिंह से हेमचन्द्र की यह भेंट वि स 1191 के अन्तिम माह या 1292 के प्रथम माह (1136 ई.) में हुई होगी ।

आचार्य हेमचन्द्र और सिद्धराज जयसिंह की मित्रता का प्रथम साहित्यिक परिणाम ‘सिद्ध हेमशब्दानुशासन’ के रूप में प्रकट हुआ । यह व्याकरण का अद्भुत ग्रन्थरत्न है । इस ग्रन्थ की समाप्ति पर हेमचन्द्र ने स्वयं ही इसकी रचना का कारण-सिद्धराज के द्वारा बार-बार की गयी प्रार्थना बताया है । परम्परा में प्राप्त अन्य व्याकरण ग्रन्थ बहुत विस्तृत, समझने में कठिन तथा अधूरे हैं । इन सभी कमियों

1 प्र. च. बो , 65-69

2 वही, 70-73

को ध्यान में रखते हुए "मिद्धहेमचन्द्रानुशासन" की रचना मग्न गुप्तोप व्याकरण ग्रन्थ के रूप में की गयी है। इस ग्रन्थ की प्रशस्ति को देखने में पता चलता है कि इसकी रचना सिद्धराज की मालवा विजय के बाद हुई थी। यह हो सकता है कि मालवा विजय के लिए प्रस्थान करने के पहले ही मिद्धराज ने हेमचन्द्र से इस ग्रन्थ की रचना करने की प्रार्थना की हो और उसके लौटने तक ग्रन्थ तैयार हो गया हो।

प्रभावकचरित में इस ग्रन्थ की रचना में सम्बन्धित एक ग्रन्थन विस्तृत विवरण दिया गया है जो सम्भवतः ठीक ही लगता है क्योंकि यह विवरण स्वयं हेमचन्द्र के द्वारा दिये गये कारणों का पूरक माना जा सकता है। इसका हेमचन्द्र से कोई विरोध नहीं है।

प्रभावक चरित का विवरण इस प्रकार है—

'एक बार सिद्धराज के राज्यकर्मचारी उसे 'अग्रन्ति' के पुस्तकालय में लायी गयी पुस्तकें दिखा रहे थे। सिद्धराज की दृष्टि एक 'लक्षणा पुस्तक' (व्याकरण ग्रन्थ) पर पड़ी। सिद्धराज के पूछने पर कि यह क्या है? हेमचन्द्र ने बताया कि महाराज! यह राजाभोज द्वारा लिखा गया व्याकरण ग्रन्थ है। यह इस समय का सबसे अधिक पढ़ा जाने वाला व्याकरण ग्रन्थ है। इसके रचयिता भोज विद्वानों के शिरोभूषण थे। उनका दरबार देश के श्रेष्ठ विद्वानों से मुशोभित था। स्वयं उन्होंने शब्दशास्त्र, अलंकारशास्त्र, दैवज्ञशास्त्र (ज्योतिष) और तर्कशास्त्र तथा अन्यान्य ग्रन्थों की रचना की थी। इस प्रकार हेमचन्द्र ने भोज के द्वारा रचित अनेकों ग्रन्थों का उल्लेख जारी रखा।'¹

राजा भोज की साहित्यिक समृद्धि से मिद्धराज को स्वाभाविक ईर्ष्या हुई। उन्होंने आचार्य हेमचन्द्र से पूछा, क्या इस प्रकार हमारे यहां ज्ञान-विज्ञान के ग्रन्थ नहीं लिखे जा सकते? क्या इसी तरह के विद्वान सारे गुजरात देश में नहीं बनाये जा सकते? सभा के सारे आदमियों ने एक साथ हेमचन्द्र की ओर देखा। इसके बाद स्वयं राजा ने भी हेमचन्द्र से प्रार्थना की, हे महर्षि! मेरी अभिलाषा पूर्ण कीजिए। ऐसे वैज्ञानिक ग्रन्थ का निर्माण कीजिये जिससे भाषा सुकरता से सीखी जा सके। इस समय व्यवहार में आने वाला 'कलापक' व्याकरण भाषाज्ञान कराने में समर्थ नहीं है। पाणिनि का व्याकरण भी वैदिक होने तथा अनेकों अपवादों एवं सीमित भाषाओं का ज्ञापक होने से सर्वजन लभ्य नहीं है।

अतः हे मुनियो मे श्रेष्ठ मुनि ! आप एक ऐसे व्याकरण ग्रन्थ की रचना कीजिए जो सभी प्रकार के लोगो को लाभ पहुँचा सके ।

प्रभावकचरित द्वारा वर्णित यह 'अभ्यर्थना' यद्यपि कवित्वपूर्ण है फिर भी तथ्यों से दूर नहीं कही जा सकती । आचार्य हेमचन्द्र का शब्दानुशासन निश्चित ही परम्परा में लिखे गये एकांगी व्याकरणों में अद्वितीय है । सस्कृत-प्राकृत और अपभ्रंश तीनों भाषाओं के व्याकरण का एकत्र समाहार सिद्धराज की अभ्यर्थना का फल भले ही न माना जाय परन्तु इस अवसर की ऐतिहासिकता में सन्देह करना बिल्कुल गलत होगा । उज्जयिनी की विद्वत्परम्परा का प्रतिस्पर्द्धी सिद्धराज जयसिंह यदि इस प्रकार के ग्रन्थ का निर्माण करवाकर भोज के समान या उससे भी बढ कर यशःकीर्ति पाना चाहे तो यह भी असंभव नहीं । अस्तु प्रभावकचरित द्वारा दिया गया यह विवरण ऐतिहासिक माना जाना चाहिए ।

सिद्धराज की इस अभ्यर्थना को सुनकर आचार्य बोले 'आपके द्वारा इच्छित कार्य की पूर्ति हमारा अपना कर्त्तव्य भी है । काश्मीर देश में स्थित 'श्री भारतीदेवी' के पुस्तकालय में आठ व्याकरण के ग्रन्थ हैं । उन्हें अपने आदिमियों द्वारा मगवा लीजिये । इनकी सहायता से भाषा का व्याकरण वैज्ञानिक रीति से तथा सुकरतापूर्वक लिखा जा सकेगा ।'¹

उपर्युक्त विवरण कुछ नवीन तथ्यों पर प्रकाश डालता है । एक तो इससे हेमचन्द्र की काश्मीर यात्रा का कारण मालूम हो जाता है, दूसरे यह भी ध्वनित होता है कि आचार्य हेमचन्द्र की व्याकरण के ग्रन्थनिर्माण में पहले ही से रुचि थी परन्तु उसके लिये अध्ययन की आवश्यक सामग्री न होने से वे इस कार्य को न कर सके होंगे । सिद्धराज जयसिंह के सहयोग से उन्हें पूर्व वैयाकरणों की आठो पुस्तकें मिली और उन्होंने इन ग्रन्थों की कमियों को ध्यान में रखते हुए एक सर्वथा नवीन व्याकरण ग्रन्थ का निर्माण कर दिया । सिद्ध हैमशब्दानुशासन का सस्कृत व्याकरण से सम्बन्धित भाग सराहनीय होते हुए भी पूर्ववैयाकरणों का अनुसरण कहा जा सकता है । परन्तु इसका प्राकृत व्याकरण से सम्बन्धित भाग, अपभ्रंश व्याकरण, लिङ्गानुशासन आदि सर्वथा नवीन और प्रशंसनीय हैं । भाषाशास्त्र के विभिन्न अंगों का जितना साङ्गोपाङ्ग विवेचन आचार्य हेमचन्द्र ने इस एक ही ग्रन्थ और उसके परिशिष्टों (लिङ्गानुशासन) आदि को मिलाकर कर दिया, इसके पहले कोई भी वैयाकरण ऐसा करने का साहस न कर सका था ।

काश्मीर प्रदेश के आठ व्याकरणों के मगाने की बात को लेकर पिछले जैसे कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने आचार्य हेमचन्द्र की मौलिकता पर आक्षेप करना चाहा है। उनका यह आक्षेप हेमचन्द्र द्वारा लिखे गये मस्कृत व्याकरण पर भले ही लागू हो, परन्तु इसी व्याकरण के अगभूत प्राकृत-व्याकरण, अपभ्रंश-व्याकरण, धातुपाठ, गणपाठ, उणादि सूत्र, लिगानुशासन देशीशब्दसंग्रह, पर्यायवाची शब्दों का संग्रह (अभिवान चिन्तामणि) आदि इस बात को स्पष्ट कर देते हैं कि आचार्य हेमचन्द्र व्याकरण शास्त्र के अद्वितीय ज्ञाता थे। भाषा के विभिन्न अंगों का इस भाति एकत्र विवेचन परम्परा में किसी आचार्य ने नहीं किया है।

प्रभावक चरित में आगे की घटनायें भी उल्लिखित हैं।

‘हेमचन्द्र ने काश्मीर देश से लाये गये आठों व्याकरण के ग्रन्थों का मली-भाति अध्ययन कर एक आश्चर्यजनक एवं सर्वथा नवीन व्याकरण ग्रंथ की रचना कर दी, जिसका नाम ‘सिद्ध हेमचन्द्रशब्दानुशासन’¹ रखा गया। सभी व्याकरण के ग्रन्थों में इसे श्रेष्ठ माना गया। उस युग के पण्डितों ने भी इसे व्याकरण का अधिकारी ग्रंथ स्वीकार किया।’²

इस व्याकरण के प्रत्येक पद के अन्त में उन्होंने चालुक्यवर्णीय नरेशों की प्रशंसा में एक-एक श्लोक लिखा। पूरे ग्रन्थ की कई प्रतियाँ बनाकर भारत के प्रत्येक प्रदेश में भेजी गयीं। बीस प्रतियाँ काश्मीर देश भी भेजी गयीं जिन्हें ‘वाग्देवी’ (मरस्वती) ने बड़े सम्मान के साथ अपने पुस्तकालय में रखा।³ काश्मीर से लाये गये आठ व्याकरण ग्रन्थों का मुष्टु ज्ञान रखने वाले एक कायस्थ विद्वान को हेमचन्द्रानुशासन के अध्यापन का भार राज्य की ओर से सौंपा गया। प्रत्येक मास के शुक्ल पक्ष की पचमी को इससे सम्बन्धित परीक्षाएँ ली जाती थीं। इन परीक्षाओं में सफल होने वाले विद्यार्थी राजा की ओर से सम्मानित किये जाते थे।⁴

अपने व्याकरण की इस प्रशस्ति ने हेमचन्द्र को बहुत अधिक उत्साहित किया और उन्होंने और भी कई ग्रन्थ लिखे। इनमें कोशग्रन्थ काव्य के अंगों के विवेचक-ग्रन्थ तथा छन्द आदि से सम्बन्धित ग्रन्थ सम्मिलित किये जा सकते हैं। इनका विस्तृत विवेचन हेमचन्द्र की रचनाओं के विवेचन के सन्दर्भ में किया जायेगा।

1 प्र च., श्लोक 96

2 वही, 98-100

3 वही, 101-111

4 वही, 112-115

प्रभावकचरित का उपर्युक्त विवेचन जयसिंह और हेमचन्द्र के माहित्यिक सम्बन्धों को स्पष्ट करने के लिये पर्याप्त है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि हेमचन्द्र का भाषाविद् व्यक्तित्व बहुत कुछ जयसिंह के सम्पर्क और सहयोग से निर्मित है। आचार्य हेमचन्द्र केवल बौद्धिक ही नहीं एक उच्चकोटि के नीतिज्ञ एवं धार्मिक भी थे। नीति और धर्म के क्षेत्र में भी जयसिंह आचार्य हेमचन्द्र से बहुत अधिक प्रभावित थे। इस आशय के विवरण प्रभावक चरित, कुमारपाल प्रवच तथा हेमचन्द्र और जयसिंह से सम्बन्धित अन्य प्रवचनों में प्राप्त हो जाते हैं। यहाँ सभी का उल्लेख न कर ऐसी ही एक घटना का उल्लेख समीचीन होगा—

मुक्ति प्राप्त करने की इच्छा से एक बार जयसिंह ने विभिन्न धर्मों के ज्ञाताओं से ईश्वर, धर्म और मुक्ति का पात्र कौन हो सकता है आदि प्रश्न अपनी शका के रूप में सामने रखे। प्रत्येक धर्म के पण्डितों ने अपनी धार्मिक मान्यताओं के अनुसार इन तत्त्वों की व्याख्या की। जयसिंह किसी भी की व्याख्या से सतुष्ट न हो सके। उन्होंने हार-थक कर आचार्य हेमचन्द्र की शरण ली। आचार्य ने उन्हें एक पौराणिक कथा सुनायी—

“शेखपुर में शाम्ब नामक एक सेठ और यशोमति नाम की उसकी स्त्री रहती थी। पति ने अपनी पत्नी से अप्रसन्न होकर एक दूसरी स्त्री से विवाह कर लिया। अब वह नवोढा के वश में होकर बेचारी यशोमति को फूटी आखों से देखना भी बुरा समझने लगा। यशोमति को अपने पति के इस व्यवहार से बड़ा कष्ट हुआ और वह प्रतिकार का उपाय सोचने लगी।

एक बार कोई कलाकार गौड देश से आया। यशोमति ने पूर्ण श्रद्धा भक्ति में उसकी सेवा की, और उससे एक ऐसी औषधि ले ली, जिसके द्वारा पुरुष पशु बन सकता था। यशोमति ने आवेशवश एक दिन भोजन में मिलाकर उक्त औषधि को अपने पति को खिला दिया, जिससे वह तत्काल बैल बन गया। अब उसे अपने इस अधूरे ज्ञान पर बड़ा दुःख हुआ और वह सोचने लगी कि बैल को पुरुष किस प्रकार बनावे। लज्जित और दुःखित वह जंगल में पास वाली भूमि में एक वृक्ष के नीचे बैल रूपी पति को घास चराया करती थी और बैठी-बैठी विलाप करती रहती थी। दैवयोग से एक दिन शिव और पार्वती विमान पर बैठे हुए आकाश मार्ग से जा रहे थे। पार्वती ने उसका कर्ण विलाप सुनकर शकर भगवान से पूछा स्वामिन! इसके दुःख का कारण क्या है? शकर ने पार्वती का समाधान किया और कहा कि—इस वृक्ष की छाया में ही इस प्रकार की औषधि विद्यमान है जिसके सेवन से यह पुनः पुरुष बन सकता है। इस सवाद को यशोमति ने भी सुन लिया। उसने तत्काल ही

उस छाया को रेखांकित कर लिया और उसके मध्यवर्ती तमाम धाम के अकुरों को तोड़-तोड़ कर वेल के मुग में डाल दिया। घास के साथ श्रीपधि के चने जाने पर वेल पुन पुरुष बन गया।

इस प्रकार आचार्य ने आख्यान का उपसंहार करते हुए कहा— “गजन्, 1 जिस प्रकार नाना प्रकार की घासों के मिल जाने से श्रीपधि की पहिचान नहीं हो सकी, उसी प्रकार इस युग में कई धर्मों के प्रचलन से सत्य धर्म निरोधन हो रहा है। परन्तु समस्त धर्मों के सेवन से उभ दिव्य श्रीपधि की प्राप्ति के समान पुष्प को कभी न कभी शुद्ध धर्म की प्राप्ति हो ही जाती है। जीव-दया, सत्य-अचीय ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के सेवन से, बिना किसी विरोध के, समस्त धर्मों का आगमन हो जाता है।” 1

इस कथा के आधार पर आचार्य हेमचन्द्र का एक सर्वथा नवीन धार्मिक दृष्टिकोण सामने आता है। जैन धर्म के अनुयायी होते हुए भी उन्हें किसी धर्म में विद्वेष नहीं था। प्राणिमात्र को वे धर्म की सीमा से ऊपर मानते थे। मानवहित सम्बन्धी सभी बातें उन्हें मान्य हैं, भले उनका उल्लेख जैन धर्म में न हो। इस प्रकार सर्वधर्म समन्वय की भावना ने आचार्य हेमचन्द्र को और भी उच्चामन पर बैठा दिया था। धर्म के प्रति उनका यह उदारतापूर्ण दृष्टिकोण कई स्थलों पर स्पष्ट हुआ है। सोमनाथ पट्टन में उनके द्वारा की गयी शिव की प्रार्थना उनके इसी दृष्टिकोण का परिणाम कही जा सकती है। उन्होंने अपने “द्वयाश्रय काव्य” 2 में भी कहा है कि “जिन” का दर्शन अर्हत्, शिव, विष्णु और ब्रह्मा सभी में किया जा सकता है। आचार्य हेमचन्द्र के ही समान उनके पूर्व के कुछ जैन आचार्यों का भी धर्म के प्रति उदारवादी दृष्टिकोण है। चालुक्यवर्णी भीम प्रथम के समकालीन कवि ज्ञानदेव “शिव ही जिन हैं” ऐसा कहकर अपना उदार दृष्टिकोण प्रकट करते हैं। उनके अनुसार शिव और जैन में भेद करना मिथ्यामति मात्र है। इसी प्रकार सोमेश्वर 3 नाम के जैन विद्वान् भी ऐसी ही दृष्टि रखते हैं। आचार्य हेमचन्द्र का यह विलक्षण धार्मिक दृष्टिकोण उनकी रचनाओं में भी देखा जा सकता है। संस्कृत द्वयाश्रय काव्य का समस्त वातावरण सनातनी है तथा प्राकृत द्वयाश्रय काव्य जैन धर्म का गुणगान करता है। इसी प्रकार अन्य कृतियों में भी उनके उदार धार्मिक दृष्टिकोण को परिलक्षित किया जा सकता है। आचार्य का सम्पूर्ण जीवनकाल भी धार्मिक समन्वय ही

1 प्रभावक चरित पृ 70

2 द्वया का, प्रथम अध्याय, श्लोक 79

3 सुरथोत्सव के रचयिता तथा भत्री वस्तुपाल के मित्र।

कहा जाना चाहिए । वे जिस परिवार के सदस्य थे उस परिवार में भी भिन्न-भिन्न धर्मों को मानने वाले लोग सौहार्द से रहते थे । उनके पिता शैव थे, माता तथा मातुल जैन थे । वे जैन धर्म में दीक्षित होने के बाद भी जयसिंह जैसे कट्टर शैव नृपति के सम्माननीय उपदेशक रहे । हेमचन्द्र के साहित्यिक जीवन का उत्तरार्द्ध भाग कुमारपाल के आश्रय में बीता । कुमारपाल भी शैव था । आचार्य के उदार दृष्टिकोण ने ही उसे जैन धर्म की सेवा में रत किया । इस प्रकार आचार्य हेमचन्द्र का बौद्धिक जीवन ही नहीं उनका व्यावहारिक एवं भावात्मक जीवन भी विभिन्न धर्मों की समन्वयात्मक दृढ़ नींव पर स्थित है ।

अस्तु आचार्य हेमचन्द्र के आदर्श उदारतावादी धार्मिक दृष्टिकोण ने जयसिंह को बहुत अधिक प्रभावित किया । प्राकृत द्वयाथयकाव्य से हमें इस आशय की सूचना मिल जाती है कि जयसिंह ने “रुद्रमहालय” का पुनर्निर्माण (सिद्धपुर में) करवाने के बाद एक जैन मन्दिर का भी निर्माण कराया और इसकी देखभाल के लिए बहुत से ब्राह्मणों की नियुक्ति भी की । इस घटना की पुष्टि सोमप्रभाचार्य के “कुमारपाल प्रतिबोध” से भी हो जाती है । अरब के एक भूगोलवेत्ता “अलइदरीसी” के अनुसार जीवन के अन्तिम दिनों में जयसिंह जैन धर्म की ओर आकृष्ट हो रहा था । उसी से सूचना मिलती है कि वह बुद्ध की मूर्ति की भी पूजा करता था । परन्तु इन विवरणों से यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि जयसिंह किसी धर्मविशेष की ओर आकृष्ट था । जयसिंह एक प्रजापालक राजा था । प्रजा द्वारा माने जाने वाले भिन्न-भिन्न धर्मों का यथोचित सम्मान उसका राजोचित धर्म था । यदि जीवन के अन्तिम दिनों में उसका विशेष भुकाव जैन धर्म की ओर था तो इसका कारण आचार्य हेमचन्द्र और इन्हीं के समान विद्वान् वीराचार्य तथा मालाधारी हेमचन्द्र (एक अन्य हेमचन्द्र) आदि से सम्पर्क रहा होगा । वीराचार्य वचपन से ही जयसिंह के मित्र थे । मालाधारी हेमचन्द्र ने भी जयसिंह को प्रभावित कर लिया था । जयसिंह ने उन्हें धर्मध्वज फहराने तथा जैन मन्दिरों पर अण्डाकार सुनहरे गोलक रखने की आज्ञा दी थी । मालाधारी हेमचन्द्र ने जयसिंह से एक ताम्रपत्र भी प्राप्त किया था जिस पर वर्ष के 80 दिनों में जीवों की हत्या न करने का राज्यादेश अंकित था¹ ।

इस प्रकार जयसिंह जैसे योग्य राजा के दरबार में रहकर आचार्य हेमचन्द्र ने अपने साहित्यिक जीवन का अत्यधिक भाग यापन करते हुए अपने महान् व्यक्तित्व का निर्माण किया । इन दो महान् व्यक्तियों के एकत्र सहयोग ने “अणहिल्लपुर” की

साहित्य और कला साधना को उज्जयिनी आदि प्रसिद्ध साम्प्रतिक नगरों में भी अधिक ऊँचाई पर पहुँचा दिया ।

आचार्य हेमचन्द्र और कुमारपाल

आचार्य हेमचन्द्र की साहित्य साधना दो महान् राजाओं की छाया में परि-
वर्द्धित एवं विकसित हुई । प्रथम राजा सिद्धराज जयसिंह (वि० स० 1151-1199)
तथा दूसरा राजा कुमार पाल जो कि सिद्धराज के बाद अणहिलपुर के मिहामन
का अधिकारी हुआ । इन दोनों राजाओं की छत्रछाया में रहकर हेमचन्द्र ने अपने
ग्रन्थ रत्नों का निर्माण किया । सिद्धराज और हेमचन्द्र के सम्बन्धों की चर्चा ऊपर
की जा चुकी है यहाँ कुमारपाल और हेमचन्द्र के सम्बन्धों पर विस्तार से विचार
कर लेना समीचीन होगा ।

सिद्धराज जयसिंह के पश्चात् अणहिलपुर की गद्दी का उत्तराधिकारी कोई
नहीं था क्योंकि जयसिंह की अपनी कोई भी सन्तान नहीं थी । पुरातन प्रबन्ध संग्रह
के अनुसार जयसिंह की मृत्यु के बाद 18 दिनों तक राज्य सिंहासन पर उसकी पादुका
रखी गयी । 19 वें दिन कुमार पाल ने अपने बहनोई कान्हडदेव की सहायता से
उस पर अधिकार प्राप्त किया । कुमार पाल प्राप्त प्रमाणों के आधार पर जयसिंह
का भतीजा था परन्तु जयसिंह उसका कट्टर शत्रु था । अपने जीवन के अन्तिम दिनों
में वह बराबर कुमारपाल को मरवा डालने का प्रयत्न करता रहा था । जयसिंह की
इस शत्रुता का क्या कारण था इसे जानने के लिए कुमार पाल के जीवन चरित पर
सक्षिप्त दृष्टि डाल लेना अनुचित न होगा । आचार्य हेमचन्द्र के साथ उसके प्रथम
साक्षात्कार की समस्या भी इसी मन्दर्म में हल हो जायेगी ।

कुमारपाल

कुमारपाल के शासनकाल तथा उसके जीवन का विस्तृत परिचय देने वाले
अब तक 21 अभिलेख गुजरात से प्राप्त हो चुके हैं । इनमें दो ताम्रपत्रों पर तथा
शेष शिलाओं पर अंकित है । इनमें 1151 तथा 1125 ई० के दो प्रस्तर लेख तथा
1156 ई० का एक ताम्रपत्र कुमार पाल के जीवन से संबंधित विवरण प्रस्तुत करने
वाले हैं । शेष उसके शासन काल का विवेचन प्रस्तुत करते हैं ।

कुमार पाल से जीवन का विस्तृत परिचय साहित्यिक कृतियों द्वारा प्राप्त
होता है । इनमें तीन ग्रन्थ स्वयं कुमार पाल के समकालीन हैं—

(1) आचार्य हेमचन्द्र का प्राकृत-द्वयाश्रयकाव्य या कुमारपाल चरित ।

(2) सोमप्रभाचार्य का कुमारपाल-प्रतिबोध तथा मोहराजपराजय नामक नाटक ।¹

(3) स्वयं हेमचन्द्र के अन्य ग्रन्थों में प्राप्त विवरण । आचार्य के छन्दो-जुशासन के 20 श्लोक, देशी नाममाला या रमणावली के 105 पद त्रिषष्टिश्लाका-पुष्पचरित की कुछ पक्तियाँ इसी ग्रन्थ का प्रशस्तिपर्व आदि सभी कुमारपाल के जीवन पर प्रकाश डालते हैं ।

द्वयाश्रयकाव्य² के अनुसार भीम प्रथम के बड़े पुत्र का नाम क्षेमराज था । छोटे पुत्र का नाम कर्ण था । क्षेमराज ने अपनी धार्मिक वृत्ति के कारण राज्य शासन स्वीकार न कर कर्ण को सौंप दिया और मरम्बती के किनारे दधिस्थली में तपस्या करने लगे । क्षेमराज को देवप्रसाद नाम का एक पुत्र था । जब कर्ण ने अपनी गद्दी मिद्धराज को सौंपी तो उसने उसे यह निर्देश किया कि वह देव प्रसाद पर दयावृष्टि रखते हुए उसकी देखभाल करता रहे । परन्तु देवप्रसाद कर्ण के साथ ही परलोक-गामी हुआ । मरने के पहले उसने अपने पुत्र त्रिभुवनपाल को जयसिंह की रक्षा में छोड़ दिया था । कुमारपाल इसी त्रिभुवनपाल का पुत्र था । इसी प्रकार का विवरण चित्तौडगढ़ में प्राप्त एक अप्रकाशित अभिलेख³ तथा कुमारपाल प्रतिबोध में मिलता है ।

उपर्युक्त घटना को एक ऐतिहासिक तथ्य मानने में कुछ आपत्तियाँ अवश्य हैं । यदि कुमारपाल जयसिंह के ही परिवार का था तो फिर जयसिंह ने स्वेच्छा से उसे अधिकार क्यों नहीं दे दिया । वह उसको मरवा डालने के लिए क्यों प्रयत्नशील रहा ? प्रभावक चरित में दिये गये कुमारपाल से सम्बन्धित विवरण से इस समस्या पर थोड़ा प्रकाश पड़ता है अतः उसका विवेचन समीचीन होगा—

“महाराज भीम ने अपनी एक अत्यन्त स्वामिभक्त दासी बकुला देवी या चौला देवी से विवाह कर लिया । इस दासी से हरिपाल नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ । हरिपाल के पुत्र का नाम त्रिभुवनपाल था । कुमारपाल इसी त्रिभुवनपाल का पुत्र था । माता की ओर से निम्न वर्ग का होने के कारण ही कुमारपाल जयसिंह की घृणा का पात्र बन गया था ।⁴

1 यशपाल कृत ।

2 प्राकृतद्वयाश्रय काव्य—श्लोक सख्या 70-77 ।

3 इस अभिलेख का उद्धरण डा० गौरीशंकर हीराचन्द्र ओझा ने अपने ग्रन्थ “राजपूताने का इतिहास (भाग 1, पृ० 318-19) में दिया है ।

4. प्रभावक चरित पृ० 77 ।

प्राकृतद्व्याश्रयकाव्य और प्रभावक-चरित के इस विवरण में बहुत बड़ा अन्तर है। रसिकलाल सी० पारिख के अनुसार—

“This account of Prabhavakcharita gives a credible explanation of Jaisingha's hostile attitude to Kumarpal, but differs in its geneology from contemporary accounts¹ and flatly contradicts D.K. (Dvyashraya Kavya) according to which Kshamraj was fully legible for the throne. We don't know what was the authority of the P C (Prabhavak-Charit) for such a humiliating origin to a king who according to the Jaina sources was a Paramarhat (परमार्हत) a great Jain King As it is we can not accept it in face of contemporary authorities ”²

प्रभावक चरित्र से ही मिलता-जुलता और कुछ आगे बढ़ा हुआ विवरण जिनमण्डल कृत कुमारपाल प्रबन्ध में भी मिलता है। कुमारपाल के समस्त परिवार का विवेचन इस ग्रन्थ का अतिरिक्त विवरण है। शेष प्रभावक चरित का ही अनुसरण है।

समसामयिक साध्यों के आधार पर कुमारपाल राज परिवार से ही सम्बन्धित था। द्व्याश्रय काव्य में कई स्थलों पर उसे ‘मैमी’ कहकर सम्बोधित किया गया है जिसका अर्थ है भीम का उत्तराधिकारी। इस शका का समाधान तो हो जाता है परन्तु जयसिंह और कुमारपाल की शत्रुता के कारण की समस्या ज्यों की त्यों बनी रहती है। यह भी विवरण मिलता है कि 20 वर्ष की अवस्था तक कुमारपाल जयसिंह के ही आश्रय में रहा। परन्तु इसी बीच जयसिंह उसका शत्रु हो गया और उसको मरवा डालने की चेष्टा करने लगा। इस शत्रुता का एक मात्र कारण प्रतिद्वन्द्विता की भावना थी। प्रभावक चरित के अनुसार कुमारपाल जिस समय (1199 वि० स०) में गद्दी पर बैठा उसकी अवस्था 50 वर्ष की थी अर्थात् उसका जन्म 1149 वि० स० में हुआ था। 1149 वि० स० में ही सिद्धराज जयसिंह सिंहासनाखंड हुआ, उस समय उसकी अवस्था केवल ८ वर्ष की थी। इस तरह चाचा जयसिंह और भतीजे कुमारपाल की अवस्था में बहुत कम अन्तर था। जयसिंह को

1. हेमचन्द्रकृत प्राकृतद्व्याश्रयकाव्य यशपालकृत ‘मोहराजपराजय’, सोमप्रभाचार्य कृत ‘कुमारपालप्रतिबोध’ तथा आ० हे० च० द्वारा अन्य ग्रन्थों में दिये गये विवरण, समकालीन होने के कारण अधिक विश्वसनीय है।
2. काव्यानुशासन भूमिका पृष्ठ 9/9।

कुमारपाल द्वारा सिंहासन छीन लिये जाने का डर लगा रहता रहा होगा अतः वह उसको मरवा डालने में ही अपना कल्याण समझता था। “पुरातन प्रबन्ध सग्रह” के अनुसार कुमारपाल ने मार डाले जाने के भय से २० वर्ष की अवस्था में ही अणहिल्लपुर छोड़ दिया था। वह भारत के विभिन्न भागों में घूमता रहा। सात बार केदारनाथ की यात्रा की। इस प्रकार वह ३० वर्ष तक छिपकर अपनी रक्षा करता रहा। उज्जयिनी में एक मोची की दुकान पर जयसिंह की मृत्यु की चर्चा सुनकर वह पुनः अणहिल्लपुर वापस आया।¹

हेमचन्द्र और कुमारपाल की प्रथम भेंट

“सिद्धराज-जयसिंह से डर कर प्राण बचाकर भागता हुआ कुमारपाल स्तम्भ-तीर्थ पहुँचा। यहाँ पर वह उदयन मंत्री और आचार्य हेमचन्द्र से मिला।² दुखी कुमारपाल ने आचार्य से पूछा—‘प्रभो! क्या मेरे भाग्य में इसी तरह कष्ट भोगना लिखा है कि और कुछ भी है?’

आचार्य ने कहा—भवता कियतापि त्वं कालेन क्षितिनायक ॥

—जयसिंह सूरि कृत कुमारपालचरित

आचार्य के इस कथन पर उसे विश्वास नहीं हुआ। सूरेश्वर ने थोड़ी देर विचार कर कहा—“मार्गशीर्ष कृष्ण १४ वि०स० १११६ में आप राज्याधिकारी होंगे। मेरा यह कथन कभी असत्य नहीं हो सकता।” यह तिथि उन्होंने एक पत्रक पर लिखकर कुमारपाल तथा उदयन मंत्री दोनों को दे दी। इस पर कुमारपाल बोला—“प्रभो! यदि आपका वचन सत्य हुआ तो आप ही पृथ्वीनाथ होंगे। मैं तो आपके पाद पद्मों का सेवक बनूँगा।” हँसते हुए सूरेश्वर बोले “हमें राज्य से क्या काम? यदि आप राजा होकर जैन धर्म की सेवा करेंगे तो हमें प्रसन्नता होगी।”

1 पुरातन प्रबन्ध सग्रह, पृष्ठ 38।

2 जिनमण्डन कृत कुमारपाल प्रबन्ध में (पृ० 18-22), इसके पहले भी एक बार हेमचन्द्र और कुमारपाल की भेंट वर्णित है—“एक बार कुमारपाल जयसिंह से मिलने गया था। उसने मुनि हेमचन्द्र को वहाँ सिंहासन पर बैठे देखा। वह उनके व्यक्तित्व से बहुत अधिक प्रभावित हुआ और उनके आपण कक्ष में जाकर भाषण सुनने लगा। उसने आचार्य से पूछा—मनुष्य का सबसे बड़ा गुण क्या है? आचार्य ने कहा—‘दुमरो की स्त्रियों में मा बहिन की भावना रखना सबसे बड़ा गुण है।’ यदि इस घटना को ऐतिहासिक माना जाये तो यह स० 1169 के पहले की होगी या लगभग इसी समय की होगी। क्योंकि इस समय तक कुमारपाल निश्चित होकर जयसिंह के राज्य में रह रहा था। ऊपर की कथा का इस कथा से कोई विरोध भी नहीं है। कुमारपाल का एकाएक हेमचन्द्र से अपनी समस्या का समाधान पूछने का ढंग भी बताता है कि वह उनसे पूर्व परिचित था।

विमृश्याभिदधे सूरिर्नवाङ्केश्वरवत्सरे ।

चतुर्थ्या मार्गशीर्षस्य श्यामाया पुष्यगे तिथौ ॥ 184 ॥

अपराह्णे तवैश्वर्यं यदि नोर्जस्वि जायते,

निमित्तालोक सन्त्यास (?) स्तर्ह्यत . परमस्तुमे ॥ 185 ॥

प्रतिज्ञायेति सूरीन्द्रस्तदा तद्दिन पत्रकम् ।

लेखित्वा प्रददौ तस्मै सचिवोदयनाय च ॥ 186 ॥

तेन तस्य सुरस्येव ज्ञानेनातिचमत्कृत ।

चौलुक्यस्तमुवाचेव घटिताजलि मज्जुल ॥ 187 ॥

यद्येतत्त्वद्वच सत्य त्वमेव क्षितिपस्तदा ।

अहं तु त्वत्पदाम्भोज सेविष्ये राज हसवत् ॥ 188 ॥

वदन्तमिति त सूरिर्जंगौ राज्येन किं मम ।

भानुनेव त्वयोद्भास्य शश्वज्जैन मताम्बुजम् ॥ 189 ॥

—“कुमारपाल चरित”

इसके ठीक बाद ही जयसिंह के आदमी कुमारपाल को ढूँढते हुए पहुँचे । आचार्य ने वसति के भूमिगृह (तहखाने) में कुमारपाल को छिपा दिया और उनके द्वार को पुस्तको से बन्द कर दिया । तत्पश्चात् जब जयसिंह की मृत्यु हुई आचार्य की भविष्यवाणी के अनुसार कुमारपाल मिहासनारूढ हुआ । यह घटना वि स 1199 की है । इस समय कुमारपाल की अवस्था 50 वर्ष थी ।

कुमारपाल के राजा हो जाने के बाद हेमचन्द्र कर्णावनी से अणहिल्लपुर आये । मंत्री उदयन ने उनका प्रवेशोत्सव किया । उनके यह पूछने पर कि कुमारपाल उन्हें याद करता है या नहीं ? मंत्री ने बताया कि वह आचार्य को भूल चुका है । इस पर हेमचन्द्र ने कहा कि “आज आप जाकर राजा से कहें कि वह अपनी नयी रानी के महल में न जाये वहाँ आज दैवी उत्पात होगा ।” उन्होंने मंत्री को इस बात के लिए समझा दिया कि वह बहुत पूछने पर ही राजा से यह बतायें कि मेरे द्वारा यह बात बताई गई है । मंत्री ने जाकर राजा से कहा । रात्रि को महल पर बिजली गिरी और रानी की मृत्यु हो गयी । चमत्कृत कुमारपाल को जब आचार्य द्वारा बताई गई इस चमत्कारपूर्ण बात का पता चला, वह अतीव प्रमुदित हुआ और उन्हें बुलाकर महल में ले आया—उसने अपनी प्रतीज्ञा के अनुसार सूरीश्वर को राज्य देने की इच्छा की । सूरि ने कहा—“राजन् अगर आप कृतज्ञता स्मरण कर प्रत्युपकार करना चाहते हैं तो जैन धर्म स्वीकार कर उसका प्रसार करें । राजा ने धीरे-धीरे यह धर्म स्वीकार किया । उसने अपने राज्य में प्राणिबध, मासाहार, असत्य भाषण, द्यूत-

व्रमन, वेश्यागमन, परधनहरण आदि का निषेध कर दिया । इस तरह अपने जीवन के अन्तिम समय में कुमारपाल ने हेमचन्द्र के प्रभाव से जैन धर्म स्वीकार कर लिया ।

डा० वूलर¹ की मान्यता है कि हेमचन्द्र कुमारपाल से तब मिले जब उसने राज्य प्राप्त कर लिया था । इस मत की पुष्टि में वे “महावीर चरित” के 53 वे श्लोक का महारा लेते हैं । इसी ग्रन्थ में² ही यह उल्लेख मिलता है जब राज्य का विस्तार हो गया और सारी विजयें भी प्राप्त हो गयी इसके बाद ही कुमारपाल और आचार्य हेमचन्द्र सम्पर्क में आये । डा० वूलर प्रबन्ध सग्रहो द्वारा दिया गया विवरण ऐतिहासिक नहीं मानते ।

डा० वूलर के इस मत की आलोचना डा० रसिकलाल पारिख³ ने की है । उनका कथन है कि अपने मत की स्थापना में डा० वूलर ने महावीर चरित⁴ के जिन श्लोकों का आधार लेकर निष्कर्ष निकालना चाहा है वह सर्वथा विवादास्पद है । इसके 45-51 तक के श्लोक स्वयं कुमारपाल और उसके सुन्दर शासन का विवरण देते हैं श्लोक 52 में उसके राज्य विस्तार का वर्णन प्रस्तुत किया गया है । 53-58 तक के श्लोक आचार्य हेमचन्द्र और कुमारपाल के बीच प्रत्येक दिन होने वाली वार्ता का विवरण प्रस्तुत करते हैं डा० वूलर ने भ्रम से यह समझ लिया कि दोनों के बीच हुई यह वार्ता प्रथम वार्ता है, परन्तु यह उनकी भ्रांति मात्र है । इस तथ्य से केवल इतना ही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि इस तरह की नित्य होने वाली वार्ता अवश्य ही कुमारपाल की महत्त्वपूर्ण विजयों के बाद ही शुरू हुई होगी । पहले अपनी व्यस्तता के कारण कुमारपाल को इस तरह आचार्य के उपाश्रय में बैठकर शिक्षा ग्रहण करने का अवसर न मिलता रहा होगा ।

प्राप्त उल्लेखों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि हेमचन्द्र से पूर्व परिचित होते हुए भी अर्णोराज पर आक्रमण करने के बाद ही कुमारपाल आचार्य तथा उनके माध्यम से जैन धर्म से घनिष्ठतम रूप से सम्बन्धित होने लगा था । अर्णोराज पर किये गये आक्रमण में असफलता मिलने पर कुमारपाल ने अपने मंत्री बाहड की सलाह से अजितनाथ स्वामी की प्रतिमा का स्थापन समारोह कराया । इसकी सारी विधि आचार्य ने ही सम्पन्न कराई लगभग वि स 1207 तक कुमारपाल जयसिंह के पुराने अधिकारियों द्वारा किये जाने वाले षडयन्त्रों से निश्चित होकर तथा युद्धों से भी छुटकारा पाकर धीरे-धीरे आध्यात्मिकता की ओर झुकने

1 डा० वूलर लाइफ आफ हेमचन्द्र, पृ० 83-84 ।

2 महावीरचरित, पृ० 34 ।

3 काव्यानुशासन, भूमिका, पृष्ठ मी० सी० एल० 33 ।

लगा था और उसके इस परिवर्तन में आचार्य हेमचन्द्र का बहुत कुछ हाथ था। निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि हेमचन्द्र का सम्पर्क कुमारपाल में बहुत पहले ही हो चुका था और राजा होने के लगभग 16 वर्ष बाद उसने जैन धर्म स्वीकार किया, यही कारण है कि "त्रिपिटिकाशकापुराचरित" और "अभिधानचिन्तामणि" में हेमचन्द्र ने कुमारपाल की प्रशंसा की है।

जिस प्रकार सिद्धराज जयसिंह की प्रशंसा पर हेमचन्द्र ने "मिद्व जैन-शब्दानुशासन" की रचना की थी उसी प्रकार कुमारपाल के प्रार्थना करने पर उन्होंने "योगशास्त्र", "वीतराग स्तुति" "त्रिपिटिकाशकापुराचरित" तथा "अभिधानचिन्तामणि" आदि ग्रन्थों की रचना की।

हेमचन्द्र का कुमारपाल पर प्रभाव

जयसिंह के प्रसंग में इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि हेमचन्द्र जैन आचार्य होते हुए भी सभी धर्मों का समान रूप से आदर करते थे। उनकी उन भावना का प्रभाव कुमारपाल पर भी पड़ा। सम्भात में कुमारपाल ने आचार्य के समक्ष यह शर्त मान ली थी कि यदि वह भविष्यवाणी के अनुसार निश्चित समय पर राजा हो गया तो जैन धर्म की सेवा करेगा। इसके अतिरिक्त 20 वर्ष की अवस्था से ही उस पर आचार्य की विद्वत्ता का प्रभाव पड़ चुका था। राज्य प्राप्त करने के बाद हेमचन्द्र की इच्छानुसार उसने जैन धर्म स्वीकार भी कर लिया।

कुमारपाल ने जैन धर्म स्वीकार किया था या नहीं इस बात को लेकर कुछ विवाद भी है। शिलालेखों में कुमारपाल को "महेश्वरनृपाग्रणी" कहा गया है।¹ इन प्रमाणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यद्यपि कुमारपाल की चिन्तन धारा में परिवर्तन आया फिर भी उसने अपनी पारम्परिक पूजा पद्धति को पूरी तरह नहीं छोड़ दिया। यज्ञों आदि के अवसर पर उसने पशुबलि भले ही बन्द करा दी हो लेकिन अपने कुलदेव शिव का सदैव भक्त बना रहा। कुमारपाल आचार्य हेमचन्द्र को अपना गुरु मानता था। जैन धर्म की अच्छाइयों को देखकर उसका सम्मान भी करता था। कई अवसरों पर उसने जैन मन्दिरों में पूजा भी अर्पित की। परन्तु उसने पूर्णतः जैन धर्म स्वीकार कर लिया था इस बात का ऐतिहासिक प्रमाण विरोध करते हैं। प्रत्येक राजा का यह कर्तव्य होता है कि वह अपने राज्य के सभी

1. त्रिपिटिकाशका पुराचरित में हेमचन्द्र ने कुमारपाल को 'परमाहृत' कहकर सम्बोधित किया है।
2. कुमारपाल के शासनकाल में लिखा गया भावबृहस्पति का शिलालेख। इसका उल्लेख रसिक-लाल सी पारिख ने काव्यानुशासन की भूमिका पृ० 287 पर किया है।

घर्मों की समृद्धि में योग देने के साथ ही उनका सम्मान भी करे । राजा होने के बाद कुमारपाल ने भी इसी परम्परा का पालन किया ।

इन ऐतिहासिक प्रमाणों से अलग कुछ साहित्यिक प्रमाण और स्वयं आचार्य हेमचन्द्र की उक्तियाँ हैं जिनसे स्पष्ट हो जाता है कि कुमारपाल ने अपने जीवन के अन्तिम दिनों में जैन धर्म स्वीकार कर लिया था । यशपाल द्वारा रचित “मोहराज पराजय” नामक नाटक में कुमारपाल के सात्विक और आध्यात्मिक जीवन की पूर्ण झलकी मिलती है । अतः कुमारपाल ने जैन धर्म स्वीकार कर लिया था, इसमें आशंका नहीं रहती । राजा कुमारपाल ने अनेक मन्दिर बनवाये । भिन्न-भिन्न स्थानों पर 1440 विहार बनवा कर धर्म प्रचार के लिए बहुत बड़ा प्रयास किया ।

यदि इन दोनों मतों को एकत्र समन्वित कर देखा जाये तो यह कहा जा सकता है कि कुमारपाल यद्यपि जीवन भर शैव था फिर भी हेमचन्द्र के प्रभाव से उसने अपने जीवन के अन्तिम दिनों में जैन धर्म में आस्था दिखायी होगी । कुमारपाल के जीवन में आचार्य हेमचन्द्र का बहुत बड़ा स्थान था । वे उसके पूज्य धर्म गुरु ही नहीं, रक्षक भी थे । अतः उनका सम्मान करने के लिए कुमारपाल द्वारा जैन धर्म का स्वीकार किया जाना न तो असम्भव ही लगता है और न असंगत ही ।

“त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित” की प्रशस्ति से उपयुक्त तथ्य और भी स्पष्ट हो जाता है—

“चेदि दशार्ण, मालवा, कुरु, सिन्धु इत्यादि दुर्गम प्रदेशों का विजेता चालुक्य-राजा कुमारपाल जो मूलराज का उत्तराधिकारी तथा परमार्हत था एक दिन आचार्य के समक्ष विनम्रतापूर्वक झुककर कहने लगा—

मुनिश्रेष्ठ ! आपके द्वारा आज्ञा पाकर मैंने अपने राज्य में उन सभी कार्यों को बन्द करा दिया है जो नरक की ओर ले जाने वाले हैं जैसे जुआ खेलना, मदिरा पीना, नि सतान मृतव्यक्ति की सम्पत्ति का हड़प लेना आदि । मैंने पृथ्वी को अर्हत् (जैन) मन्दिरों से भर दिया है आदि ।¹

इन सभी प्रमाणों को ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि कुमारपाल के जीवन पर हेमचन्द्र का बहुत बड़ा प्रभाव था । “प्रबन्ध कोश” के अनुसार कुमारपाल राजनैतिक मामलों में भी हेमचन्द्र की सलाह लेता था, यहाँ तक कि राज्य शासन के उत्तराधिकार से सम्बन्धित समस्याएँ भी वह आचार्य के सामने रखता था ।

दूसरी अन्य बातें जिनका सम्बन्ध प्रजा के कल्याण से रहता था, वे भी आचार्य की आज्ञा लेकर की जाती थी ।

आचार्य हेमचन्द्र और उस युग के अन्य ख्याति प्राप्त व्यक्तित्व

सिद्धराज जयसिंह और कुमारपाल जैसे दो पराक्रमी राजाओं से घनिष्ठतम रूप से सम्बन्धित होने के अतिरिक्त हेमचन्द्र उस युग के अन्य प्रसिद्ध लोगों से भी अच्छी तरह परिचित थे । ऐसे लोगों में बुद्धिमान मंत्री उदयन और उनके पुत्र वाहङ तथा आभङ आदि इनसे निकटतम रूप से सम्बन्धित थे । जैन धर्म के विद्वानों के अतिरिक्त वे अन्य धर्म के मानने वाले विद्वानों से भी अच्छी तरह परिचित थे । भागवत धर्म के प्रसिद्ध विद्वान् देवबोध के वे बहुत बड़े प्रशंसक थे । देवबोध और श्रीपाल में मैत्री कराने में इन्होंने बहुत बड़ी सहायता की । हम पहले इस बात का उल्लेख कर चुके हैं कि आचार्य हेमचन्द्र के समय का गुजरात विद्वानों से भरा हुआ था । आये दिन विद्वानों में विवाद होते रहते थे । आचार्य हेमचन्द्र भी इन विवादों में सम्मिलित होते थे परन्तु अपने प्रभाव के कारण इनकी कभी किसी से कटुता नहीं हुई । केवल "आमिग" नाम के विद्वान्, एक ऐसे व्यक्ति थे जिनसे हेमचन्द्र के सम्बन्ध अच्छे नहीं बताये जाते । इनके कई शिष्य¹ भी थे ।

प्रभावक चरित के अनुसार आचार्य हेमचन्द्र की मृत्यु 84 वर्ष की परिपक्व अवस्था में वि स 1229 (1173) में हुई थी । कुमारपाल की मृत्यु इनकी मृत्यु के छ महीने बाद 1174 ई में हुई थी । आचार्य की मृत्यु से कुमारपाल को बहुत बड़ा धक्का लगा ।

आचार्य हेमचन्द्र की रचनाएँ

"आचार्य हेमचन्द्र का व्यक्तित्व बहुमुखी था । ये एक साथ ही महान् सन्त, शास्त्रीय विद्वान्, वैयाकरण, दार्शनिक, काव्यकार, योग्य लेखक और लोक चरित्र के अमर सुधारक थे । जैन धर्म परम्परा इन्हें एक अवतारी पुरुष के रूप में मानकर

1 Hemchandra had a group of Disciple who were very learned and who helped him in his work Of these Ramchandra (रामचन्द्र) deserves special mention He is reputed to be the author of hundred Prabandhas that is composition Some of his plays are published, they are good as literature and show considerable skill in the technique of play writing His Natya Darpana (नाट्यदर्पण) a work of Dramaturgy has been published .. His kumarviharsatak (कुमारविहारशतक) is a fine description."

इनके द्वारा प्रणीत असंख्य ग्रन्थों का उल्लेख करती है। कहीं-कहीं तो इन्हें लगभग साढ़े तीन करोड़ श्लोकों का निर्माता बताया गया है। परन्तु हेमचन्द्र के नाम से मिलने वाली ऐसी रचनाओं में अनेकों सदिग्ध हैं। अब तक की खोजों के आधार पर उनके जितने प्रामाणिक ग्रन्थ सामने आये हैं उन्हें देखकर यह कहना पड़ता है कि सचमुच वे “कलिकाल सर्वज्ञ” थे। उनकी विविध ज्ञान-विज्ञान तथा साहित्य और कला आदि से सम्बन्धित रचनाओं को देखकर आश्चर्य चकित रह जाना पड़ता है। एक ही व्यक्ति द्वारा इतने सारे ग्रन्थों का निर्माण वह भी अत्यधिक विस्तार से भारतीय साहित्य परम्परा के लिए एक नयी बात थी।

“त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित” की प्रशस्ति में आचार्य हेमचन्द्र अपनी प्रमुख रचनाओं का उल्लेख स्वयं करते हैं। वहाँ कुमारपाल हेमचन्द्र के द्वारा दी गई आज्ञाओं का पालन करने के बाद आकर आचार्य को उनका आदेश पूरा हो जाने की सूचना देने के बाद उनके द्वारा सिद्धराज जयसिंह के राज्यकाल में तथा स्वयं अपने राज्यकाल में रचे गये ग्रन्थों की सूचना देने के बाद आचार्य से जैन तीर्थङ्करों के जीवन से सम्बन्धित एक लोकहितकारी ग्रन्थ के निर्माण की प्रार्थना करता है। उसकी प्रार्थना के अनुसार हेमचन्द्र ने 63 महापुरुषों की जीवन कथाओं का समाहार त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित में किया। इस विवरण के आधार पर हेमचन्द्र के सात ग्रन्थों का उल्लेख इस प्रकार है —

- (1) सिद्धहैमशब्दानुशासन—उसकी वृत्ति तथा व्याख्या भी।
- (2) योग शास्त्र।
- (3) द्वयाश्रय काव्य।
- (4) छन्दोऽनुशासन।
- (5) काव्यानुशासन।
- (6) नाम सग्रह—इनमें अभिधानचिन्तामणि-देशीनाममाला इत्यादि कोष-ग्रन्थ आते हैं।
- (7) त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित।

ये रचनाएँ कालक्रम से वर्णित नहीं हैं।

“कुमारपालप्रतिबोध” के रचयिता सोमप्रभसूरि और “मोहराजपराजय” नाटक के रचयिता यशपाल की सूचनाओं के आधार पर हेमचन्द्र की तीन अन्य कृतियाँ भी प्राप्त होती हैं—

- (8) वीतराग स्तुति।
- (9) द्वात्रिंशिका। (स्तोत्र)
- (10) प्रमाण मीमांसा।

इन महत्त्वपूर्ण रचनाओं के अतिरिक्त अनेको छोटी-छोटी रचनाओं का उल्लेख भी प्राप्त हो जाता है। विषय की दृष्टि में आचार्य की रचनाएँ अत्यन्त विस्तृत और विविधता लिये हुए हैं।

सिद्धहैमशब्दानुशासन

“सिद्धहैमशब्दानुशासन” की रचना के कारणों पर विस्तार से प्रकाश डाला जा चुका है।¹ अब तक प्राप्त प्रमाणों के आधार पर यह आचार्य हैमचन्द्र की प्रथम रचना है। इस ग्रन्थ की रचना एक वर्ष के अन्दर हुई थी। ऐसा उल्लेख प्रभावक चरित में आता है। परन्तु यह सर्वथा असम्भव सा लगता है। इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इसकी रचना सिद्धराज की मृत्यु अर्थात् वि.सं. 1199 या 1143 ई. के पहले हो चुकी थी।²

सिद्धहैमशब्दानुशासन का स्वरूप

सिद्धहैमशब्दानुशासन के कुल पाँच भाग हैं—

(1) सूत्र, (2) गण पाठ (3) धातु पाठ (4) उणादि सूत्र (5) लिङ्गानुशासन। परम्परा में जितने भी व्याकरण ग्रन्थ लिखे गये थे, उनमें सूत्र किसी के द्वारा लिखा गया, तो वृत्ति किसी अन्य ने लिखी। गण पाठ, उणादि सूत्र, लिङ्गानुशासन आदि भी भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा प्रणीत हुए, परन्तु सिद्धहैम व्याकरण के ये सारे भाग एक व्यक्ति की रचना हैं। यह एक विशेष उल्लेखनीय बात है। इतना ही नहीं आचार्य हैमचन्द्र ने अपने द्वारा रचे गये सूत्रों पर लघु तथा बृहद्वृत्तियाँ भी स्वयं ही लिखीं। इस प्रकार सस्कृत के विभिन्न व्याकरणों, पाणिनि, मट्टे-जिदीक्षित और भट्टि का कार्य अकेले ही हैमचन्द्र ने सम्पादित किया। इस शब्दानुशासन की महत्ता एक बात में और भी है कि इसमें सस्कृत व्याकरण के साथ ही प्राकृत का भी व्याकरण समाहित है। इसके प्रारम्भ के सात अध्याय सस्कृत व्याकरण से सम्बन्धित हैं। अन्तिम आठवाँ अध्याय प्राकृत व्याकरण का आख्यान करता है। इस ग्रन्थ के पूरक रूप में धातु पाठ, गणपाठ, उणादिसूत्र और लिङ्गानुशासन का आख्यान कर देने के बाद भी आचार्य को सतोष नहीं हुआ। उन्होंने तत्कालीन राजाओं जयसिंह और कुमारपाल के चरित को लेकर एक अद्भुत ग्रन्थ “द्वयाश्रय काव्य” की भी रचना की। जिसके शुरू के अध्याय चालुक्य वंशीय राजाओं की कीर्ति का ख्यापन करने के साथ ही सस्कृत शब्दानुशासन के सूत्रों की व्याख्या

1. देखें प्रस्तुत प्रबंध के इसी अध्याय का ‘सिद्धराज जयसिंह आचार्य हैमचन्द्र’ प्रसंग।

2. आचार्य हैमचन्द्र की रचनाओं का तिथिक्रम निर्धारण आगे किया जायेगा।

भी प्रस्तुत करते हैं। अन्तिम जिसे “प्राकृत द्व्याश्रय काव्य” कहा जाता है—कुमारपाल से सम्बन्धित है। इसमें प्राकृत व्याकरण से सम्बन्धित सूत्रों की व्याख्या प्रस्तुत करने के साथ ही कुमारपाल का यश भी वर्णित है। संस्कृत और प्राकृत व्याकरण की रचना के बाद आचार्य ने अपभ्रंश व्याकरण की भी रचना की। अपभ्रंश भाषा की दुरुहताओं को समझाने के लिए आचार्य ने जो अपभ्रंश की गाथाएँ¹ सयोजित की हैं। वे उनकी अद्भुत प्रतिभा का दिग्दर्शन कराने के लिए काफी हैं। इस प्रकार आचार्य हेमचन्द्र ने व्याकरण सम्बन्धी कमियों को दूर करते हुए एक ही ग्रन्थ में सब कुछ देकर संस्कृत और उससे निःसृत भाषाओं के व्याख्यान में अभूतपूर्व योग दिया।

सिद्धहैमशब्दानुशासन में कुल आठ अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय चार चार पादों में विभाजित है। इसमें कुल 4685 सूत्र हैं। इनमें 3566 सूत्र संस्कृत व्याकरण से तथा 1119 सूत्र प्राकृत भाषा के व्याकरण से सम्बन्धित हैं। इन सूत्रों पर आचार्य ने लघुवृत्ति और बृहद्वृत्ति नाम की दो वृत्तियाँ (व्याख्याएँ या टीकाएँ) भी लिखी हैं। घातुपारायण उणादि तथा लिङ्गानुशासन (बृहद्वृत्तीका सहित) वृत्तियों सहित इस ग्रन्थ के पूरक भाग हैं।

डा० पाणिनि² ने उसी ग्रन्थ पर लिखे गये एक “बृहव्यास” नामक ग्रन्थ की भी सूचना दी है जिसका थोड़ा सा भाग पं. भगवानदास दोषी द्वारा खोज कर सम्पादित भी किया गया है। परम्परा में चलने वाली चर्चाओं के आधार पर यह ग्रन्थ 84000 श्लोक प्रमाण था। इसके प्राप्त भाग को देखकर यह बात सत्य भी प्रतीत होती है। इस ग्रन्थ का निर्माण बहुत कुछ पतञ्जलि के महाभाष्य के अनुरूप किया गया लगता है।

सिद्धहैमशब्दानुशासन के अत्यन्त विस्तृत बाह्यरूप का विवेचन हो जाने के बाद इसके आन्तरिक रूप का प्रतिपादन भी असंभव न होगा। यदि हम इस व्याकरण के निर्माण के उद्देश्य की ओर देखें तो हमें पता चलता है कि आचार्य हेमचन्द्र ने पठनीय व्याकरण की दुरुहताओं से बचने के लिए इस व्याकरण की रचना की है। इस बात को उन्होंने सिद्धहैम के प्रथम अध्याय में प्रथम पाद के तृतीय सूत्र “लौकात्”³ में स्पष्ट की। उन्हें व्याकरण शास्त्र के लिए लौकिक व्यवहार की उपयोगिता अभीष्ट है। इसी प्रकार संधिप्रकरण-समास प्रकरण तथा सज्ञाओं आदि के प्रकरणों में उनकी कुछ निजी उपलब्धियाँ हैं। पाणिनि द्वारा प्रणीत अष्टाध्यायी

1 अपभ्रंश व्याकरण में उदाहरण के रूप में आये हुए दोहे आचार्य कृत नहीं हैं।

ऐसा विद्वानों का मत है।

2 काव्यानुशासन-भूमिका, पृ० सी० सी० एक्स० सी० 3

3 सि० है०-1।1।3

तथा अन्य पारम्परिक जैनेन्द्र आदि व्याकरणों की दुरुहताओं को दूर करना ही उनका प्रमुख उद्देश्य था। पाणिनि ने दीर्घ सधि का आख्यान “अक सर्वर्णो दीर्घ” कह कर किया था। यह सूत्र सामान्य पाठक की समझ में तब तक नहीं आ सकता जब तक कि वह “माहेश्वर-प्रत्याहार सूत्र”¹ का मली भाति पारायण न कर ले। आचार्य ने इसी बात को अत्यन्त सरल शब्दों में प्रतिपादित कर दिया—समानाना तेन दीर्घ 1।2।1।

इस प्रकार आचार्य हेमचन्द्र का यह व्याकरण ग्रन्थ उनके गहन एवं विस्तृत अध्ययन का परिणाम होने के साथ ही विभिन्न स्तर के व्याकरण पढ़ने वालों के लिए अत्यन्त सरल भी है। परम्परा में चली आती हुई अनेकों कमियों की पूर्ति इस एक ही ग्रन्थ में कर दी। इस ग्रन्थ को लेकर कुछ लोगो ने यह भी कहने का प्रयत्न किया है कि इसमें विषयगत मौलिकता नहीं है। आचार्य हेमचन्द्र ने पाणिनि तथा अन्य सम्स्कृत और प्राकृत व्याकरणों द्वारा कही गयी बातों का पुनराख्यान मात्र कर दिया है। परन्तु यदि ध्यान से देखा जाये तो यह तर्क हेमचन्द्र के पक्ष में ही आता है। हेमचन्द्र का उद्देश्य यह नहीं था कि वे सर्वथा नवीन व्याकरण शास्त्र की रचना करें वे तो चाहते थे कि परम्परा में प्रचलित व्याकरण ग्रन्थों की दुरुहताओं को दूर कर उन्हें सर्वजन मवैद्य बनाया जाये। व्याकरणगत दुरुहताओं के ज्ञान के लिए ही उन्होंने काश्मीर पुस्तकालय से आठ व्याकरण के ग्रन्थ मगाये थे। उनका गम्भीर अध्ययन कर उन्होंने व्याकरणिक मिद्धान्तों का प्रतिपादन सरलतम रूप में किया। उनमें विषयगत नवीनता भले ही न हो परन्तु उनकी प्रतिपादन शैली तो मौलिक है ही। इसके अतिरिक्त प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं के व्याकरण का एकत्र समाहार भी उनकी मौलिकता ही कही जायेगी। अपभ्रंश भाषा का सर्वप्रथम हेमचन्द्र ने ही विवेचन किया। इस प्रकार ‘हेमचन्द्रानुशासन’ आचार्य हेमचन्द्र की एक अभूतपूर्व व्याकरणिक कृति है जिसका जोड़ न तो परम्परा में कहीं प्राप्त और न सम्भवतः प्राप्त ही होगा।

आचार्य हेमचन्द्र के कोष ग्रन्थ .

सम्स्कृत और प्राकृत शब्दानुशासन की समाप्ति के बाद आचार्य हेमचन्द्र ने सम्स्कृत तथा देशी शब्दों का आन्वयन करने के लिये कोष ग्रन्थों की रचना की। “अभिज्ञानचिन्तामणि” के प्रारम्भ में उन्होंने स्वयं ही कहा—“अपने अशो सहित शब्दानुशासन का निर्माण करने के बाद मैं नाममाला (सज्ञा शब्दों के समूह) का आन्वयन करता हूँ। इसमें कुछ नामपद ऐसे हैं जिनकी व्युत्पत्ति नहीं दी जा सकती,

1. जैन-शब्द-कोश।

कुछ की व्युत्पत्ति व्याकरण सम्मत है • कुछ की व्याकरण सम्मत है भी और नही भी है ।” नामरत्नो के इन सगह ग्रन्थ का नाम हेमचन्द्र “अभिधान चिन्तामणि” देते है । इन परिपाटी पर लिखे गये उनके अधोलिखित ग्रन्थ प्राप्त होते है—

(2) अभिधानचिन्तामणि—यह मम्कृत के अमर-कोष की भाति एक शब्द का अनेको पर्याय द्योतित करने वाला कोष है । हेमचन्द्र का यह कोष-ग्रन्थ अमर-कोष के समान ही प्रसिद्ध हुआ । मम्कृत साहित्य परम्परा मे “हेमचन्द्रश्चरुद्रश्चामरोऽयं मनातन” कहकर इनके इस ग्रन्थ की महत्ता स्वीकार की गयी है । हेमचन्द्र ने “तत्त्वबोधि विद्यायिनी” नाम की एक टीका भी स्वयं ही इस ग्रन्थ पर लिखी ।

(3) अनेकार्थमार्ग — एक शब्द के अनेको पर्यायवाची शब्दों का अभिधान कर चुकने के बाद आचार्य ने एक ही शब्द के कई अर्थों से सम्बन्धित कोष ग्रन्थ का भी निर्माण किया । यह कोष छ. अध्यायों मे विभाजित है । इस काव्य की टीका हेमचन्द्र के पित्र महेंद्रमूरि ने स्वयं हेमचन्द्र के नाम¹ से लिखी है ।

(4) देशी नाममाला² जिस प्रकार “शब्दानुशासन” मे प्राकृत व्याकरण से सम्प्रणीत एक अध्याय जोड़कर हेमचन्द्र ने उस व्याकरण ग्रन्थ को अद्भुत और सर्वथा नवीन बना दिया था उसी प्रकार कोष-शास्त्र को पूर्ण और नवीन बनाने के लिये उन्होंने देशी शब्दों का एकत्र सङ्कलन कर एक नवीन ग्रन्थ निर्मित कर दिया । इस ग्रन्थ का दूसरा नाम “रमणावली” भी है । इसकी टीका भी इन्होंने स्वयं ही लिखी । शब्दों का उदाहरण प्रस्तुत करने वाले दोहे भी इन्हीं द्वारा रचे गये बताये जाते है ।³

(5) निघण्टु—आचार्य हेमचन्द्र ने वनस्पतियों के नामों को लेकर एक सर्वथा नवीन कोष का निर्माण भी दिया । इसे ही उन्होंने निघण्टु नाम दिया । हेमचन्द्र के निघण्टु पर अब तक कोई टीका प्राप्त नहीं हुई है ।

इस प्रकार मम्स्त अशो और उनकी वृत्तियों सहित हैमव्याकरण तथा चार उपर्युक्त कोषों का निर्माण कर आचार्य हेमचन्द्र ने अपना शब्दानुशासन या शब्द विज्ञान शास्त्र सम्पूर्ण किया । इतने विस्तृत एवं महत्त्वपूर्ण कार्य को पूर्ण कर हेमचन्द्र ने गुजरात के विद्यगीरव को ऊँचा उठाया और साथ ही वहाँ के अध्येताओं के लिए भाषा के सरल एवं सुबोध मार्ग का निर्माण कार्य भी सम्पन्न किया । आचार्य हेमचन्द्र ने इन महान् ग्रन्थों की रचना कर सिद्धराज जयसिंह की अभ्यर्थना पूर्ण कर

1 अनेकार्थ मग्ग, पृ० 86 एडिटेड बाई द Th. Tachriac

2 विस्तृत परिचय के लिये प्रस्तुत प्रबन्ध का ‘द्वितीय अध्याय’ देखें ।

3 इस विषय पर विभिन्न विद्वान् एक मत नहीं हैं—विस्तृत चर्चा द्वितीय अध्याय मे की गई है ।

दी । प्रकारान्तर से यह कहा जा सकता है कि आचार्य हेमचन्द्र की सफलता का बहुत कुछ श्रेय सिद्धराज की "अभ्यर्थना" और उसके द्वारा दी गई सुविधाओं को है । गुजरात के प्रो रामनारायण पाठक नामक एक कवि ने अपनी "रणकदेवी" नामक कविता में कहा है—

हेमप्रदीपप्रगटावी सरस्वतीनो मार्यक्यकीधुं निज नामनु सिद्धराजे ॥
सरस्वती का हेम रूपी प्रदीप जलाकर सिद्धराज ने अपने नाम को सार्थक कर दिया ।

(6) द्वायाश्रयकाव्य .

हेमचन्द्र कृत द्वायाश्रय काव्य 20 सर्गों में विभाजित है । इसके अन्तिम पाँच सर्ग "प्राकृतद्वायाश्रय काव्य" या कुमारपाल का विवरण प्रस्तुत करने के कारण "कुमारपाल चरित" के नाम से अभिहित किये जाते हैं । पूरा ग्रन्थ एक महाकाव्य होने के साथ ही हेमशब्दानुशासन में आये हुए व्याकरणिक सूत्रों की व्याख्या भी प्रस्तुत करता है । इस काव्य की रचना शब्दानुशासन की रचना समाप्त हो जाने के बाद शुरू हुई होगी । काव्य के तेरहवें सर्ग कुमारपाल के शासन के पहले के हैं । 14वाँ सर्ग कुमारपाल के राज्यकाल के प्रारम्भिक भाग में लिखा गया लगता है । शेष सर्ग तो निश्चित रूप से कुमारपाल के ही राज्यकाल में लिखे गये ।

यह काव्य अणहिल्लपुर के चालुक्यवंशी राजाओं का विस्तृत विवरण प्रस्तुत करता है । इसका विवरण ऐतिहासिक तथ्यों पर निर्धारित होने के कारण भाग्य भी है । जिन प्रकार अन्त के पाँच सर्गों में कुमारपाल का वर्णन होने के कारण उन्हें "कुमारपाल चरित" सजा दी गयी है उसी प्रकार पूरे काव्य को चालुक्यवंशी राजाओं का विवरण प्रस्तुत करने के कारण 'चालुक्यवंशोत्कीर्तन' नाम भी दिया गया है ।

(7) काव्यानुशासन :

यह काव्यांगों का विवेचन प्रस्तुत करने वाला मम्मट के काव्य प्रकाश की परम्परा में लिखा गया अलंकार शास्त्र का ग्रन्थ है । हेमचन्द्र ने न्वय ही सूत्र, अलंकार चूडामणि नाम की वृत्ति और विवेक नाम की टीका भी लिखी है । इसमें मम्मट की अपेक्षा काव्य के प्रयोजन हेतु अर्थालंकार गुण, दोष ध्वनि आदि सिद्धान्तों का हेमचन्द्र ने विस्तार से विवेचन किया है ।

काव्यानुशासन में कुल आठ अध्याय और 208 सूत्र हैं । अध्याय क्रम से सूत्रों की संख्या इस प्रकार है—

प्रथम अध्याय में 25 सूत्र, द्वितीय में 59, तृतीय में 10, चतुर्थ में 9, पचम में 9, षष्ठ में 31, सप्तम में 52 और अष्टम में 13 सूत्र हैं। इन सीमित 208 सूत्रों में ही आचार्य हेमचन्द्र ने समस्त संस्कृत काव्यशास्त्र का सुस्पष्ट विवेचन प्रस्तुत कर दिया है। इन छोटे छोटे सूत्रों का विस्तार अलंकार चूडामणि नामक वृत्ति में भली-भांति प्राप्त हो जाता है। इस अलंकार “चूडामणि” नामक वृत्ति का भी विस्तार ग्रन्थकार ने “विवेक” नामक टीका के रूप में किया है। हेमचन्द्र स्वयं ही वृत्ति को “प्रतन्वयते” (Extended) और टीका (विवेक) को “प्रवितन्वयते” (Extended in detail) कहकर स्पष्ट कर देते हैं। विवेक टीका की रचना उन्होंने दुर्लभ स्थलों की व्याख्या और नवीन तथ्यों के संकेत के लिए की और इस कार्य में वे बहुत कुछ सफल भी हैं। समस्त काव्य-नुशासन में दिये गये उद्धरणों की संख्या 1632¹ है।

संस्कृत का व्यशास्त्र के इतिहास की दृष्टि से भी यह कृति बहुत महत्त्वपूर्ण है। पूरे ग्रन्थ में हेमचन्द्र ने 50 के लगभग ग्रन्थकारों और लगभग 81 ग्रन्थों की सूचना दी है। इसके अतिरिक्त कुछ उद्धरण ऐसे भी हैं जिनके मूल ग्रन्थ और ग्रन्थकार का नाम नहीं प्राप्त होता। इन ग्रन्थों और ग्रन्थकारों तथा विभिन्न उद्धरणों से सम्बन्धित सूचनाएँ डा पारिख ने काव्यानुशासन पृ 521-526 से दे दी हैं।

विषय वस्तु—प्रथम अध्याय के प्रथम सूत्र में मांगलिक नमस्कार के बाद द्वितीय सूत्र में हेमचन्द्र अपने इस ग्रन्थ का प्रयाजन बताते हैं। तृतीय सूत्र कविता के उद्देश्य का आख्यान प्रस्तुत करता है—काव्य का उद्देश्य है आनन्द, यश, और कान्तातुल्य उपदेश। चौथे सूत्र में काव्य का कारण प्रतिभा बताया गया है। 5वे और छठे सूत्र में “प्रतिभा” की जैन धर्म सम्मत व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। 11वाँ सूत्र काव्य-प्रकृति का निर्णायक है।

काव्यानुशासन का द्वितीय अध्याय रस, भाव, रसाभास और भावाभास तथा काव्य कोटियों के निर्धारण से सम्बन्धित है। तृतीय अध्याय के दस सूत्रों में काव्य-दोषों का विवेचन है। चतुर्थ अध्याय काव्य-गुणों का आख्यान प्रस्तुत करता है। पाचवाँ अध्याय छ शब्दालंकारों से सम्बन्धित है। छठें अध्याय में इक्कीस अर्थालंकारों का विवेचन है। इसमें कुछ अलंकारों की परिभाषा अत्यन्त मनोरम एवं विशिष्ट है। जैसे उपमा की “हृदयम् साधर्म्यम् उपमा।”

सातवाँ अध्याय काव्यगत चरित्रों का विवेचन प्रस्तुत करता है—जैसे नायक प्रतिनायक, नायिका आदि। आठवाँ अध्याय प्रबन्धात्मक काव्य भेदों का उपस्थापन

करता है। इसके अन्तर्गत श्रव्य और दृश्यकाव्य का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार “काव्यानुशासन” संस्कृत काव्यशास्त्र की सरल, सुबोध व्याख्या प्रस्तुत करने में अत्यन्त सफल है।

(8) छन्दोजुशासन

इस ग्रन्थ में संस्कृत प्राकृत एवं अपभ्रंश साहित्य के छन्दों का सुष्ठु निरूपण किया गया है। मूल ग्रन्थ सूत्रों में है। हेमचन्द्र ने स्वयं ही इसकी व्याख्या भी लिखी है। छन्दों का उदाहरण इन्होंने अपनी मौलिक रचनाओं द्वारा दिया है।

(9) प्रमाणमीमांसा

यह प्रमेय और प्रमाण का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत करने वाला न्यायशास्त्र का ग्रन्थ है। अनेकान्तवाद, पारमार्थिक प्रत्यक्ष की तात्त्विकता, इन्द्रियज्ञान का व्यापार-क्रम, परोक्ष के प्रकार, निग्रह स्यात् या जय-पराजय-व्यवस्था, प्रमेय प्रमाता का स्वरूप एवं सर्वज्ञत्व का समर्थन आदि विषयों पर विचार किया गया है।

(10) त्रिऽष्टि शलाका पुरुष चरित

यह ग्रन्थ पुराण और काव्य-कला का एकत्र समन्वय है। इसमें जैन धर्म के 24 तीर्थंकरों 12 चक्रवर्ती, 9 नारायण, 9 प्रतिनारायण तथा 9 बलदेव कुल 63 व्यक्तियों के चरित का वर्णन है। यह ग्रन्थ प्राचीन भारतीय इतिहास की गवेषणा में अत्यन्त महायुक्त ग्रन्थ है।

(11) योगशास्त्र एवं स्तोत्र

यह पातञ्जलयोगभाष्य के समान जैन शब्दावली में लिखा गया उच्चकोटि का योगशास्त्रीय ग्रन्थ है। शैली में पातञ्जल का अनुकरण होते हुए भी विषय और उसके वर्णन क्रम में मौलिकता है। चीनराग, महावीर स्तोत्र और स्तोत्र द्वात्रिंशिका हेमचन्द्र के उच्चकोटि के स्तोत्र-ग्रन्थ हैं।

ग्राचार्य हेमचन्द्र की रचनाओं का तिथिक्रम

ग्राचार्य हेमचन्द्र ने अपनी रचनाओं के क्रम का निर्देश करते हुए भी किसी भी रचना की कोई निश्चित तिथि नहीं दी। ग्राचार्य हेमचन्द्र के जीवन से संबंधित पटनाओं का उल्लेख करने वाले किसी उनके अन्य समकालीन ग्रन्थ में भी उनकी रचनाओं के तिथि निर्णय पर विचार नहीं किया गया। डा० बूलर¹ ने हेमचन्द्र की

1 माधव गान्धर्व, पृ० 1

रचनाओं के तिथिक्रम का निर्धारण करने का प्रयास किया और वे बहुत कुछ इस प्रयास में सफल भी हैं ।

‘सिद्धहेमशब्दानुशामन’ की प्रशस्ति में एक तीर्थयात्रा का उल्लेख देखकर डा० बूलर ने यह निष्कर्ष निकाला कि इस तीर्थयात्रा के बाद कभी भी इस व्याकरण की रचना पूर्ण हुई होगी । वे इसका रचनाकाल इस तीर्थयात्रा और मालवा विजय के बीच रखते हैं । इन दोनों के बीच उन्होंने दो वर्ष का समय दिया है । डा० बूलर जयसिंह के मालवा से लौटने का समय वि. स 1194 या 1138 ई बताते हैं । इस प्रकार इस व्याकरण ग्रन्थ की रचना लगभग वि. स 1197 या 1141 ई के लगभग हुई होगी ।¹ डा० पारिख² मालवाविजय वि स 1191-1192 ई के लगभग सिद्ध करते हैं । उनकी यह मान्यता समसामयिक प्रमाणों के आधार पर है । ये प्रमाण डा बूलर को उपलब्ध नहीं थे । इस तरह डा० पारिख का मत है कि यदि हम मालवा विजय के दो या तीन वर्षों के बीच इस ग्रन्थ की रचना का समय मानें तो यह वि. स 1195 (1139) पड़ेगा ।

डा बूलर हेमचन्द्र के कोष ग्रन्थों की रचना जयसिंह की मृत्यु के पहले मानते हैं ।³ संस्कृत द्वयाश्रय काव्य के 14 सर्गों की रचना भी वे जयसिंह की मृत्यु के पहले मानते हैं ।⁴ डा बूलर के अनुसार पूरे द्वयाश्रय काव्य की रचना वि स 1220 (1164) ई के पहले हो चुकी होगी ।⁵ “काव्यानुशासन और छन्दोऽनुशासन की रचना वे कुमारपाल के शासन में हुई मानते हैं ।⁶ परन्तु डा पारिख का कथन है कि छन्दोऽनुशासन जयसिंह और कुमारपाल दोनों का उल्लेख करने के अतिरिक्त चार अन्य चालुक्य राजाओं का भी उल्लेख करता है । अतः इससे कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता ।

हेमचन्द्र के संस्कृत कोष-ग्रन्थों के पूरक रूप में लिखी गयी “रयणावली” या देशीनाममाला का रचना काल डा बूलर कुमारपाल के राज्यकाल के प्रारम्भ में मानते हैं । लेकिन उनका कहना है कि समस्त व्याख्या एवं उदाहरणों सहित “रयणावली” की रचना वि स 1214-15 (1159 ई) के लगभग हुई होगी ।⁷

-
1. लाइफ ऑफ हेमचन्द्र, पृ० 18
 2. काव्यानुशामन-सूचिका पृ० 328
 3. लाइफ ऑफ हेमचन्द्र, पृ० 18
 4. वही, पृ० 19
 5. वही, पृ० 19
 6. वही, पृ० 19 से 36
 7. वही, पृ० 37

कुमारपाल के प्रारम्भिक शासनकाल में केवल "रयणावली" की कारिकाओं का निर्माण हुआ रहा होगा। व्याख्या और उदाहरण वाद के होंगे। योगशास्त्र और वीतरागस्तोत्र के मूल पाठ की रचना डा. वूलर विस 1216 (1160 ईसवी) में मानते हैं। इसकी व्याख्या कुछ वर्षों बाद लिखी गयी होगी।¹

त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित की रचना विस 1216-1229 (1160-1173) में हुई होगी। द्वयाश्रय काव्य के अन्तिम पाँच सर्गों प्राकृत द्वयाश्रय काव्य या "कुमारपाल चरित" की रचना का भी यही समय रहा होगा। प्रमाण मीमांसा की रचना भी इसी समय के बीच हुई होगी।

संक्षेप में आचार्य हेमचन्द्र की रचनाओं को तिथिक्रम की दृष्टि में दो भागों में बाटा जा सकता है। (1) सिद्धराज जयसिंह के शासनकाल में की गयी रचनाएँ इसके अन्तर्गत शब्दानुशासन, उनके प्रसिद्ध दो स्तुत के कोष-ग्रन्थ तथा द्वयाश्रय-काव्य के तेरह सर्ग रखे जा सकते हैं। (2) कुमारपाल के शासनकाल में की गयी रचनाएँ—इसके अन्तर्गत देशीनाममाला, निघण्टुकोश, प्राकृत द्वयाश्रयकाव्य, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, प्रमाण मीमांसा, योगशास्त्र, वीतरागस्तुति आदि रखे जा सकते हैं।

आचार्य हेमचन्द्र एक मिद्ध पुरुष थे। अपने जीवन काल में उन्होंने जितने विपुल वाङ्मय की रचना की वह भारतीय साहित्य परम्परा के लिए अनूठा उदाहरण है। उन्होंने जिस किसी विषय को उठाया समस्त अंगों सहित उसका अच्छी तरह प्रतिपादन किया। उनकी इस अद्भुत प्रतिभा एवं दुर्लभ मनोयोग को देखकर उनकी कलिकालसर्वज की उपाधि सर्वथा उचित दिखायी देती है। भारतीय साहित्य परम्परा आचार्य हेमचन्द्र सूरि की चिर श्रृंगारी रहेगी।

— — — — —

देशीनाममाला : स्वरूप-विवेचन

आचार्य हेमचन्द्र एक महान् भाषाविद् थे। उन्होंने भाषा विवेचन से सम्बन्धित कोई भी समस्या अधूरी नहीं छोड़ी। संस्कृत भाषा का व्याकरण लिखने के बाद उन्होंने प्राकृत तथा अपभ्रंश का व्याकरण लिखकर इस क्षेत्र में स्ववैशिष्ट्य का प्रतिपादन किया। उन्होंने इस व्याकरण की पूर्ति के लिए बाद में धातुपाठ, उणादि प्रकरण, लिङ्गानुशासन आदि भी जोड़ा। इतना कर लेने पर भी वे रुके नहीं। उन्होंने भाषा में प्रयुक्त होने वाले शब्दों का अनुशासन पूर्ण करने के लिए कुछ कोश भी लिखे।¹ “देशीनाममाला” एक ऐसा ही कोशग्रन्थ है जिसकी रचना आचार्य ने अपने व्याकरण ग्रन्थ “सिद्ध हेमशब्दानुशासन” के अष्टम अध्याय² की पूर्ति के लिए की। इस बात का उल्लेख वे “देशीनाममाला” के अष्टमवर्ग की अन्तिम कारिका और उसकी व्याख्या में स्पष्ट रूप में कर देते हैं—

इयं रयणावलिणामो देशीसद्धारणं सगहो एसो ।

वायरणसेसलेसो रइओ सिरि हेमचन्द्र मुनिवइणा ॥

दे०ना० 8177, पृ 77

इत्येष देशी शब्द सग्रह स्वोपज्ञशब्दानुशासनाष्टमाध्यायशेषलेशो रत्नावलीनामाचार्य श्री हेमचन्द्रेण विरचित इतिभद्रम् ।”

आचार्य कृत प्रस्तुत देशीकोश ही इस अध्याय की चर्चा का प्रमुख विषय है।

1. अभिधानचिन्तामणि 2. अनेकार्थ संग्रह, 3. निघण्टुशेष 4. ‘रयणावली’

2. जो प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं के व्याकरण का आख्यान करता है।

देशीनाममाला—नामकरण की समस्या:—

देशीनाममाला के स्वरूप एवं उसकी विषय-वस्तु का विवेचन प्रस्तुत करने के पहले इसके नामकरण की समस्या सुलझा लेना समीचीन होगा। जहाँ तक आचार्य हेमचन्द्र का सम्बन्ध है उन्होंने इस ग्रन्थ के दो नाम दिये हैं—(1) देसीसद्सगहो (देसी शब्द सग्रह) (2) रयणावली (रत्नावली)।

प्रस्तुत कोश के प्रथम मार्ग की दूसरी ही कारिका में आचार्य कहते हैं—

णीसेनदेमिपरिमल पल्लवि अकुहलाउलत्तेण ।

विरइज्जइ देसीसद्सगहो वण्णकमसुहओ ॥

—दे०ना० 1। 2। पृ० 2

इन कारिका में वे ग्रन्थ का नाम “देसी सद्सगहो” लिखते हैं। इसी प्रकार ग्रन्थ की समाप्ति के समय अन्तिम कारिका से दोनों ही नामों का उल्लेख मिलता है—

इयं रयणावलिणामो देसी सद्दाण सगहो एसो ।

....

परन्तु इन दो नामों के अतिरिक्त प्रत्येक अध्याय की समाप्ति के बाद लिखी गयी पुष्पिकाओं में “देशीनाममाला” नाम भी मिलता है। प्रथमवर्ग की पुष्पिका को छोड़कर लगभग सभी पुष्पिकाएँ एक समान हैं। इस वर्ग की पुष्पिका में “स्वोपज्ञ” शब्द अधिक जुड़ गया है—

“इत्याचार्य श्री हेमचन्द्र विरचिताया स्वोपज्ञ देशीनाममालाया प्रथमोवर्ग ।”
ग्रन्थ वर्गों की समाप्ति पर दी गयी पुष्पिकाएँ इस प्रकार हैं—

“इत्याचार्य श्री हेमचन्द्र विरचिताया देशीनाममालाया वर्ग ।”
अन्तु ! हम देखते हैं कि इस ग्रन्थ के तीनों ही नामों का उल्लेख ग्रन्थ के अन्तर्गत ही हुआ है। परन्तु प्रश्न यह उठता है कि एक ही ग्रन्थ के तीन नाम क्यों दिये गये ? क्या वे तीनों नाम सार्वक हैं ? इन प्रश्नों का उत्तर अत्यन्त सरल होते हुए भी कुछ गुनियो में भरा हुआ है। जहाँ तक “देशीशब्दसग्रह” नाम का प्रश्न है, यह निर्विवाद रूप से ग्रन्थ का उचित नामकरण है। “रयणावली” नाम भी ग्रन्थ में निबद्ध कारिकाओं की महत्ता एवं उदाहरण के रूप में आयी हुई आर्याओं के साहित्यिक मोन्दर्य को देखते हुए, लाक्षणिक होते हुए भी सर्वथा उपयुक्त है। परन्तु पुष्पिकाओं में आया हुआ “देशीनाममाला” नाम सर्वथा भ्रामक है। प्रथम तो यह स्वयं आचार्य द्वारा दिया गया नाम नहीं है क्योंकि ग्रन्थों की पुष्पिकाएँ प्रतिलिपिकारों द्वारा लिखी होने

1. 1938 ई. आन्ध्र गणराज्य में प्रकाशित तथा डॉ. पिण्डल द्वारा प्रकाशित ‘देशीनाम-माला’ का द्वितीय संस्करण।

की अधिक सम्भावना रहती है। अतः पुष्पिका में आया हुआ यह नाम हो सकता है प्रतिलिपिकारों के द्वारा लिखा गया हो। दूसरे आचार्य हेमचन्द्र जैसा प्रसिद्ध भाषा-विद् उस प्रकार के विवादास्पद नामों से सावधान भी रहेगा। अब इस नाम से उत्पन्न होने वाले भ्रमों का विवेचन कर लेना भी समीचन होगा।

व्याकरण शास्त्र के अन्तर्गत भाषा में प्रयुक्त होने वाले शब्दों के चार विभाग किये गये हैं (1) नाम (सज्ञा), (2) आख्यात (क्रिया), (3) निपात (4) अव्यय। इस विभाजन को ध्यान में रखकर यदि हम उपर्युक्त ग्रन्थ के नामकरण पर विचार करें तो उसे केवल नाम (सज्ञा) पदों का ही कोश होना चाहिए। परन्तु ग्रन्थ में विवेचित शब्दों को देखने से पता चलता है कि इसमें अनेकों आख्यात पद भी आये हैं। अतः सिद्धान्त यह नामकरण भ्रम पैदा करने वाला है। आचार्य हेमचन्द्र इन आपत्तियों से परिचित थे अतः उन्होंने पूरे ग्रन्थ में कहीं भी यह नाम नहीं दिया। उनके द्वारा दिये गये दोनों नाम ग्रन्थ का स्वरूप स्पष्ट रूप से संकेतित करते हैं।

अब देखना यह है कि “पुष्पिका” में ग्रन्थकार से अलग हटकर नया नाम क्यों दिया गया? इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए हमें हेमचन्द्र के पहले के कोश साहित्य की ओर दृष्टिपात करना होगा। आचार्य हेमचन्द्र ने अपने इस कोश ग्रन्थ में कई देशी कोश के निर्माताओं का उल्लेख किया है। इन्हीं में धनपाल भी एक हैं। इनका एक ग्रन्थ ‘पाइअलच्छी’¹ या “पाइअलच्छीनाममाला” के नाम से प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ की रचना वि०स० 1029 (972 ई.) में द्वारा नगरी में हुई। प्रारम्भ में ही ग्रन्थकार बताता है कि उसने इस ग्रन्थ की रचना अपनी छोटी “बहिन” “अवन्ति सुन्दरी” को शब्द ज्ञान कराने के लिए की है। ग्रन्थ के प्रथम श्लोक में ही उसने इसे ‘नाममाला’ कहकर सम्बोधित किया है। 278वें श्लोक में वह इसे ‘देसी’ भी बताता है परन्तु इसमें केवल एक चौथाई ही देशी शब्द हैं। धनपाल की इस ‘पाइअलच्छी नाममाला’ से हेमचन्द्र की ‘रयणावली’ के प्रतिलिपिकार अवश्य ही परिचित रहे होंगे। जिस प्रकार धनपाल ने अपने प्राकृत शब्दों के सकलन ग्रन्थ को ‘नाममाला’ कहा उसी प्रकार सम्भवतः ‘रयणावली’ के प्रतिलिपिकारों ने भी देशी शब्दों के इस सकलन ग्रन्थ को ‘देशीनाममाला’ नाम दे दिया होगा। उनका ध्यान परम्परा में प्रचलित शब्द पर अधिक गया होगा। इस शब्द (नाम) के व्याकरणालम्ब्य अर्थ को उन्होंने ध्यान में न रखा होगा। इस प्रकार ‘देशीनाममाला’ नामकरण में प्रयुक्त ‘नाम’

1 आरम्भ में यह पुस्तक वेर्गेंस वाइ चेने त्सूर कुण्डे डेर इण्डोगर्मानिशन् स्पाखन 4,20 से 166 ए तक में प्रकाशित हुई थी। इसके बाद गोएटिंगन से 1878 में पुस्तक रूप में छपी। बाद में गिबोर्ग वूलर ने आलोचनात्मक टिप्पणी सहित प्रकाशित किया।

शब्द 'सज्ञापद' मात्र का वाचक न होकर 'शब्द' मात्र के वाचक नामकरण में भी ग्रहण किया गया है। यह बात परवर्ती कोशों के नामकरण में भी देखी जा सकती है। 'नाममाला' पद आगे चलकर 'शब्दकोश' का वाचक भी बन गया।

इस नामकरण के समर्थन में दूसरा तर्क यह भी दिया जाता है कि कोश-ग्रन्थों में चू कि सज्ञापद अधिक सकलित होते हैं अतः उनकी प्रधानता के आधार पर यह नामकरण किया गया होगा—'प्राधान्येनव्यपदेशा भवन्ति ।'

डा० पिशेल¹ और मुरलीधर वनर्जी² प्रस्तुत ग्रन्थ का 'देशीनाममाला' नाम अधिक उचित मानते हैं। अतः इन दोनों विद्वानों ने अपने द्वारा सम्पादित ग्रन्थ का नाम 'देशीनाममाला' ही रखना उचित समझा है। इन विद्वानों का मत है कि यह नाम अत्यधिक स्पष्ट और क्षेत्र विस्तार में 'देशीशब्दसंग्रह' से कहीं अधिक है। 'देशी-शब्दसंग्रह' में आया हुआ 'शब्द' पद 'नाम' और 'घातु' दोनों का समाहार कर लेता है जबकि आचार्य हेमचन्द्र 'घातु' पदों को इस कोश के अन्तर्गत नहीं ग्रहण करते। प्रथम वर्ग की तृतीय गाथा (कारिका) की संस्कृत व्याख्या में वे लिखते हैं—
'... । ये तु वज्जर-पज्जर-उष्काल पिसुण-सघ-बोल्लः च व जप-सीस-
नाहादय कय्यादीनामादेशत्वेन सावितास् (सिद्ध हेमचन्द्र 4,2) तेऽन्येदेशीषु परि-
ग्रहीताग्रप्यस्माभिर्न निबद्धा ।³

उपर्युक्त मतों का यदि एकत्र समाहार किया जाये तो अद्भुत विरोधाभास दिखायी पड़ता है। यदि हेमचन्द्र को इस ग्रन्थ में 'आख्यात' पदों को बाहर ही रखना था तो उन्होंने इसके नाम में 'शब्द' पद का प्रयोग क्यों किया? दूसरी ओर यदि 'देशीनाममाला' नामकरण सार्थक है तो इसके अन्तर्गत आये हुए 'आरयःतपद' कहा जायेंगे? दोनों ही स्थितियाँ अपनी जगह महत्वपूर्ण हैं। ऐसी दशा में किसी मध्यम मार्ग का ही महारा लेना उचित होगा। आचार्य द्वारा किया गया नामकरण विवाद प्रसन्न होने हुए भी 'आर्यप्रयोग' की आड़ में छिपाया जा सकता है। हमनी और 'देशीनाममाला' नामकरण की प्रसिद्धि और कई मूलग्रन्थों पर उल्लास पाया जाना हमने आश्चित्य को निद्र करता है।⁴ परन्तु यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो आचार्य

1. पिशेल द्वारा सम्पादित और बाग्रे सम्पादित मीरिज में प्रकाशित देशीनाममाला।

2. मुरलीधर वनर्जी द्वारा सम्पादित ग्रन्थ का दैनिकमिर्जा प्रेस में प्रकाशित देशीनाममाला।

3. देशीनाममाला-द्वारा सम्पादित पिशेल । 3 व्याख्या पृ० 3।

4. "I have called the work देशीनाममाला properly it ought to have been called ख्यातनी as this is the name given to the work by Hemchandra himself (VIII 77) 'देशीनाममाला' it is termed in best MSS of the AE and in the margin of the single folios of H

हेमचन्द्र जैसा प्रकाण्ड भाषाविद् जिस बात की प्रतिज्ञा करता है उसका निर्वाह भी करता है। पिशेल प्रश्रुति विद्वानों ने आचार्य पर यह आक्षेप किया है कि उन्होंने अनेकों देशी आख्यात पदों का आख्यान करते हुए भी स्वीकार नहीं किया। इस विवाद को दूर करने के लिए मेरी विनम्र सहमति है कि आचार्य ने यदि कहीं 'आख्यात पदों' का प्रयोग किया भी है तो वे मूल आख्यात पद न होकर 'कृदन्ती' पद हैं। उनका आख्यान सज्ञा या विशेषण पद के रूप में है न कि 'आख्यात पद' के रूप में, एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

मोरे अल्लल्लो कुक्कुडे अलपो अयालि दुद्दिणये
विण्णेहम्मि अअलो अज्झस्स सविअमत्तए अण्ह ॥ 1 13

इस कारिका में 'अज्झस्स' पद यद्यपि धात्वादेश है—आचार्य इसे स्वीकार भी करते हैं— . . . अज्झस्स आकुन्टम् । अय धात्वादेश । अज्झसइ । अज्झस्सिअ । इत्यादि प्रयोगादर्शनात् । पूर्वाचार्यानिुरंधात्त्विह निबद्ध ... 1 13 व्याख्या । परन्तु प्रस्तुत कारिका में इसका प्रयोग एक विशेषण पद के रूप में हुआ है। इसी प्रकार अन्य 'आख्यात पदों' की भी स्थिति है यदि इस दृष्टि से देखा जाये तो प्रतिलिपिकारों द्वारा लिखा गया (सम्भावित) तथा डा० पिशेल और मुरलीधर वनर्जी द्वारा स्वीकार किया गया 'देशीनाममाला' नाम सर्वथा सार्थक और विस्तृत अर्थ देने वाला है ।'

देशीनाममाला का रचनाकाल

अन्त साक्ष्य — 'देशीनाममाला' की रचना आचार्य हेमचन्द्र ने अपने प्राकृत शब्दानुशासन (हेमशब्दानुशासन का 8वा अध्याय) के पूरक ग्रन्थ के रूप में किया है। इसे वे 'देशीनाममाला' के अष्टम सर्ग की अन्तिम कारिका की व्याख्या में स्पष्ट कर देते हैं—

“इत्येष देशीशब्द सग्रह स्वोपज्ञशब्दानुशासनाष्टमाध्यायशेषलेशो रत्नावली नामाचार्य श्री हेमचन्द्र विरचित इति भद्रम् ।”

इसी आशय की बात वे ग्रन्थ के प्रारम्भ में प्रथम वर्ग की प्रारम्भिक आर्या की व्याख्या में करते हैं—

In I-2 and VIII-77 it is styled देशीशब्दसग्रह a name which is also intimated by the MSS B D C F G I as they call the Vritti देशीशब्दसग्रहवृत्ति, रत्नावली being too unexpressive a name and देशीनाममाला the usual appellation of works of the kind. I have followed the best Mss

—R Pishel Deshinammala Introduction P 9.

समग्रशब्दानामनुशासने चिकीर्षिते सस्कृतादि भाषाणां पण्णां शब्दानुशासने सिद्ध हेमचन्द्र नाम्नि सिद्धि उपनिबद्धा । इदानीं लोपागमवर्णं विकारादिना क्रमेण पूर्वं आराधितपूर्वा देश्या शब्दा अवशिष्यन्ते । तत्संग्रहार्थमयमारम्भ । इति उल्लेखो के आचार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि देशीनाममाला की रचना अपने विभागो महित सिद्ध हेमशब्दानुशासन तथा सस्कृत के कोशो अभिधान चिन्तामणि, अनेकार्थ संग्रह आदि के हो जाने के बाद हुई । सिद्ध हेमशब्दानुशासन की रचना सिद्धराज की मृत्यु के पहले हो चुकी थी । सिद्धराज की मृत्यु वि.सं. 1199 में हुई थी इसके बाद ही कुमारपाल के प्रारम्भिक शासनकाल में हेमचन्द्र के अन्य कोश ग्रन्थो का समय रखा जा सकता है । जहां तक देशीनाममाला की रचना का सम्बन्ध है यह अवश्य ही कुमारपाल के शासनकाल में लिखी गयी होगी । पूरे ग्रन्थ में आयी हुई उदाहरण की आर्याओ में 105 आर्याएँ कुमारपाल के यश और शौर्य वर्णन से सवर्णित हैं । अतः यह निश्चित हो जाता है कि “देशीनाममाला” की रचना अभिधान चिन्तामणि के बाद और काव्यानुशासन के पहले हुई होगी ।

वहिसाक्ष्य—डा० वूलर ने अपने ग्रन्थ “लाइफ आफ हेमचन्द्र” में आचार्य हेमचन्द्र की रचनाओ के तिथि निर्धारण पर विस्तारपूर्वक विचार किया है । डा० वूलर हेमचन्द्र के दोनो कोशो अभिधानचिन्तामणि और अनेकार्थ संग्रह को सिद्धराज जयसिंह की मृत्यु (वि० सं० 119०) के पहले रचित बताते हैं ।¹ सिद्धराज की मृत्यु के बाद और कुमारपाल के शासन काल में वे इन दोनो कोश ग्रन्थो के विभिन्न पृष्ठों का निर्माण बताते हैं । उनके अनुसार “शेषाख्यानमाला² जो कि अभिधान चिन्तामणि का पूरक ग्रन्थ है³ और परम्परा में प्रसिद्ध हेमचन्द्र द्वारा लिखे गये तीन निष्पटु कोश तथा खण्डावली (देशीनाममाला) की मूल गाथाएँ—ये सभी कुमारपाल के शासन काल के प्रारम्भिक काल में लिखे गये होंगे । डा० वूलर की यह दृढ़ मान्यता है कि नन्कान व्याख्या और उदाहरण की आर्याओ सहित ‘खण्डावली’ या देशीनाममाला की रचना वि.सं. 1214-15⁴ (1159 ई०) में हुई होगी । डा० वूलर का यह मत बहुत कुछ मान्य भी है । ‘खण्डावली’ में कुमारपाल से सम्बन्धित उदाहरण की आर्याएँ उनके शौर्य और पराक्रम का वर्णन जिस प्रशंसा के साथ करती हैं, उन प्रशंसा के योग्य बनने में मिहामन प्राप्त करने के बाद कुमारपाल को अवश्य ही कुछ दिन लगे होंगे । अतः साक्ष्य में मिलाने पर भी वूलर

1 माधव आनंद हेमचन्द्र, इतिहास द्वायमेयन, पृ० 18

2 वही, पृ० 36

3 इसमें आदि हुए कई पर दास्य प्रमाण वृत्त संकलनो में लिखे गये हैं ।

4 माधव आनंद हेमचन्द्र, इतिहास द्वायमेयन, पृ० 37

का यह बहुत कुछ उचित लगता है। 'शब्दानुशासन' सम्बन्धी ग्रन्थों से सम्बन्धित आचार्य हेमचन्द्र की ग्रन्थमाला की अन्तिम कड़ी के रूप में इस ग्रन्थ की रचना हुई है। आचार्य स्वयं ही उस तथ्य को यत्र-तत्र उल्लिखित करते चलते हैं। 'रयणावली' की रचना तक आचार्य हेमचन्द्र का भाषाविद् का व्यक्तित्व स्थिर हो जाता है। इसके बाद उनका आचार्य का व्यक्तित्व प्रमुख रूप धारण करने लगता है। जहाँ तक आचार्य का कुमारपाल के जीवन से सम्बन्ध है। वे वि. स. 1216¹ के बाद से उसके निकट सम्पर्क में आने लगे थे। अतः इसी के आस पास इस ग्रन्थ की सम्पूर्ण रचना का समय निर्धारित किया जाना उचित है।

परवर्ती व्याकरणकारों का उल्लेख

जहाँ तक वहिसाक्ष्य से सम्बन्धित हेमचन्द्र के समकालीन या उनके परवर्ती ग्रन्थों का सम्बन्ध है। ये सभी उनकी रचनाओं की क्रमिक चर्चा करते हुए भी उनका कोई निश्चित समय नहीं देते। स्वयं आचार्य हेमचन्द्र भी अपने ग्रन्थों का क्रम तो उल्लिखित कर देते हैं परन्तु कहीं भी उन्होंने निश्चित तिथि देने का प्रयास नहीं किया। केवल डा० वूलर ने ही इस दिशा में प्रयास किया है जो स्तुत्य भी है। डा० वूलर के मतों को लेकर काव्यानुशासन की भूमिका में डा० पारिख ने कुछ आलोचनार्थे अवश्य की हैं परन्तु उनकी नवीन उपलब्धि कुछ भी नहीं है।

देशीनाममाला की मूलप्रतिया

आचार्य हेमचन्द्र के इस कोश ग्रन्थ की सर्वप्रथम सूचना डा० वूलर ने 1874 में इण्डियन एक्टीविटी भाग 2, पृ० 17 पर दी। उनकी यह सूचना अपने द्वारा प्राप्त की गयी 'सी' (C) मूलप्रति के आधार पर थी। अपनी अथक खोजों के आधार पर उन्होंने 1877 ई० में डा. पिशेल के सहयोग से इस ग्रन्थ का प्रकाशन कार्य प्रारम्भ किया। इन दोनों विद्वानों के सतत प्रयत्न के परिणामस्वरूप 1880 ई० में 'वाम्बे एजुकेशन सोसायटी प्रेस' से देशीनाममाला का प्रकाशन हुआ। बाद में 1938 में इसका द्वितीय संस्करण महाराजा संस्कृत कालेज विजयानगरम् के प्रधानाचार्य प्रवस्तुवेङ्कटरामानुजस्वामी एम. ए. द्वारा लिखी गई विस्तृत भूमिका,

1 डा० वूलर ने द्वयाश्रय काव्य के उत्तरार्द्ध भाग 'या' कुमारपालचरित' की रचना का काल 1216 वि. स. के बाद बताया है। इस ग्रन्थ से विदित होता है कि कुमारपाल और हेमचन्द्र का निकट का सम्बन्ध था।

आलोचनात्मक टिप्पणियों तथा शब्दकोश के साथ प्रकाशित हुआ ।¹

डा० बुल्हर और आर. पिशेल के सम्मिलित सहयोग से प्रकाशित 'देशीनाम-माला' के प्रथम संस्करण के तैयार करने में निम्नलिखित मूल प्रतियों की महत्त्वता ली गयी है । इनका उल्लेख आर. पिशेल ने स्वयं ही ग्रन्थ के भूमिका भाग में कर दिया है ।

(1) ए (A) हस्तलिखित प्रति—यह मूल प्रति बीकानेर में प्राप्त हुई थी । इसकी सख्या 271 है । केवल 17 पृष्ठ हैं । इसका समय सोमवत् 1549 उल्लिखित है । इसमें केवल मूलपाठ है और उपयोगिता की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रति कही जा सकती है ।

(2) बी (B) हस्तलिखित प्रति—इस प्रति पर 724 सख्या दी हुई है । यह सुस्पष्ट अक्षरों में लिखी गयी है और 'वाढवान' (Vadhavan) नामक स्थान से प्राप्त हुई है । इसमें कुल पृष्ठ सख्या 90 दी गयी है । परन्तु 53 के दो बार लिखे होने से इसकी सही पृष्ठ सख्या 91 हो जाती है । इसमें मूल पाठ के साथ ही टीका भाग भी है । पूरी प्रति में तिथि का कोई निर्देश नहीं है । कुल मिलाकर यह अत्यन्त शुद्ध होते हुए भी 'च' और 'व', 'थ' और 'घ' 'ज्झ' और 'व्म', 'च्च' और 'त्य', 'द्', 'घ', 'ठ्ठ', 'ट्ठ', 'ड्ड' में लगातार परिवर्तन होते रहने के कारण अधिक विश्वास योग्य नहीं है ।

(3) सी (C) प्रति—इसकी एक नवीन प्रति डा बुल्हर के लिए अहमदाबाद में तैयारी की गयी थी । डा० बुल्हर ने इसी के आधार पर इण्डियन एण्टिक्विरी भाग-2, पृष्ठ 17 पर प्रथम बार इस ग्रन्थ का परिचय दिया था । इस पर लिखी गयी सख्या 184 है । ग्रन्थाकार (पोथी के समान) 315 पृष्ठ है ।

इसमें टीका और मूलपाठ दोनों ही हैं । इसका समय सख्या 1857 है । यह यद्यपि बहुत सावधानी से तैयार की गयी है फिर भी ऐसा लगता है जैसे प्रतिलिपिकार जैन पाण्डुलिपि पढ़ने का अभ्यस्त न हो क्योंकि जैन लिपि में लिखे गये वर्ण प्रायः गलत पढ़े गये हैं । किसी दूसरे व्यक्ति ने यद्यपि इन भूलों के सुधारने की कोशिश की है परन्तु वह कुछ ही भूलों को सुधारने में सफल हो सका है ।

1. आर० पिशेल के प्रथम संस्करण में निहित असावधानियों और भूलप्रतियों की जैनलिपि को गलत पढ़ जाने के कारण उत्पन्न हुई कमियों को ध्यान में रखते हुए कलकत्ता के डा० मुरली-धर वनर्जी ने 1931 में 'देशीनाममाला' का अपने संपादकत्व में प्रकाशन कराया । डा० वनर्जी का यह संस्करण पिशेल के संस्करण से कहीं अधिक परिशोधित एवं परिमार्जित है । इसका प्रकाशन कलकत्ता युनिवर्सिटी प्रेस से हुआ था ।

(4) डी (D) प्रति—यह प्रति मारवाड में जोधपुर के निकट पाली स्थान में प्राप्त हुई थी। इसकी संख्या 270 है। कुल 32 पृष्ठ हैं। मूल पाठ और टीका दोनों ही हैं। परन्तु यह प्रति पूर्ण नहीं है। इसकी लिखावट बहुत ही खराब और अशुद्धियों से भरी हुई है।

(5) ई (E) प्रति—यह प्रति डा वुल्हर की अपनी है और उन्हें अहमदाबाद में मिली थी। इसमें केवल मूलपाठ है। पृष्ठों की संख्या 20 है। इसकी पुष्पिका में निर्माण काल 1575 दिया गया है जो सम्भवतः सम्बत् ही होगा। इसमें मूलपाठ और टीका दोनों ही हैं। यह सभी प्रतियों में अच्छी और शुद्ध है परन्तु इसके 1-19 तक के पृष्ठ गायब हैं। इस तरह यह भी अपूर्ण प्रति है। आर पिशेल के अपने द्वारा सम्पादित 'देवीनाममाला' के मूलपाठ निर्माण में इसके शेष भाग से बहुत अधिक सहायता ली है।

(6) एफ (F) प्रति—यह प्रति 'लिमडी' नामक स्थान से प्राप्त हुई थी। डा वुल्हर के सहायक पण्डितों ने इसका परिशोधन भी किया था। थोड़े से अन्तर के साथ यह 'वाढवान' में प्राप्त 'व'-प्रति से बहुत कुछ मिलती-जुलती प्रति है।

(7) जी (G) प्रति—यह बीकानेर से प्राप्त प्रति है। इसकी संख्या भी 271 है। 'ए' प्रति की ही संख्या होने के कारण पहले इसे लोगो ने 'ए' की टीका समझ लिया था। परन्तु यह उससे अलग प्रति है। मूलपाठ और टीका सहित इसमें कुल 46 पृष्ठ हैं। इसका टीका भाग अत्यन्त शुद्ध और उच्चकोटि का है। परन्तु इसके अधिकतर पृष्ठ चूहों के द्वारा खा डाले गये हैं। बीच-बीच में क्षत पृष्ठों (15, 24, 42) के अतिरिक्त अष्टम वर्ग की 21वीं गाथा के 'डमुहो' शब्द के बाद का भाग पूर्ण रूप से गायब है। इसके क्षत-विक्षत पत्रों को जोड़कर रिचर्ड-पिशेल ने लगभग सभी वर्णों को ठीक-ठाक पढ़ लिया था।

इन सात मूल प्रतियों के अतिरिक्त डा वुल्हर ने दो और भी प्रतियाँ प्राप्त की थी—

(8) एच (H) प्रति—यह प्रति 1879 में भारत सरकार के लिए अहमदाबाद से खरीदी गयी थी। इसमें कुल 62 पृष्ठ हैं। समय सम्बत् 1628 दिया गया है। इसमें मूलपाठ और टीका दोनों ही हैं। रिचर्ड पिशेल इसे बहुत असावधानी से लिखी होने के कारण महत्वहीन बताते हैं।

(9) आई (I) प्रति—यह प्रति भगवानलाल इन्द्राजी की अपनी प्रति है। मूलपाठ और टीका सहित इसकी पृष्ठ संख्या 86 है। बीच के 8-27 और अन्त में

अष्टम वर्ग की 72 गाथा के 'यदाह भरत'—वाक्य के बाद के पृष्ठ गायव हैं। पिशेल ने इस प्रति को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना है। परन्तु यह उन्हें 'देशीनाममाला' के प्रथम सस्करण के प्रकाशन के बाद प्राप्त हुई थी।

पिशेल द्वारा उल्लिखित ये सभी मूलप्रतियाँ जैन लिपि में लिखी गयी हैं। इसलिये उन्हें च, व, व, त्य और च्छ, थ और घ वम तथा ज्झ, द्द, द्द, द्द, द्द, द्द आदि जहाँ भी आये हैं, इन्हें शुद्ध शुद्ध पढ़ने में बहुत अधिक कठिनाई का सामना करना पड़ा है।

पिशेल द्वारा उल्लिखित उपर्युक्त मूल प्रतियों के अतिरिक्त 'देशीनाममाला' के द्वितीय सस्करण की भूमिका में प्रवस्तु वेङ्कटरामानुजस्वामी ने 'सात' और प्रतियों का उल्लेख किया है। ये प्रतियाँ उन्हें ओरिएण्टल रिमर्च इन्स्टीट्यूट पूना के अधिकारियों से मिली थी। इनमें एक 'देशीनाममाला' के शब्दों की वर्णक्रम में बनायी गयी सूची थी। इसमें पहले दो अक्षर वाले और फिर तीन अक्षरों वाले और फिर इसी तरह क्रम से 8 अक्षरों (केवल 4 शब्द) तक के शब्द उमी क्रम से सङ्कलित हैं जिस क्रम से मूल पाठ में उनका उल्लेख हुआ है। इसका प्रारम्भ इस प्रकार होता है—

॥60॥ श्री वीतरागायनम ॥ अहं ॥ श्री हेमचन्द्र सूर्युक्त देश्य शब्द समुच्चयात् । अकाराद्यादय शब्दा लिख्यते द्विस्वरादिका ॥1॥ श्रीदीदूदेदनुस्वाराद्य यत्रस्यादियोगत शब्दनामक्षराधिक्यमपिकपत्वयादिह ॥2॥ अथ द्विस्वरा । अज्जो जिन । गौरीति आ

इसके अन्त में—

श्रीहेमसूरेभिधानकोशाद्दृश्यात्पदान्यर्थ समन्वितानि । उद्धृत्य वर्णक्रमतोऽखिलानि लिलेप सूरिर्विमलाभिधान ॥1॥ वाच जाड्यतमश्छन्नान् ग्रन्थान्तर गृहस्थितान् । अनेन देश्य दीपेन पश्यत्वर्थान् जना स्फुटान् ॥2॥ ग्रन्थाग्र 1200 ॥ इस सूची में केवल 18 पृष्ठ हैं। सख्या 857 तथा समय 1886-92 हैं। प्राप्त मूल प्रति अधिक प्राचीन न होने के कारण विश्वसनीय एवं उपयोगी नहीं है।

दूसरी प्रतियाँ (सख्या 724, 1875-76 और सख्या 281, 1880-81) लगभग प्रथम सस्करण के प्रकाशन में पिशेल द्वारा प्रयुक्त बी (B) ई (E) प्रतियों के समान ही हैं। एक तीसरी प्रति (सख्या 159, 1881-82) प्रथम सस्करण तथा डा० वुल्हर द्वारा प्रयुक्त सी (C) प्रति का मूल रूप मात्र है। इन चार प्रतियों के अतिरिक्त प्रवस्तु रामानुजस्वामी ने क्रमशः एक्स (x) वाई (y) और जेड (z) इन तीन अन्य प्रतियों का भी उल्लेख किया है उनका विवरण इस प्रकार है —

एक्स (X) प्रति—

मूल पाठ और टीका सहित सुस्पष्ट अक्षरो में लिखी हुई यह एक अपूर्ण मूल प्रति है। इसमें दी गई संख्या 856 (1886-92) है। पत्रों की उल्लिखित संख्या 45 है परन्तु 14 और 15 एक ही पृष्ठ पर लिख जाने के कारण इसकी वास्तविक पृष्ठ संख्या 44 ही ठहरती है। इसका प्रतिलिपि कार जैन लिपि का अभ्यस्त नहीं मालूम पड़ता अतः उसने भूलें तो की ही हैं—साथ ही बिना कुछ लिखे ही खाली स्थान छोड़ दिया है। इसमें कोई तिथि नहीं दी गयी है। कुछ ऐसी गिनतियाँ लिखी गयी हैं जो अत्यन्त अस्पष्ट और सर्वथा अवोध्य हैं—जैसे अन्त में—भा 1, पृ 19 (यह लिखकर काट दिया गया है फिर प्र० 19 (?) लिख दिया गया है। यह प्रति प्रथम सस्करण की सी (C) प्रति से निकटतम रूप से सम्बन्धित है।

वाई (Y) प्रति—

यह सम्पूर्ण मूलपाठ से युक्त है। टीका नहीं है। इसमें दी गयी संख्या 397, (1895-98) है। पृष्ठों की संख्या 21 है। यह बहुत सावधानी से लिखी गयी है, अतः भूलें कम हैं। कहीं-कहीं प्रतिलिपिकार च, व और ब, उ और ओ, छ तथा त्थ के पढ़ने में प्रमाद अवश्य कर गया है फिर भी सामान्य रूप से शब्दों का आख्यान शुद्ध रूप से किया गया है। इसके हासिये में कुछ टिप्पणियाँ दी हुई हैं जो प्रायः देशी शब्दों का संस्कृत में अर्थ द्योतित करती हैं। इसमें दी गयी तिथि सस्वत् 1636 शुक्र, फाल्गुन शुक्लपक्ष 5 मी है। यह प्रति जिनचन्द्र सूरि के शिष्य पंडितरत्न निधान गणि के द्वारा लिखी गयी थी। इस मूल प्रति का सम्बन्ध प्रथम सस्करण में प्रयुक्त बी (B) और एफ (F) प्रतियों से है।

जेड (Z) प्रति—

यह एक मूलपाठ और टीका सहित प्रति है। इस पर दी गयी संख्या 438, 1882-83 है। इसकी पृष्ठ संख्या साठ (60) है। परन्तु यह अपूर्ण प्रति है। अष्टम वर्ग की 12वीं गाथा के 'साउलिअ' शब्द के बाद यह समाप्त हो जाती है। 40वें पृष्ठ से लेकर प्रत्येक पन्ने का दाहिना भाग चूहों द्वारा खा डाला गया है। यह एक सुस्पष्ट वर्णों में लिखी गयी प्रति है और बहुत कुछ प्रथम सस्करण में उल्लिखित जी (G) प्रति से मिलती जुलती प्रति है। अन्तिम पृष्ठों के खो जाने से इसकी तिथि का कुछ भी पता नहीं चलता। यह प्रति लगभग दो सौ वर्ष पुरानी है। इसका लिपिकार भी जैनलिपियों के पढ़ने में अभ्यस्त नहीं लगता क्योंकि इस प्रति में भी जैनलिपियों के पढ़ने में वही अशुद्धियाँ की गयी हैं जिनका पहले उल्लेख किया जा चुका है।

उपर्युक्त मूल प्रतियों के आधार पर देशीनाममाला के अब तक दो संस्करण निकल चुके हैं। इन दोनों संस्करणों की भूलों और भ्रान्तियों को ध्यान में रखते हुए कलकत्ता विश्वविद्यालय के श्रेष्ठ विद्वान् श्री मुरलीधर वनर्जी ने 1931 में कलकत्ता यूनिवर्सिटी प्रेस से अपने सम्पादकत्व में इसका पुनः प्रकाशन कराया। उन्होंने इसका प्रकाशन दो भागों में कराया। प्रथम भाग एक विस्तृत भूमिका सहित मूल पाठ और व्याख्या तथा आलोचनात्मक टिप्पणियों से युक्त है। इसके द्वितीय भाग में उन्होंने प्रथम भाग का अंग्रेजी अनुवाद प्रस्तुत किया है। मुरलीधर वनर्जी द्वारा सम्पादित 'देशीनाममाला' का प्रस्तुत संस्करण अत्यन्त परिशुद्ध और पिघोल के संस्करण से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। इस संस्करण की महत्ता इस बात में और भी है कि हेमचन्द्र द्वारा देशी शब्दों के उदाहरण के रूप में लिखे गये जिन उदाहरणों को पिघोल ने निरर्थक और महत्त्वहीन कहकर छोड़ दिया था उनमें श्री वनर्जी ने पिघोल की भ्रान्तियों को सुधारते हुए अद्भुत काव्य सौन्दर्य देखने का प्रयास किया है। इस संस्करण की भूमिका तो अत्यन्त विस्तृत और विद्वतापूर्ण है। प्रथम भाग के परिशिष्ट के रूप में अकारादि क्रम से दी गयी शब्दों की सूची अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।¹

'देशीनाममाला' का एक संस्करण गुजराती मभा, वम्बई द्वारा वि.सं. 2003 (1946 ई.) में प्रकाशित किया गया है।² यह संस्करण मुझे देखने को नहीं मिला। पिघोल के संस्करण के प्रभाव के कारण सम्भवतः इसका अधिक प्रचार नहीं हो पाया।

देशीनाममाला का स्वरूप और उसकी विषयवस्तु

आचार्य हेमचन्द्र का देशी शब्दों का यह कोश भारतीय आर्य भाषाओं के शब्दों की सागोपाग आत्मकया प्रस्तुत करता है। मध्यकालीन भा० आ० भा० का शब्द भण्डार तीन प्रकार के शब्दों से युक्त है—तत्सम तद्भव और देशी। तत्सम शब्द वे हैं जिनकी ध्वनियाँ संस्कृत शब्दों के ही समान रहती हैं। उनमें कोई विकार नहीं होता जैसे नीर, कक, कठ ताल, तीर, देवी आदि। इनके विपरीत संस्कृत के वे शब्द जो वर्णान्तर वर्णलोप और वर्णविकार के कारण अपना स्वरूप परिवर्तित कर लेते हैं—“तद्भव” कहलाते हैं,—जैसे अग्ग ∟ अग्र, इट्ट ∟ इष्ट, घम्म ∟ घर्म, गय ∟ गज, धाण ∟ ध्यान आदि। ऐसे प्राकृत शब्द जिनमें प्रकृति प्रत्यय का निर्धारण न हो सके तथा जिनकी कोई व्युत्पत्ति सम्भव न हो, वन्कि

1 इस संस्करण के द्वितीय भाग (अनुवाद भाग) के दुर्लभ होने के कारण उसका विस्तृत विवेचन प्रस्तुत करना असम्भव है।

2 'प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' डा० नेमिचन्द्र शास्त्री, पृ० 539

परम्परा में प्रचलित अर्थ ही उन्हें व्याख्यायित कर सके, ऐसे छद्म शब्दों को "देशी" कहा गया, जैसे अग्नय = दैत्य, आकामिम = पर्याप्त, इराव = हस्ति, पलविल = घनाढ्य, चोड = विल्व आदि। "देशीनाममाला" ऐसे ही देशी शब्दों का सकलन ग्रन्थ है। आचार्य हेमचन्द्र ने परम्परा में प्रचलित एवं प्रसिद्ध 3978 शब्दों का समाहार इस ग्रन्थ में किया है।¹ उनमें सकलित शब्दों का स्वरूप निर्धारण करते हुए स्वयं ही आचार्य निम्नते हैं—

जे नववरो ण सिद्धा पमिद्धा सक्कयाहिहाणेषु ।

ण य गउण लक्खणा सत्तिमभवा ते इह णिवद्धा ॥1.3.²

जो पद न व्याकरण से व्युत्पन्न हैं और न संस्कृत कोशों में निबद्ध हैं तथा लक्षणाशक्त के द्वारा भी जिनका अर्थ सम्भव नहीं है, ऐसे शब्द इस कोश में निबद्ध किये गए हैं। वे आगे और भी स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि देशी शब्दों से विभिन्न प्रान्तों में बोले जाने वाले (नाहित्येतर या ग्रामीण) शब्दों का अर्थ नहीं लगा लेना चाहिए।

देस विसेमपसिद्धीइ भण्ण माणा अणन्तया हुन्ति ।

तम्हा अणाडपाइअपयट्ठ भामाविमेषओ देसी ॥ 4 3.

देशी शब्दों से यहाँ महाराष्ट्र विदर्भ, आभीर आदि देशों में प्रचलित शब्दों का संकलन भी नहीं सम्भव लेना चाहिए। क्योंकि देश विशेष में प्रसिद्ध शब्द अनन्त हैं। अतः उनका सकलन सम्भव नहीं है। अनादिकाल से प्रचलित भाषा ही देशी है।

इस प्रकार आचार्य हेमचन्द्र ने स्वयं ही अपने द्वारा सकलित तथा देशी कहे जाने वाले शब्दों की व्याख्या स्पष्ट रूप से कर दी है। परन्तु यदि ध्यान से देखा जाये तो इस कोश के सभी शब्द देशी नहीं हैं।³ देशी शब्दों के भ्रम में या फिर पूर्व आचार्यों की मान्यता के कारण उन्होंने देशी शब्दों के साथ ही अनेकों तत्सम और तद्भव शब्दों का सकलन भी कर दिया है। यद्यपि उन्होंने जगह-जगह "पूर्वाचार्यानुरोधात्" और "अप्रमिद्वत्वात्" जैसे वाक्यों का सहारा लिया है फिर भी कहीं-कहीं वे ऐसी भूलें कर जाते हैं जो स्वयं ही उनकी पूर्वमान्यताओं का खण्डन करती हैं। अनेकों शब्द ऐसे आये हैं जिन्हें उन्होंने अपने शब्दानुशासन (व्याकरण ग्रन्थ) में तत्सम और तद्भव बताते हुए भी इस कोश में "देशी शब्द के रूप में सकलित कर दिया है। अब तक हुई खोजों के आधार पर 'देशीनाममाला' में सकलित तत्सम तद्भव और देशी शब्दों की संख्या निम्न प्रकार से दी जा सकती है।

1. प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' डा० नेमिचन्द्र शास्त्री, पृ० 539

2. 'अपभ्रंश' प्राकृतों की ही अन्तिम कड़ी है

3. पिशेल, वनर्जी रामानुजस्वामी आदि का यही मन्तव्य है।

“तत्सम शब्द—100 ।

सणाययुक्त तद्भव—528 ।

गर्भित तद्भव 1850 ।

अव्युत्पादित शब्द (देशी) 1500 ।

... ..

कुल शब्दों की सख्या 3978

इन 1500 देशी शब्दों में केवल 800 शब्द आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में प्राप्त होते हैं । 700 शब्द आर्योत्तर भाषाओं से सम्बन्धित बताये जाते हैं । यद्यपि इनकी पूरी खोज अत्यन्त दुर्लभ कार्य है । इस प्रकार आचार्य हेमचन्द्र द्वारा स्वयं दी गयी परिभाषा के अनुसार इसमें केवल 1500 देशी शब्द हैं । शेष शब्द इस परिभाषा की सीमा के बाहर जा पड़ते हैं ।¹ इन “देशी” शब्दों के उद्भव और विकास तथा इनके स्वरूप का विवेचन प्रस्तुत प्रबन्ध के एक अलग अध्याय में प्रस्तुत किया जायेगा इस ग्रन्थ में सकलित शब्दों की विशेषताएँ मध्ये में इस प्रकार दी जा सकती हैं ।

(1) इस कोश में सकलित शब्द का आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध दिखाया जा सकता है ।

(2) ‘देशीनाममाला’ दुर्लभित शब्दों का अद्भुत सकलन ग्रन्थ है । इस बात को आचार्य ने ग्रन्थ के प्रारम्भ में स्पष्ट भी कर दिया है—

देशी दुसदर्भा. प्रायः सर्वाभिता अपि दुर्वोधा ।

आचार्य हेमचन्द्रस्तत्ता सहभतिविभजति च ॥

(3) ‘देशीनाममाला’ एक ऐसा सकलन ग्रन्थ है जिसके समान समस्त भारतीय साहित्य-परम्परा में कोई भी ग्रन्थ नहीं प्राप्त होता । ‘पाड्यलच्छीनाममाला’ जैसे ग्रन्थ यद्यपि उपलब्ध हैं फिर भी उनमें प्रचलित शब्दों का आख्यान हुआ है । यह ऐसे शब्दों का सकलन ग्रन्थ है जो अन्यत्र कहीं उपलब्ध नहीं होते ।

(4) इस संग्रह में सकलित शब्द तत्कालीन रहन-सहन और रीति-रिवाजों का सुष्ठु परिज्ञान कराने में समर्थ हैं । ग्राम्य जीवन से सम्बन्धित शब्दावली तो भारतीय ग्राम्य जीवन के स्वरूप एवं उसके विश्वासों तथा परम्परित मान्यताओं का परितः दिग्दर्शन कराने में अत्यन्त समर्थ हैं ।

(5) इस कोश में अनेकों ऐसे शब्द सकलित हैं जिनका आज तक की विकसित आर्य भाषाओं में हुआ अर्थ परिवर्तन साम्प्रतिक इतिहास की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण

1. परन्तु इस गान्यता में कोई बल नहीं । इसका खण्डन ‘अर्थगत अध्ययन’ के अन्तर्गत किया गया है ।

सिद्ध हो सकता है। अनादिकाल से प्रचलित लौकिक रीति-रिवाजों को प्रदर्शित करने वाले किन्ने ही शब्द यत्र-तत्र इस कोश में बिखरे पड़े हैं। ये शब्द केवल आर्यों की ही प्राचीन परम्परा का द्योतन करने वाले न होकर आर्योत्तर, कोल, सथाल, मुण्डा तथा द्रविड जाति के लोक व्यवहार को प्रदर्शित करने में समर्थ हैं। आजकल सामान्य जन-जीवन के बीच किन्ने ही ऐसे शब्द बिखरे पड़े हैं जिन्हें इस कोश में सचित शब्दों से मदर्भिन किया जा सकता है। इस विषय की विस्तृत चर्चा प्रस्तुत प्रबन्ध के एक अलग अध्याय में विस्तार में की जायेगी।

स्वरूप¹

‘देशीनाममाला’ का मूलपाठ अपभ्रंश के गाथा छन्द में लिखा गया है। इन गाथाओं में हेमचन्द्र ने ‘देशी’ शब्दों की गणना कराने के साथ ही उनका पर्यायवाची ‘तद्भव’ शब्द भी दे दिया है। इन गाथाओं पर उन्होंने टीका भी लिखी है। यह संस्कृत में है। इसके अन्तर्गत उन्होंने प्रत्येक ‘देशी’ शब्द का समानार्थी संस्कृत शब्द देने के साथ ही उस शब्द को ‘देशी’ मानने के पक्ष में तर्क भी दिया है। संस्कृत टीका में वे अपने और अपने से पहले के आचार्यों के मतों का उल्लेख करते हुए शब्द के रूप और उसकी देशी सज्ञा के औचित्य को विस्तारपूर्वक स्पष्ट कर देते हैं। मूल-गाथाओं की संस्कृत टीका लिखने के अतिरिक्त आचार्य हेमचन्द्र ने ‘देशी’ शब्दों को और भी स्पष्ट करने के लिये, इन्हीं शब्दों को लेकर, उदाहरण की गाथाओं की रचना की। प्रत्येक गाथा के बाद उसकी संस्कृत टीका और टीका के बाद इन शब्दों के उदाहरण के रूप में गाथाएँ यही देशीनाममाला का मूल स्वरूप हैं। इनमें एक-एक को लेकर उनका विस्तृत विवेचन करना समीचन होगा।

देशीनाममाला की गाथाएं

‘देशीनाममाला’ कुल 8 वर्गों में विभाजित है। इन आठ वर्गों में कुल 783 गाथाएँ हैं। इसका वर्ग विभाजन स्वरादि क्रम से है अर्थात् प्रथम वर्ग में ऐसे शब्दों का सकलन है जो स्वरों अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ओ से शुरू होते हैं। वर्ग के प्रारम्भ में द्व्यक्षर शब्द उसके बाद त्र्यक्षर, चतुरक्षर, पचाक्षर और इसी तरह क्रम से कही कही आठ अक्षरों तक के शब्द सकलित हैं। इनका निर्देश हेमचन्द्र स्वयं ही ‘अथ’ द्व्यक्षरा-त्र्यक्षरा इत्यादि कहकर कर देते हैं। एकार्थक और अनेकार्थक शब्दों का निर्देश भी वे करते चलते हैं।

-
1. स्वरूप की दृष्टि से ‘देशीनाममाला’ के तीन विभाग किये जा सकते हैं—(1) मूलपाठ, इसमें गाथाएँ आती हैं जो देशी शब्दों और उनके पर्याय तद्भव शब्दों का प्रत्याख्यान करती हैं। (2) टीका भाग यह संस्कृत में है। (3) उदाहरण।

द्वितीय वर्ग कण्ठप्रव्यजनवर्ग कहलाता है इसके प्रन्तर्गत क्रमशः क, ख, ग, घ व्यजनो से प्रारम्भ होने वाले 'देशी' शब्दों का सकलन किया गया है। तृतीय वर्ग में तालव्य व्यजनो च, छ, ज, झ से प्रारम्भ होने वाले शब्दों का समाहार किया गया है। चतुर्थ वर्ग मूर्धन्य वर्णों ट, ठ, ड, ढ, ण से प्रारम्भ होने वाले शब्दों से युक्त है। पञ्चमवर्ण दन्त्य त, थ, द, ध, न में प्रारम्भ होने वाले शब्दों का समूह है। षष्ठ वर्ग श्रौण्य प, फ, ब, भ, म वर्णों से प्रारम्भ होने वाले शब्दों का मकलित रूप है। सप्तम वर्ग अन्त स्थ व्यजनो य, र, ल, व तथा दन्त्य स में प्रारम्भ होने वाले शब्दों का सकलन है। अष्टम वर्ग में केवल ऊष्मवर्ण—ह से प्रारम्भ होने वाले शब्दों का सकलन हुआ है।

इस ऊपर गिनाये व्यजन वर्गों में शब्दों का आख्यान व्यजनो में निहित स्वरो के क्रम से किया गया है—जैसे कण्ठ्यवर्ग के क् से प्रारम्भ होने वाले शब्दों का आख्यान करते समय आचार्य सर्वप्रथम अकारान्त क् से प्रारम्भ होने वाले शब्दों का आख्यान करते हैं जैसे—

कल्ला कविस मज्जे कलिकल्लोला विवक्खम्मि ।

कच्च कोडुम्ब कज्जे कस्सोकच्छरो अ पड्कम्मि ॥ 2।1

इस गाथा में कल्ला, कविस, कली तथा कल्लोल, कच्च, कच्छर आदि शब्दों का आदिभूत व्यजन क् अ स्वरसयुक्त है। इसी प्रकार अन्य स्वरो से युक्त शब्दों का आख्यान करते समय वे गाथा के पहले की एक पक्ति में 'अथ' इकारादय, उकारादय एकारादय आदि कहकर निर्दिष्ट कर देते हैं। 'एकायंक और अनेकार्यक शब्दों का प्रत्याख्यान करते के पहले भी वे 'इत्येकार्या' अथ अनेकार्या आदि कहकर निर्दिष्ट करते चलते हैं। स्वर वर्ग की भाँति ही व्यजन वर्गों में भी पहले द्व्यक्षर फिर त्र्यक्षर, चतुरक्षर आदि शब्द क्रम से प्रत्याख्यायित किये गये हैं। इस प्रकार 'देशी' शब्दों और उनके पर्यायवाची 'तद्भव' शब्दों का प्रत्याख्यान करने वाली 'देशीनाममाला' की मूलपाठ से सम्बन्धित गाथाएँ स्वरूप की दृष्टि से कहीं भी दुरुह नहीं हैं। कदम-कदम पर आचार्य दुरुहताओं को मिटाने के लिए सकेत देते चलते हैं। गाथाओं के स्वरूप का निर्धारण हो जाने के बाद प्रत्येक वर्ग में निहित गाथाओं की संख्या का उल्लेख कर देना भी समीचीन होगा। इसे अग्र प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है—

1 वर्णों में निहित स्वरो का निर्देश करने के अतिरिक्त कोशकार नये व्यजन से प्रारम्भ होने वाले शब्दों का निर्देश करने में भी नहीं चूकते। च से प्रारम्भ होने वाले शब्दों का प्रत्याख्यान हो जाने पर छ से प्रारम्भ होने वाले वर्णों की शृङ्खलात करने के पहले वे लिख देते हैं—'अथ-द्वादय' यही परिपाटी उन्होंने पूरे ग्रन्थ में अपनायी है।

वर्ग सख्या वर्ग जिनमे प्रारम्भ होने वाले
शब्दवर्ग में आख्यायित है । गाथाओं की सख्या

प्रथम	स्वर वर्ण	174
द्वितीय	कठ्य वर्ण	112
तृतीय	तानव्य वर्ण	62
चतुर्थ	मूर्द्धन्यवर्ण	51
पञ्चम	दन्त्यवर्ण	63
षष्ठ	ओष्ठ्य वर्ण	148
सप्तम	अन्त म्य वर्ण	96
अष्टम	ऊष्म वर्ण	77

कुल

783

ऊपर की तालिका में दिखाये गये 8 वर्गों की 783 कारिकाओं में कुल 3978 देशी शब्दों का प्रत्याख्यान किया गया है । शब्दों की सख्या की दृष्टि से प्रथम वर्ग में लगभग 787, द्वितीय में लगभग 570, तृतीय में लगभग 327, चतुर्थ में लगभग 265 पञ्चम में लगभग 312, षष्ठ में लगभग 800 सप्तम में लगभग 825 और अष्टम में केवल 92 देशी शब्दों का उल्लेख किया गया है ।

वृत्ति या टीका भाग

‘सिद्धहेम शब्दानुशासन’ की भाँति हेमचन्द्र ने अपने इस कोश ग्रन्थ की भी टीका स्वयं ही लिखी है । ‘देशीनाममाला’ की मूल गाथाएँ प्राकृत में हैं । इन गाथाओं में निहित शब्दों के भाव को समझाने तथा ग्रन्थ को प्रामाणिक एवं महत्त्वपूर्ण सिद्ध करने के लिये उन्होंने इसकी टीका संस्कृत भाषा में लिखी । यह बात तो बिल्कुल सच ही है कि यदि हेमचन्द्र अपने इस ग्रन्थ की मूल गाथाओं पर टीका न लिखते तो इस कोश का समझना सामान्य लोगों के लिए अत्यन्त दुरूह होता । देशीनाममाला में निहित विषय अत्यन्त विवादास्पद हैं । भाषाओं के अथाह सागर में बृन्द के समान देशी शब्दों को अलग कर उनका आख्यान करना और विभिन्न विवादों से बच निकलना एक कठिन काम था । इसके लिए एक विस्तृत तर्क पूर्ण पृष्ठभूमि की आवश्यकता थी । हेमचन्द्र ने इसी भावना से संस्कृत टीका लिखी होगी । टीका को देखने से पता चलता है कि उन्होंने जितने भी शब्दों को देशी कहा है उनका कोई न कोई कारण है । और इन्हीं कारणों का स्पष्टीकरण वे अपनी संस्कृत टीका में करते चलते हैं । वे स्वयं ही बताते हैं कि परम्परा में कई ‘देशीकार’ हुए हैं परन्तु इनमें से

अधिकतर अनेकों भूलें करने वाले है। हेमचन्द्र उनकी कमियों की ओर मकेत करते हैं। यह सारा कार्य वे मूल गाथाओं की छोटी मी मीमा के भीतर नहीं कर सकते थे। एक जगह प्राचीन देशीकारो की सराहना करते हुए तथा आधुनिक (अपने सम-कालीन) देशीकारो और उनके व्याख्याताओं की अवमानना करते हुए लिखते हैं—

अधुनातन देशी काराणा तद्व्याख्यातृणाच कियन्त समोहा परिगण्यन्ते ॥

आचार्य हेमचन्द्र ने अपने इस कोश में लगभग 4000 शब्द मरुनित किये हैं। इनमें केवल 1500 शब्द ही ऐसे हैं जिन्हें 'देशी' कहा जा सकता है।¹ शेष कुछ तो तत्सम हैं, कुछ तद्भव और कुछ अर्द्धतत्सम। परन्तु आचार्य सभी शब्दों को 'देशी' ही कहते हैं। इसके लिए वे कही परम्परा का सहारा लेते हैं तो कही किसी विद्वान का। "देशीनाममाला" में मरुनित कोई भी ऐसा तत्सम या तद्भव शब्द "देशी" के रूप में संग्रहीत न मिलेगा, जिसके लिए हेमचन्द्र ने उटकर तर्क न दिया हो। इन तत्सम या तद्भव शब्दों का ग्रहण कही वे पूर्वाचार्यानुरोधात् "कही अप्रसिद्धत्वात्" तो कही (मेरी राय में) प्रमादत्वात् (यद्यपि कही वृत्ति में यह आया नहीं फिर भी कई जगह हेमचन्द्र प्रमाद कर गये हैं) करते हैं। इन सभी बातों का प्रतिपादन उन्होंने ग्रन्थ की स्तोपज्ञवृत्ति (टीका) में ही किया है।

हेमचन्द्र के इस ग्रन्थ के वृत्ति भाग की विशिष्ट महत्ता परम्परा में हुए देशीकारो के उल्लेख के कारण भी है। आचार्य हेमचन्द्र ने अपने द्वारा मरुनित शब्दों को देशी सिद्ध करने तथा अन्य आचार्यों द्वारा "देशी" कहे गये शब्दों को कही-कही न मानने के सदर्म में, पूरे ग्रन्थ के बीच कुल 12 देशीकारो का नामोल्लेख किया है। जहा-जहा और जिन-जिन कोशकारो का नाम लिया है उसका विवरण इस प्रकार है।

1. अभिमान चिह्न

इन्होंने सूत्र रूप में एक "देशीकोश" की रचना की थी। इसके साथ शब्दार्थ सूची और उदाहरण भी दिये गये थे। इनकी व्याख्या उद्दखल नामक विद्वान् ने की थी यद्यपि इन्होंने कई जगह उनके सूत्रों को न समझ कर भूलें की हैं हेमचन्द्र ने अपने इस ग्रन्थ में इनका उल्लेख—1-144, 6-93, 7-1, 8-12, 17 में किया है।

2 अवन्तिमुन्दरी :

इस नाम की विदुषी का उल्लेख हेमचन्द्र ने "देशीनाममाला" में तीन स्थानों

1. अब तक वे ना. पर कार्य करने वाले रामानुजस्वामी प्रभृति विद्वानों का यही मन्तव्य रहा है।

पर किया है—प्रथम वर्ग की 81 वी, 144 वी, और 157वीं गाथा की वृत्ति में। अवन्तिसुन्दरी नाम काफी भ्रामक है। कुछ लोग इसे धनपाल की बहिन “सुन्दरी” बताते हैं जिसके शब्दज्ञान के लिए धनपाल ने “पाइअलच्छीनाममाला” की रचना की थी। परन्तु वहाँ (पाइअलच्छीनाममाला) में प्राप्त उल्लेख को देखते हुए सुन्दरी इतनी विदुषी नहीं हो सकती कि आचार्य हेमचन्द्र जैसा विद्वान् अपने कोश में उसकी चर्चा करे। कुछ विद्वान् “अवन्तिसुन्दरी” को राजशेखर (कश्मीरी कवि) की पत्नी बताते हैं। “कँपूर-मजरी” में एक अवन्ति सुन्दरी की चर्चा आती भी है जिसकी आज्ञा से इसका अभिनय किया गया था। यह सम्भावना सत्य के अधिक निकट है।

3 गोपाल

इन्होंने श्लोको में एक देशीकोश की रचना की थी और संस्कृत में इनका अर्थ भी दे दिया था। देशीनाममाला में हेमचन्द्र इनका उल्लेख 1-25, 31, 45, 2-82, 3-47, 6-26, 45, 72, 7-2, 76, 8-1, 16, तथा 67 में करते हैं। अन्य देशीकारों ने भी इनका उल्लेख किया है।

4 देवराज :

इन्होंने एक छन्दबद्ध देशीकोश की रचना की थी। हेमचन्द्र की ही भाँति इन्होंने भी देशी शब्दों के प्राकृतपर्यायवाची दिये हैं। हेमचन्द्र इनका उल्लेख तीन जगह 6-58, 72 तथा 8-17 में करते हैं। प्रथम दो स्थानों पर हेमचन्द्र इनके मत का समर्थन करते हैं परन्तु अन्तिम 8-17 में उन्हें देवराज का मत मान्य नहीं है। देवराज द्वारा लिखा गया कोश प्रकरणों में शब्द की प्रकृति के आधार पर विभाजित है।

5 द्रोण

ये भी एक देशी कोश के रचयिता के रूप में उल्लिखित हैं परन्तु इनके ग्रन्थ के बारे में अब तक कुछ पता नहीं चला है। हेमचन्द्र इनका उल्लेख एक जगह (8/17) में अपने मत का समर्थन करने के लिए करते हैं 1-18, 50 तथा 6-7 में हेमचन्द्र इन्हें अपने मत का समर्थन न करने वाले आचार्यों के रूप में उल्लिखित करते हैं।

6. धनपाल :

धनपाल ने एक शब्दकोश¹ की रचना की थी। इसके अतिरिक्त उनके

1. पाइअलच्छीनाममाला।

अन्य किसी कोश ग्रन्थ का उल्लेख कहीं नहीं मिलता । हेमचन्द्र ने इनका उल्लेख 1-141, 3-22, 4-30, 6-101, 8-17 में किया है । परन्तु हेमचन्द्र ने धनपाल के नाम से जितने भी उद्धरण दिये हैं वे “पाइअलच्छीनाममाला” में नहीं मिलते । इसके अतिरिक्त “पाइअलच्छीनाममाला” में मकलित शब्दों की चर्चा करते हुए भी वे इस सदर्भ में धनपाल का नाम नहीं लेते । वहाँ “इत्यन्ये” कहकर आगे बढ़ जाते हैं । अब यहाँ दो ही सम्भावनाएँ हो सकती हैं । एक तो यह कि धनपाल ने “पाइअलच्छीनाममाला” के अतिरिक्त कोई दूसरा भी कोश लिखा था और उसी से हेमचन्द्र ने ये उद्धरण लिये । दूसरे धनपाल नाम का कोई दूसरा कोशकार रहा हो जिसने महत्त्वपूर्ण देशीकोश की रचना की हो । आर० पिशेल¹ की यह मान्यता है कि “देशीनाममाला” में उल्लिखित “धनपाल” पाइअलच्छी नाममाला” के रचयिता धनपाल में अलग विद्वान् रहा होगा । इस बात के समर्थन में वे दो तर्क देते हैं—एक तो यह कि “पाइअलच्छीनाममाला” जिसे कि धनपाल ने स्वयं ही देशीकोश कहा है, रचने के बाद, उन्हें उसी प्रकार का दूसरा देशीकोश लिखने की आवश्यकता क्यों पड़ी । एक ही विद्वान् द्वारा एक ही समय में एक ही विषय पर दो ग्रन्थ परम्परा में देखने को नहीं मिलते । दूसरी बात यदि देशी कोश से उद्धरण देते समय हेमचन्द्र ने धनपाल का नाम लिया तो “पाइअलच्छी नाममाला” के उद्धरणों में उन्होंने धनपाल का नाम ग्रहण न करके “इत्यन्ये” या “इतिकेचित्” क्यों लिखा ? क्या इससे ध्वनित नहीं होता कि हेमचन्द्र की दृष्टि में धनपाल का कोई मूल्य नहीं था । इन तर्कों के आधार पर उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि हेमचन्द्र द्वारा उल्लिखित धनपाल कोई अन्य विद्वान् रहे होंगे जिन्होंने एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण देशीकोश की रचना की थी ।

7. पाठोद्घात :

इनका उल्लेख आचार्य ने केवल एक बार (8-12) में किया है । ये संभवतः

- 1 “I venture to suggest that Dhanpal quoted by Hemchandra is quite different from the author of Paia lachhinammala. If they are identical it would be impossible to conceive how one person could teach one and the same word in two different works and that too in different forms, as it would be necessary to suppose from VI 101. Again I do not see any reason why he should compose two Kosas of the same kind instead of one comprehensive one. The Paialachhi is a very meagre production and the number of Desi words taught in it is very small. The Kosa of the other Dhanpal must have been a work of considerable merit to deserve to be quoted by Hemchandra by the name of author.”

वही उद्धृत होगे जिनका उल्लेख अभिमान चिह्न द्वारा लिखे गये कोश के व्याख्याकार के रूप में किया जा चुका है ।

8. पादलिप्ताचार्य

आचार्य हेमचन्द्र ने इनका एक स्थान (1-2) पर नामोल्लेख मात्र किया है । इनके मत का उल्लेख पूरे ग्रन्थ में कहीं भी नहीं हुआ है । हेमचन्द्र (1-2) में इतना ही बताते हैं कि इन्होंने एक देशीकोश की रचना की थी । ऐसा लगता है जैसे इनकी और हेमचन्द्र की मान्यता एक ही थी । हेमचन्द्र ने अवश्य ही इनके ग्रन्थ से प्रेरणा ली होगी । कोई मतविरोध न होने के कारण ही इनका कहीं उल्लेख नहीं किया होगा ।

9 राहुलक .

इनका उल्लेख केवल एक स्थान (4-4) पर हुआ है । इन्होंने किसी देशी कोश की रचना की थी या नहीं यह स्पष्ट नहीं । इनका नामोल्लेख भी सीधे नहीं हुआ है । वहाँ “टोल” शब्द के अर्थ पर विवाद है । अन्य लोगों के द्वारा दिये गये अर्थ को न स्वीकार कर हेमचन्द्र ने “राहुलक” के अर्थ को स्वीकार किया है । यह स्थल द्रष्टव्य है—“टोलो शलभ । टोलो पिशाच इत्यन्ये । यदाह ॥ टोल पिशाच-माहु सर्वे शलभ तु राहुलक । ॥4॥4, पृ० 158

10 शाम्ब

इनका भी उल्लेख हेमचन्द्र ने केवल एक ही स्थान (2-48) पर किया है । यहाँ “कोमुई” शब्द पर विवाद उठ खड़े होने पर वे शाम्ब का मत उद्धृत करते हैं ।

“कोमुई सर्वापूर्णमा । शरद्येव पूर्णमासी कौमुदी रूढा । इह तु या काचित्पूर्णमा सा कोमुई । अतएव च देसी । यदाह ॥

कोमुईमाह च शाम्बो या काचित्पूर्णमासी स्यात् ॥ 2/48, पृ० 101 “कोमुई” शब्द को “तद्भव” न मानकर “देशज” मानते हुए हेमचन्द्र शाम्ब का उल्लेख करते हैं । इससे लगता है शाम्ब ने किसी कोश की रचना अवश्य की होगी परन्तु उसके बारे में अन्य कोई भी उल्लेख नहीं मिलता ।

11. शीलाडक :

इन्होंने भी देशीकोश की रचना की थी । पर इनसे संबंधित विशेष उल्लेख कहीं नहीं मिलता । हेमचन्द्र ने इनका उल्लेख तीन जगहों (2-20, 6-96) तथा (7-40) पर किया है । 2-20 में “कडभुआ” शब्द में हेमचन्द्र उनसे मतभेद प्रकट करते हैं 6-96 और 8-40 शब्दों के रूप पर अपना मत भेद प्रदर्शित करते हैं ।

12. सातवाहन :

इनका उल्लेख हेमचन्द्र ने 3-41, 5-11, 6-15, 18, 19, 112, 125 में किया है। उल्लेख के आधार पर उन्हें "गाहा सतसई" का सकलनकर्त्ता "हाल सातवाहन" कहा जा सकता है हेमचन्द्र सात बार इनका उल्लेख करने हैं वे यह दिखाना चाहते हैं कि हाल ने (वहा चर्चित) शब्दों का अर्थ उनसे अलग हट कर लगाते हुए अपने सग्रह ग्रन्थ (गाहासतसई) में प्रयोग किया है। परन्तु जिन शब्दों के सदर्थ में हेमचन्द्र सातवाहन की चर्चा करते हैं वे शब्द "गाहासतमई"¹ में कहीं नहीं मिलते। हो सकता है ये कोई अन्य सातवाहन हो।

ऊपर गिनाये गये विद्वानों में अभिमान चिह्न, देवराज, पादलिप्त और सातवाहन "गाहासतमई" के कवि के रूप में भी प्राप्त होते हैं। इन विद्वान कवियों के अतिरिक्त हेमचन्द्र ने कुछ प्रसिद्ध ग्रन्थकारों का उल्लेख भी स्पष्ट रूप में किया है। इनमें कालापा (1-6), भरत (8-72) भामह (8-39) और विना नामोल्लेख किये हलायुध से भी (1-5 और 2-8) में उद्धरण दिया है। विद्वानों के नामोल्लेख के अतिरिक्त हेमचन्द्र ने इस ग्रन्थ में कई ग्रन्थों का भी उल्लेख किया है। इनमें कुछ "देशीकोश" उल्लेखनीय हैं। जैसे सारतरदेशी, अभिमानचिह्न सूत्रपाठ; 'देशीप्रकाश'² देशीमार (इसका उल्लेख क्रमदीश्वरी ने अपने 'सक्षिप्तसार' नामक ग्रन्थ में 8वें अध्याय के पृष्ठ 47 पर भी किया है) इत्यादि।

विद्वानों और ग्रन्थों का नामोल्लेख करने के अतिरिक्त हेमचन्द्र ने अनेकों विद्वानों का मत विना नाम लिये ही उद्धृत किया है। उनका विवरण इस प्रकार है—

अन्ये (1—3, 20, 22, 35, 47, 52, 62, 63, 65, 66, 70, 72, 75, 78, 87, 89, 99, 100, 102, 107, 112, 151, 160 और 163,

2—11, 12, 18, 24, 26, 29, 36, 45, 47, 50, 51, 66, 67, 77, 79, 89 और 98,

3—3, 6, 8, 28, 40, 41, 58 तथा 59,

4—3, 4, 5, 6, 7, 18, 22, 23, 26, 33 तथा 44 और 47,

5—9, 30, 33, 36, 40, 45, 50 तथा 61,

1. वेबर द्वारा सम्पादित।

2. लाला दीक्षित ने अपनी मृच्छकटिक की टीका में इसका उद्धरण दिया है।

6—14, 15, 16, 21, 24, 25, 26, 28, 42, 48, 53, 54, 61,
-63, 75, 81, 86, 88, 91, 93, 94, 97, 99, 105, 106,
116, 121, 132, 134, 140 तथा 145,

7—2, 16, 17, 18, 21, 31, 33, 37, 44, 45, 48, 62, 68, 69,
74, 75, 76, 88 तथा 91,

8—10, 15, 18, 22, 27, 35, 36, 38, 44, 45, 59 तथा 67) ।

एके (2—89, 4-5 और 12, 6-11, 7-35, 8-7),

कश्चित् (1—43, 2-18, 3-51, 5-13, 8-75) 7 केचित्—(1-5, 26, 34,
37, 41, 46, 47, 67 79, 103, 105, 117, 120, 129, 131 तथा
153,

2—13, 15, 16, 17, 20, 29, 33, 38, 58, 59, 87 तथा 89,

3—10, 12, 22, 23, 33, 34, 35, 36, 44 और 55,

4—4, 10, 15 तथा 45

5—12, 21, 44 और 58

6—4, 55, 80, 90, 92, 93, 95, 96, 110 तथा 111

7—2, 3, 6, 47, 58, 65, 75, 81 तथा 93,

8—4, 51, 69 तथा 70,

पूर्वाचार्या (1—11 और 13), यदाह (1-4 और 5) हलायुध (1-37, 75, 121,
171, 2-33, 48, 98, 3-23, 54, 4-4, 10, 21, 24 तथा 45, 5-1
और 63, 6-15, 42, 78, 81, 93, 140 और 140, 7-71, 46, 58 तथा
84, 8-1, 13, 43 तथा 68), यदाहु (1-5, 3-6 तथा 4-15), इसी
प्रकार के अन्य सर्वनामों के साथ 1-18, 94, 144 तथा 174, 3-33,
4-37, 6-8, 58 तथा 93, 8-12, 17 और 28 ।

इतनी अधिक सख्या में विद्वानों का नाम देखकर कोई भी व्यक्ति हेमचन्द्र
के अध्यवसाय और उनकी ईमानदारी की सराहना किये बिना नहीं रह सकता ।
हेमचन्द्र कहीं धोखे से भी यह बात नहीं कहते कि यह उनका मौलिक ग्रन्थ है । स्थान-
स्थान पर उन्होंने यह स्वीकार किया है कि 'देशीनाममाला' का संग्रह इसी प्रकार के
पुराने ग्रन्थों के आधार पर किया गया है । जिस किसी स्थल पर प्राचीन आचार्यों
में मतभेद दिखायी पड़ता है और वे स्वयं भी अपनी कोई स्पष्ट राय नहीं दे पाते,
वहाँ अत्यन्त विनम्रता पूर्वक, 'तदैव ग्रन्थकृद्विप्रतिपत्तौ बहुज्ञा प्रमाणम् ।' ऐसा कहते
देखे जाते हैं । जहाँ कहीं वे पूर्वाचार्यों से अलग हटकर अपने मत का प्रतिपादन करना

चाहते हैं वहां स्पष्ट रूप से सकारण अपने मत का आख्यान करते हैं। 1 47 में उन्होंने 'अवडाक्किय' और 'अवडक्किय' इन दो शब्दों को अलग-अलग किया है। पहले के कोशकारों ने इन दोनों शब्दों को समानार्थी बताया था, पर हेमचन्द्र ने इन शब्दों के विषय में उत्तम ग्रन्थों की छानबीन करके अपना निर्णय दिया—अम्माभिस्तु सारदेशी निरीक्षणो न विवेकः कृतः। इसी प्रकार कहीं-कहीं विवाद मटा हो जाने पर वे अत्यन्त सीधे-सादे ढंग से 'केवलम् सहृदया प्रमाणम्' कहकर विवाद की समाप्ति कर देते हैं। आचार्य हेमचन्द्र की इन्हीं विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए 'जीगफ्रीड गोल्डश्मिन्त'¹ ने कहा था—'देशीनाममाला' उत्तम-श्रेणी की नामग्री देने वाला ग्रन्थ है।² और यह उत्तम सामग्री 'देशीनाममाला' की वृत्ति (टीका) में निहित है।

इस प्रकार 'देशीनाममाला' की भाषा वैज्ञानिक महत्ता इस बात में तो है कि यह 'देशी' शब्दों का प्रत्याख्यान करने वाला एक मात्र ग्रन्थ है, परन्तु वृत्ति को अलग कर देने से वह मूल्यहीन सा हो जायेगा। इस ग्रन्थ की वृत्ति इसकी प्राणरूपा है। इस वृत्ति के माध्यम से हेमचन्द्र ने लम्बी परम्परा में हुए शब्दों से सम्बन्धित अध्ययन को एक ही स्थान पर स्पष्ट कर दिया है।

'देशीनाममाला' में आयी हुई उदाहरण की गाथाएँ

आचार्य हेमचन्द्र ने 'देशीनाममाला' की मूलगाथाओं पर वृत्ति (टीका) लिखने के बाद उन शब्दों का प्रयोग बताने के लिए कुछ उदाहरण भी दे दिये हैं। उदाहरण की ये गाथाएँ 'एकार्थ' शब्दों की टीका के बाद दी गयी हैं। 'अनेकार्थ' शब्दों के प्रत्याख्यान में आचार्य ने कोई भी उदाहरण की गाथाएँ नहीं लिखी हैं। उदाहरण की ये गाथाएँ अत्यन्त कवित्वपूर्ण और तत्कालीन युगजीवन को प्रत्यक्ष कराने वाली हैं। उदाहरण की ये गाथाएँ स्वयं हेमचन्द्र द्वारा रचित हैं या बाद में इनके शिष्यों ने लिखा, इस विषय पर थोड़ा विवाद अवश्य है पर अधिकतर विद्वान् इन्हें आचार्य हेमचन्द्र द्वारा ही रचित मानते हैं। इन पद्यों का स्वरूप भी यही द्योतित करता है कि आचार्य ने देशी शब्दों को आसानी से कण्ठस्थ किये जाने की सुविधा के लिए इन पद्यों की रचना की होगी।

रिचर्ड पिशेल ने देशीनाममाला की भूमिका में हेमचन्द्र के इन पद्यों की बड़ी कड़ी आलोचना की है।³ उनका विचार है कि ये पद्य अधिकतर निरर्थक और केवल शब्दों का उदाहरण मात्र दे देने के लिए लिखे गये हैं। उनकी दृष्टि में ये

1 जीगफ्रीड गोल्डश्मिन्त—डोयल्सो लिटेराटुरत्साइट्ट ग 2, 1109।

2. Pinchel—introduction to Desinammala P 29-30 II Edition

अर्थ की दृष्टि से अत्यन्त क्लिष्ट और साहित्यिक दृष्टि से सर्वथा महत्त्वहीन हैं । पिशेल अपनी कठिनाई व्यक्त करते हुए कहते हैं कही-कही तो ये पद्य इतने क्लिष्ट हैं कि मुझे आज नक भी समझ में नहीं आ सके । इन पद्यों में आये हुए शब्दों का सही-सही अर्थ लग जाने पर भी इनका आशय समझना अत्यन्त दुरूह कार्य है ।

पिशेल की इस कटु आलोचना को उनकी अपनी कमी बताते हुए प्रो० मुरलीधर वनर्जी ने अपने द्वारा सम्पादित 'देशीनाममाला' की भूमिका में यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि यदि इन उदाहरणों को शुद्ध करके पढ़ा जाये तो इनसे अत्यन्त रमणीय अर्थ ध्वनित होता है ।¹ पिशेल की सबसे बड़ी कमी यही है कि उन्हें पद्यों के पाठ के बारे में अनेकों भ्रान्तियाँ हैं । इन्हीं भ्रान्तियों के कारण पद्यों का अर्थ भी स्पष्ट नहीं हो पाता । उन्होंने कई उदाहरण देकर पिशेल के द्वारा की गयी भूलों की ओर संकेत भी किया है । कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

प्रथम वर्ग की 22 वीं गाथा का 20 वा उदाहरण पिशेल के द्वारा निम्न प्रकार पढ़ा गया है—

अम्माइआइ दिण्णावहेअ तुहरे अवत्थरारिहइ ।
णावल्लिअ ज जाव य रसेण त किसल्लिओ असोउ हव ॥

प्रो० मुरलीधर वनर्जी द्वारा शुद्ध किया गया पाठ इस प्रकार है—

अम्माइआइ दिस्मावहेअ तुहरे अवत्थरारिहइ ।
नावलिय ज जावयरसेण त किसल्लिओ असोउव्व ॥

छाया—अनुमार्गं गामिन्या दत्तोनुकम्पा तवरे पादाघातम् तूनम् ।

नासत्य यत् यावक रसेण त किसल्लितो-अशोक इव ॥

पिशेल ने इस पद्य में “याव” और “य” अलग करके पढ़ा था । अतः उसकी छाया “यावच्च” करने पर अर्थगत कठिनाई स्वयं ही उत्पन्न हो जायेगी । यदि इन दोनों को मिलाकर पढ़ा जाये तो “या वक” शब्द बनेगा । ऐसा कर देने पर यहाँ एक रमणीय अर्थ की व्यञ्जना होती है ।

नायक और नायिक आगे पीछे चले आ रहे हैं । नायक अत्यन्त प्रसन्न वदन दिखायी दे रहा है । नायक की इस प्रसन्नता का कारण कोई अन्य व्यक्ति बताता है—

“हे युवक । अवश्य ही तेरे पीछे-पीछे आने वाली युवनी ने तुझे अपने महावर भरे पैरो से ठोकर मारी है जिसके कारण तू अशोक वृक्ष के समान प्रफुल्लित हो उठा है ।”

उपर्युक्त अर्थ को देखकर कौन ऐसा सहृदय साहित्यिक व्यक्ति होगा जो हेमचन्द्र के उच्चकोटि के कवित्व में अविश्वास करेगा । उसी प्रकार अनेकी स्थितियों पर पिशेल को आन्तिया हुई । उन्होंने शुद्ध पाठ न होने के कारण ही इस प्रकार अर्थगत दुरुहता अनुभव की थी । उपर्युक्त कारिका में “यावच्च” का अर्थ और जब तक निश्चित ही अर्थगत दुरुहता का जनक है । दोनों पदों को मिलाकर पढ़ा हुआ “यावक” पद “महावर” का अर्थ देता है । यह अर्थ आते ही पद्य में एक उच्चकोटि का कवित्वपूर्ण आशय व्यजित होने लगता है । यह बात तो साहित्य में सर्वथा प्रसिद्ध ही है कि अशोक में पुष्प तभी आते हैं जब कोई मदमिक्तनवयीवना अपने आलक्तक लगे चरणों से उस पर प्रहार करती है । युवक की प्रसन्नता का कितना व्यञ्जनापूर्ण कारण इन पक्तियों में बताया गया है । इसी प्रकार का एक उदाहरण और भी द्रष्टव्य है—

पिशेल द्वारा दिया गया पाठ—

ओहकरि ओहट्ट च य ओलु कि च सारवेमुघर ।

ओचुल्ले ओलिम दट्टु ओलिप्पिही तुह एनन्दा ॥

1-121-153, पृ० 70

संस्कृतछाया—

हसनशीले हास्य च च छन्न रमण क्रीडाच समारचय गृहम् ।

चुल्लेकदेश उपदेहिका दृष्ट्वा हसिष्यति तव ननन्दा ॥

प्रो० वनर्जी द्वारा परिशुद्ध पाठ—

ओहकरि ओहट्ट च य ओलु कि सारवेमुघर ।

ओचुल्ले ओलिम दट्टु ओलिप्पिही तुह एनन्दा ॥

छाया—

हसनशीले हास्य त्यज छन्नरमण क्रीडाच समारचय गृहम् ।

चुल्लेकदेश उपदेहिका दृष्ट्वा हसिष्यति तव ननन्दा ॥

“हास्य रत वाले ! अपनी हसी और छन्नरमण क्रीडा को त्याग घर को साफ सुथरा करो नहीं तो तुम्हारे रसोई घर के चूल्हे के आग-पास सफेद चीटियों को रेंगते देखकर तुम्हारी ननंद हँसी करेगी ।”

इस पद्य में “च य” को अलग-अलग पढ़ने से अर्थ तो कोई निकला ही नहीं। पता नहीं पिशेल को यह बात क्यों नहीं सूझी कि वाक्य के बीच “च” जैसा व्यंजन जैसा का तैसा नहीं बना रह सकता। दोनों को मिलाकर “चय” बनता है जो संस्कृत “त्यज” का तद्भव है।

इसी प्रकार पिशेल ने कई जगह अशुद्ध पद जाने की भ्रान्तियाँ की हैं। प्रो० मुरलीधर वनर्जी ने अपने द्वारा सम्पादित देशीनाममाला की भूमिका¹ में इस प्रकार के कई उदाहरण दिये हैं। वहाँ उन्होंने ऊपर दिये गये दो उदाहरणों के अतिरिक्त 1-147-115, 2-30-27, 2-81-66, 3-25-21, 6-131-114, 7-20-17 तथा 7-40-34 में भी इसी प्रकार का पाठगत प्रमाद बताया है साथ ही शुद्ध पाठ भी दे दिया है। उनका कथन² है कि इस प्रकार यदि गाथाओं के पाठ को शुद्ध करके देखा जाय तो इनसे निश्चित ही एक सुन्दर साहित्यिक अर्थ की व्यंजना होती है। “रयणावली” की ये गाथाएँ तो कही-कही “गाहोसत्तसई” में निहित गाथाओं के काव्य सौन्दर्य से भी बढ़कर दिखायी पड़ती हैं। यदि ये आर्याएँ आचार्य हेमचन्द्र के द्वारा विरचित हैं तो निश्चित ही उनमें अद्भुत कवित्वशक्ति थी। अन्त में वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यदि गाथाओं को शुद्ध करके पढ़ा जाये तो निश्चित ही ये काव्य-प्रेमियों के लिए अद्भुत रस सयुक्त होगी। पिशेल और उनके शिष्य इनसे रसग्रहण भले ही न कर सकें।³

“देशीनाममाला” में आचार्य हेमचन्द्र ने उदाहरण के रूप में 634 गाथाएँ लिखी हैं। ये गाथाएँ विषयवस्तु और वातावरण—दोनों ही दृष्टियों से गाथा सप्तशती के समीप रखी जा सकती हैं। भारतीय साहित्य परम्परा में “सत्तसई” गान्धो की परम्परा बहुत प्राचीन है। हो सकता है आचार्य हेमचन्द्र ने भी इसी

1 Introduction II PP XLIII to LI Banerjee

2 “If the illustrative Gathas of Hemachandra which have appeared to Pichel as examples of extreme absurdity or nonsense are read correcting the errors made by the copyists in the manner explained above, they will yield very good sense”

Banerjee, Introduction II P LI

3 “As the Gathas read in this way (correcting errors) give a good sense, they can no longer be regarded as examples of “incredible stupidity.” They will be appreciated, it is hoped by every lover of poetry as a remarkable feat of ingenuity worth of Hemachandra and far beyond the capacity of his (Pichel’s) disciples to whom Pichel is inclined to ascribe them”

Banerjee—Introduction II P LI

परिपाटी पर अपने ये उदाहरण लिये हों। डग दृष्टि से यदि “देशीनाममाला” में उदाहरण के रूप में आयी हुई गाथाओं का अध्ययन किया जाये तो उसका “ग्य-णावली” नाम भी सर्वथा सार्थक मिट्ट हो जाता है। इस दिशा में विचार करने के लिए यह उपयुक्त स्थान नहीं है। इसका साहित्यिक मूल्यांकन प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के एक अलग अध्याय में किया जायेगा।

गाथाओं का वर्गीकरण

“देशीनाममाला” की उदाहरण की गाथाओं को तीन प्रमुख वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। एक तो लौकिक प्रेम और शृंगार में सम्बन्धित गाथाएँ। इनमें प्रेम का विविधात्मक स्वरूप तथा तरह तरह के नायक-नायिकाओं का दिवंगण दिया गया है। दूसरे कुमारपाल की प्रणप्ति से सम्बन्धित गाथाएँ—इनमें कुमारपाल का पराक्रम, उसकी दानशीलता, युद्ध में दिखायी गयी वीरता तथा शौर्य आदि का वर्णन किया गया है। तीसरा कोटि¹ में आने वाली गाथाएँ विविध लोकाचारों सामाजिक देवी देवताओं, भिन्न-भिन्न प्रादेशिक रीति-रिवाजों तथा सामाजिक अधविश्वासों आदि का विवेचन प्रस्तुत करती हैं। सांस्कृतिक अध्ययन की दृष्टि से इन गाथाओं का बहुत बड़ा महत्त्व है। इन तीन विषयों के अतिरिक्त कुछ ऐसी भी गाथाएँ हैं जिनकी रचना मात्र शब्दों को कण्ठस्थ करने की सुविधा के लिए की गयी है। इनमें किसी विशेष अर्थ का समावेश न होकर नामों की गणना मात्र करा दी गयी है। इन गाथाओं को भी तीसरी ही कोटि के अन्तर्गत रखा जा सकता है। प्रो० मुरलीधर वनर्जी ने “देशीनाममाला” की भूमिका के दूसरे भाग में इनका वर्गीकरण प्रस्तुत किया है। उन्होंने प्रत्येक वर्ग की गाथाओं को वर्गीकृत करने के साथ ही इनकी सख्याएँ भी दे दी हैं। वह वर्गीकरण इस प्रकार है।

उदाहरण की गाथाएँ

वर्ग	लौकिक शृंगार से संबंधित	कुमारपाल की प्रणप्ति	अन्य	कुल सख्या
प्रथम वर्ग	76 ²	38 ³	194	133

- 1, तृतीय कोटि की गाथाओं में नीति और उपदेश ही सर्वप्रधान है। दुर्जन निन्दा, सज्जन प्रशंसा मदाचार का गुणगान आदि विषयों को देखते हुए प्रो. मुरलीधर वनर्जी इनकी तुलना “मूर्तहरि” के नीतिशतक के श्लोकों से करते हैं।
- 2 5-7, 10-15, 17-20, 23-26, 28, 32, 34 36-39, 42, 46-49, 51, 52, 55, 56, 58 60, 63 67-73, 75 76, 79 81, 86, 87, 89, 91, 92, 94, 96, 98, 99, 101-104, 108-110, 112-115, 120, 123-126 131-133।
- 3 9, 22, 24, 25, 29, 31, 40, 41, 43, 45, 50, 53, 54, 57, 62, 65, 66, 74, 78, 80, 83-85, 88, 90, 95, 97, 100, 105, 107, 116 119 127-130।
4. 1, 4, 16, 21, 27, 30, 35, 61, 64, 77, 82, 93, 106, 111, 121, 122।

वर्ग	लौकिक शृंगार से सम्बन्धित	कुमारपाल की प्रशस्ति	अन्य	कुल सख्या
द्वितीय	66 ¹	11 ²	13 ³	90
तृतीय	36 ⁴	7 ⁵	8 ⁶	51
चतुर्थ	25 ⁷	11 ⁸	10 ⁹	46
पंचम	34 ¹⁰	7 ¹¹	9 ¹²	50
षष्ठ	83 ¹³	14 ¹⁴	26 ¹⁵	123
सप्तम	49 ¹⁶	8 ¹⁷	19 ¹⁸	76
अष्टम	41 ¹⁹	9 ²⁰	15 ²¹	65

1. 1, 6, 8, 9, 11, 12, 17-22, 24-29, 31-36, 38, 40-47, 49 53, 55-59, 62-68, 70, 72, 81, 83 86, 88 ।
2. 4, 5, 7, 30, 37, 39, 48, 54, 61, 89, 90 ।
3. 2, 3, 10, 13-16, 23, 60, 69, 71, 82, 87 ।
4. 2, 4, 6-10, 13-24, 26-30, 32-39, 45, 48, 49, 51 ।
5. 3, 11, 12, 40, 41, 46 47 ।
6. 1 5, 25, 31, 42-44, 50 ।
7. 3, 4, 6, 9, 12-15, 18, 21, 25-27, 31-36, 39-41 43, 45, 46 ।
8. 7, 8, 10, 11, 16, 19, 20, 24, 29, 30, 42 ।
9. 1, 2, 5, 17, 22, 23, 28, 37, 38, 44 ।
10. 1-11, 13-16, 18, 20, 22, 26, 28, 30, 31, 32, 35-38, 40, 41, 43 46, 59 ।
11. 12, 21, 23, 25, 42, 47, 48 ।
12. 7, 19, 24, 27, 29, 33, 34, 39, 49 ।
13. 1, 4 9 11-14, 16 18, 20, 23-25, 27, 29-31, 33, 34, 36-43, 46 48-53, 55, 56, 58, 61 67, 69-76, 79 80, 82-84, 88, 89, 92-95 97-100, 102-109, 113-117, 119-120, 123 ।
14. 2, 5, 7, 10, 15, 17, 19, 22, 26, 32, 54, 57, 111, 118 ।
15. 3, 6, 8, 21, 28, 35, 45, 47, 59, 60, 68, 77, 78, 81, 85-87, 90, 91, 96, 101, 103, 110, 112, 122 ।
16. 1-4, 6, 8 9, 12, 14, 15 17, 19 21, 22, 24 27, 28, 30, 36, 39, 41, 43, 44, 46, 50, 52, 56-58, 60, 64, 66, 67, 69, 70-71, 73, 75 ।
17. 7, 13, 29, 40, 53, 55, 65 ।
18. 5, 10, 16, 18, 20, 23, 25, 26, 37, 38 42, 45, 51, 59, 68, 72, 74, 76 ।
19. 1, 7, 9-14, 17-19, 22 30, 34-36, 38, 40, 42-48, 50, 51, 59, 68, 72, 74 76 ।
20. 8, 33, 35, 37, 39, 41, 51, 57, 61 ।
21. 2 6, 15, 16, 20, 21, 31, 32, 49, 52, 56, 65 ।

इस प्रकार “देशीनाममाला” एक श्रेष्ठ भाषावैज्ञानिक कोश होने के साथ ही उच्चकोटि की साहित्यिक भावभूमि में भी युक्त है। उपर्युक्त तालिका उदाहरण की गाथाओं में निहित विषय वस्तु का संकेत दे देने के लिए पर्याप्त है। ये उदाहरण भारतीय साहित्य परम्परा में लिखे गये किन्नी भी “सतमई” ग्रन्थ में आये पद्यों में कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं यदि “रयणावली” को भी एक सतमई ग्रन्थ ही कहा जाये तो कोई अत्युक्ति न होगी। इसके एक एक उदाहरण सचमुच श्रेष्ठ साहित्यिक रत्न हैं। जिस प्रकार हेमचन्द्र ने अपने अपभ्रंश भाषा के व्याकरण से सम्बन्धित सूत्रों व्याख्या करते समय उदाहरण के रूप में उच्च स्तरीय साहित्यिक सौन्दर्य में युक्त दोहे सकलित किये, उसी प्रकार “रयणावली” में उन्होंने अपनी स्वयं की कवित्व-शक्ति के प्रदर्शन एवं श्रेष्ठ साहित्यिक अभिव्यक्ति के लिए गाथाएँ लिखीं। अपभ्रंश व्याकरण में निहित दोहे हेमचन्द्र के अपने नहीं हैं परन्तु “रयणावली” की गाथाएँ उनकी कवित्वप्रतिभा की सम्पन्नोत्तिका हैं। ये गाथाएँ भाषाभाव तथा अलंकार आदि सभी काव्यदृष्टियों में उच्चकोटि की हैं।

इतना सब होते हुए भी पिञ्जेल जैसे मनीषी ने इन गाथाओं के अर्थ सौन्दर्य को देखने की चेष्टा न कर इन्हें अत्यन्त भीड़ी और आशयहीन बताया, आखिर इसका क्या कारण हो सकता है। यदि हम इस ओर दृष्टिपात करें तो पिञ्जेल को भ्रांति में डालने वाली कठिनाई बड़ी आसानी से खोजी जा सकती है। पिञ्जेल एक विदेशी विद्वान् थे उन्होंने सस्कृत अवश्य पढ़ी थी परन्तु उन्हें नौकिक परम्पराओं और छोटी छोटी अन्य बातों का ज्ञान नहीं था—जितना कि किसी अन्य भारतीय को बिना प्रयास ही होता है। उन्हें जो भी मूलप्रतियाँ मिली उनकी तुलना करके अधिकतर प्रतियों में मिलने वाले पाठ को ही उन्होंने ने मान्यता दी। उन्होंने सम्भवतः अपनी ओर में गम्भीरतापूर्वक विचार विमर्श नहीं किया। अर्द्धजिह्वित पेशेवर लेखकों के द्वारा लिखी गयी मूल प्रतियाँ ही उनके विवेचन का आधार थी। अतएव प्रमादों का हो जाना सर्वथा सम्भव था। अपनी इस कठिनाई को पिञ्जेल ने स्वयं भी व्यक्त किया है। दूसरी बात “देशीनाममाला” में आये हुए “देशीशब्दों” का वातावरण अधिकांशतः ग्रामीण है और ग्रामीण जीवन के दैनन्दिन की बातें पिञ्जेल के लिए जितनी कठिन थी उतनी ही “देशीनाममाला” की गाथाएँ भी।

देशीनाममाला का महत्त्व

आचार्य हेमचन्द्र का देशी शब्दों का यह सग्रह ग्रन्थ भाषा वैज्ञानिक एवं साहित्य दोनों ही दृष्टियों से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। जिस प्रकार हेमचन्द्र का

“सिद्धहेमशब्दानुशासन” परम्परा में लिखे गये सभी व्याकरणों से पूर्ण एवं महत्त्वशाली है उसी प्रकार यह कोश भी अन्य कोशों में विलक्षण है। यदि यह कहा जाये कि सम्पूर्ण भारतीय क्या विश्व के साहित्य में इसके समान विलक्षण ग्रन्थ नहीं है तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। भाषा विवेचन के साथ ही उच्चकोटि के साहित्यिक सौन्दर्य की अभिव्यक्ति ही इसकी अपनी विलक्षणता है।

भाषा वैज्ञानिक महत्त्व .

हेमचन्द्र के इस कोश के आधार पर आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के विकास की सागोपाङ्ग कथा लिखी जा सकती है। आज की प्रचलित साहित्यिक भाषाओं में कितने ही ऐसे शब्द बिखरे पड़े हैं जिनके बारे में हम कुछ नहीं जानते। ये शब्द-सदियों से जन-मानस में अपना स्थान बनाये हुए हैं। इनका प्रत्याख्यान अत्यन्त कठिन है। ऐसे ही शब्दों को परम्परा के सभी विद्वानों ने “देशी” कहकर इनके बारे में कुछ भी कहने से चुप्पी साध ली है। आचार्य हेमचन्द्र ने इन्हीं कठिन एवं दुःसर्द्धित शब्दों का प्रत्याख्यान अपने इस देशी कोश में किया है। वे इस बात को कोश के प्रारम्भ में कह देते हैं—

देशी दुःसर्द्धा प्रायः सर्द्धिता अपि दुर्बोधा ।

अनादिकाल से चलते आये देशी शब्दों का सर्द्ध देना अत्यन्त कठिन कार्य है। सर्द्ध मिल जाने पर भी इनका समझना अत्यन्त कठिन है। “देशीनाममाला” में अनेकों “देशी” शब्द आये हैं, इसमें आये कुल शब्द 4 हजार के लगभग हैं, परन्तु इसके सभी शब्द देशी नहीं हैं। इन शब्दों का उद्भव और इनका विकास एक सर्वथा नवीन तथ्य का उद्घाटन करता है। आर्य भाषा में प्रचलित देशी कहे जाने वाले इन शब्दों में 700 से भी अधिक शब्द कौल, सथाल, मुण्डा, द्रविड आदि जातियों की भाषा से सर्द्धित किये जा सकते हैं। ये शब्द आर्यों और आर्योंतर जातियों के आपसी सम्बन्ध और वैचारिक आदान-प्रदान की एक अत्यन्त रोचक कहानी प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार तुलनात्मक एवं ऐतिहासिक दोनों ही दृष्टियों से इन शब्दों का बहुत महत्त्व है। आधुनिक भाषा विज्ञान आचार्य हेमचन्द्र के इस पथ प्रदर्शक कोश का चिर ऋणी रहेगा। कितने ही भाषा वैज्ञानिकों ने इन शब्दों के सहारे अनेकों नवीन तथ्यों का उद्घाटन किया है।

साहित्यिक महत्त्व :

प्रथम शदी में आन्ध्र के हाल सातवाहन द्वारा सकलित प्राकृत के अद्भुत काव्य ग्रन्थ “गाथासप्तशती” के समान ही आचार्य हेमचन्द्र की “देशीनाममाला”

भी उच्चकोटि के साहित्यिक सौन्दर्य में मण्डित है। इसकी उदाहृत गाथाएँ मरमता भावतरलता एवं कलागत सौन्दर्य की दृष्टि में “गाथासप्तशती” के समान ही साहित्यिक मूल्य रखती हैं। इसमें शृंगार, रति भावना, नख शिख-चित्रण, वनिकों के विलासभाव, रणागण की वीरता, सयोग, वियोग, कृपणों की कृपणता, विभिन्न प्राकृतिक रूप और दृश्य नारी की मामल एवं ममृण भावनाएँ तथा नाना प्रकार के रमणीय दृश्य अंकित हैं। इन गाथाओं में स्थान-स्थान पर नीति, उपदेश, सामाजिक-रीतिरिवाज, राजपराक्रम तथा प्रेमी-प्रेमिकाओं की विलास लीला वर्णित मिल जायेगी। विश्व की किसी भी भाषा के कोश में इसके समान मरम पद्य उदाहरण के रूप में नहीं मिलते। कोश में आये हुए कठिन देशी शब्दों को समझाने का जो सरल मार्ग हेमचन्द्र ने अपनाया है वह सर्वथा नवीन और हेमचन्द्र की मौलिक प्रतिभा का दिग्दर्शक है।

इस प्रकार आचार्य हेमचन्द्र की “देशीनाममाला” या “रयणावली” यदि मापा विज्ञान की दृष्टि से मूल्यवान् शब्दों की खान है तो साहित्य की दृष्टि से एकत्र बहुमूल्य पद्यरत्नों की निधि है।

रयणावली (देशीनाममाला) का साहित्यिक अध्ययन

आचार्य हेमचन्द्र कृत रयणावली (देशीनाममाला) भारतीय आर्य भाषा की एक प्रमूख भाषा वैज्ञानिक कृति होने के साथ ही इस परम्परा की प्राकृत भाषाओं की एक बहुमूल्य साहित्यिक निधि भी है। इस कोशग्रन्थ में संकलित 'दृश्य' शब्दों की कण्ठन्य करने तथा उनके प्रयोग को दिखाने की दृष्टि से आचार्य ने पूरे ग्रन्थ में कुल 634¹ गाथाओं की रचना की है। ये गाथाएँ सरसता, भावतरलता एवं काव्यगत सौन्दर्य की दृष्टि में अत्यन्त उच्चकोटि की हैं। साहित्यिक सौन्दर्य और ऐहिकतापरक अभिव्यक्ति की दृष्टि से इन गाथाओं की समता 'गाह्यसत्तमई' तथा परम्परा की अन्य कृतियों से की जा सकती है। ग्रन्थ में गाथाओं की संख्या भी उन मान्यताओं को दृढ़ बनाती है। हो सकता है आचार्य हेमचन्द्र ने इन गाथाओं की रचना गाह्यसत्तमई जैसे ग्रन्थों को ध्यान में रखकर किया हो। जहाँ तक विषय वस्तु और उसके वातावरण का प्रश्न है, यह बात सर्वथा उपयुक्त है। स्वयं आचार्य द्वारा दिया गया इस कोशग्रन्थ का 'रयणावली' (रत्नों की माला) नाम भी इसी तथ्य की ओर संकेत करता है। सचमुच 'रयणावली' की अनेकों गाथाएँ गाह्यसत्तमई और गोवर्द्धन कृत 'आर्यामप्सती' के पद्यों के समान ही भावप्रवणता और उच्चकोटि की साहित्यिकता से युक्त हैं। सारे विश्व के किसी भी कोशग्रन्थ में इतने

1. उदाहरण की सभी गाथाएँ हेमचन्द्र कृत नहीं हैं। कुछ गाथाएँ उन्होंने अपने पूर्ववर्ती देशीकारों की रचनाओं से लिया है। इस दृष्टि से छठे वर्ग की 78वीं गाथा तथा 8वें वर्ग की 14वीं गाथा विशेष उल्लेखनीय हैं।

उच्च कोटि के साहित्यिक उदाहरण देने को नहीं मिलते । उन गाथाओं को देखकर आचार्य हेमचन्द्र के लोकज्ञान और उनकी गम्भीर कवित्व प्रतिभा में चकित रह जाना पड़ता है । आचार्य हेमचन्द्र की यह साहित्यिक अभिरुचि उनके अपभ्रंश व्याकरण में भी देखी जा सकती है । परन्तु वहाँ आये हुए मर्म पद्य उन्होंने अनेकों कवियों की रचनाओं से लिये थे । 'रयणावली' के उदाहरणों में उनकी उच्चकोटि की मौलिकता सम्पन्न प्रतिभा उभर कर आयी है । उदाहरण की इन गाथाओं में ऐहिकता परक शृंगार, रतिभावना, नख-णिग चित्रण, रणागणगत वीरता, प्रकृति के सुन्दर मनमोहक चित्र तथा विविध लोकव्यवहारी एवं उत्सवों का चित्रण हुआ है । इन गाथाओं में निहित एक-एक चित्र अपने आप में अत्यन्त भाव तरल एवं प्रभावकारी है ।

'रयणावली' की गाथाओं की विषय वस्तु

विषय वस्तु की दृष्टि से 'रयणावली' के पद्यों को तीन कोटियों में रखा जा सकता है—

- (1) लौकिक प्रेम और शृंगार से सम्बन्धित पद्य ।
- (2) कुमारपाल की प्रणमि से सम्बन्धित वीर भावना के उद्भावक पद्य ।
- (3) विविध लोकाचारों, सामाजिक एवं नैतिक नियमों, देवी-देवताओं तथा भिन्न-भिन्न प्रादेशिक रीति-रिवाजों व अन्धविश्वासों से सम्बन्धित पद्य ।

(1) लौकिक प्रेम और शृंगार से सम्बन्धित पद्य—

'रयणावली' का कवि लौकिक प्रेम और शृंगार-भावना का पटु उद्भावक है । पूरे ग्रन्थ में इस कोटि के पद्यों की संख्या ही अधिक है ।¹ इन पद्यों में निहित शृंगार, सयोग, वियोग, विपरीतरति तथा हालिक युवक युवतियों की उन्मुक्त प्रेम-क्रीड़ा अत्यन्त विशद एवं कलात्मकता से युक्त है । गाहासत्तसई के पद्यों की भाँति इसके पद्य भी ग्रामीण जीवन की तरल शृंगारिक अनुभूतियों को प्रथम देने वाले हैं । रात-दिन परिश्रम में रत रहने वाले कृषक युवक युवतियाँ, धनी वर्ग के विलासी पुरुष-स्त्रियाँ तथा वेश्याओं और नगरवधुओं की उन्मुक्त कामक्रीड़ाओं का स्पष्ट अकन स्थान-स्थान पर हुआ है । 'रयणावलीकार' स्त्रियों और पुरुषों की स्वच्छन्द काम-क्रीड़ाओं को चित्रित करने में कहीं भी हिचकते नहीं । उन्मुक्त काम-भोग और

1 विशेष विवरण के लिए प्रस्तुत प्रबन्ध का द्वितीय अध्याय द्रष्टव्य है ।

विपरीत रति आदि के चित्रण में कवि अत्यन्त यथार्थवादी है। अब यहाँ एक-एक का अलग-अलग विवेचन समीचन होगा।

सयोग वर्णन

'नयणावली' के सयोग-चित्र अत्यन्त मार्मिक, स्पष्ट और उभरे हुए हैं। स्थान-स्थान पर नभोग चित्रों में रत्न नायक और नायिकाओं की चर्चा हुई है। इन चित्रों में सामीप्य जीवन की समस्त काम-भावना नाकार हो उठी है। कुलटाओं, निम्न वर्ग की स्त्रियों और वेश्याओं के स्पष्ट एवं उभरे हुए नभोग चित्र तो सर्वथा दर्शनीय हैं। सयोग के अधिकतर चित्र विरोधन अन्तः पात्रीय जयन और दूतीवचनों के रूप में चित्रित किये गये हैं। नयणावली के कुछ सयोग चित्रों का उदाहरण नीचे दिया जा रहा है—

नायक और नायिका आगे-पीछे चले आ रहे हैं। नायक प्रसन्न और (कामा-वेग के कारण) आरक्तमुख दिखाई दे रहा है। नायक की इस प्रसन्नता-वस्था का चित्रण कितना व्यञ्जनापूर्ण है—

'प्रममाऽग्राः दिष्णवहेऽ तुह रे अवत्यरा रिहइ ।

णावनिय जं जावय रसेण त किसलिओ असोउव्व ॥ 1-22-20 ॥

'युवक ! अवश्य ही तेरे पीछे-पीछे आने वाली युवती ने तुझे अपने महावर भरे पैरों में ठोकर मारी है जिसके कारण तू अशोक वृक्ष के समान प्रफुल्लित हो उठा है ।'

नायक की प्रसन्नता का कितना व्यञ्जनापूर्ण कारण बताया गया है। मान की अवस्था में नायक निश्चित ही नायिका के चरणों पर लोटा है तत्पश्चात् उसके प्रनाद से आत्मादित और हरा-भरा तथा आरक्त मुख दिखायी पड़ रहा है। यह तो एक अत्यन्त प्रसिद्ध साहित्यिक रूढ़ि है कि अशोक में पुष्प तभी आते हैं जब कोई मदसिक्त नवयौवना अपने आलस्यतक भरे चरणों से उस पर प्रहार करती है। इसी रूढ़ि का सहारा लेकर नायक की प्रसन्नता और उसके तमतमाए हुए मुख के रंग का वर्णन कितना व्यञ्जनापूर्ण है।

जंगल में नायक-नायिका क्रीडारत हैं। क्रीडा के बीच नायिका के गले में पहना हुआ ग्रैवेयक टूट कर गिर पड़ा, कचुकी फट गयी। यह देखते ही रति तृषित नायक ग्रैवेयक को उठाकर छिपा लेता है।' कितना मासल और उत्तेजक सयोग-चित्र है।

खेत की रम्बवाली करती हुई गोपवाला का एक उभया हुआ ममोगचित्र द्रष्टव्य है—

उम्हाविग्र उलुहनिग्रय वयम माग्नेमु तत्थ गन्तूण ।

उच्छुरणेमोज्जिगिग्गोच्छुग्ररण गोविग्गाड उवन्नलय ॥ 1-117-101 ॥

ममोग कर लेने के बाद भी अतृप्त रहता हुआ समवयस्क पुरुष, अत्यन्त अस्त हुई ईश की रम्बवाली करने वाली गोपिका के माथ, ईश के खेत में अनिद्रित मैथुन क्रिया में रत है ।”

इसी प्रकार के अभिसार के अनेकों मादक चित्र ‘रयणावली’ की अपनी निविया हैं । कुलटा स्त्रियो का अभिसार चित्र द्रष्टव्य है—

खुपा खुण्ण तणूओ खर खुवयप्फाडिअन्त खलुहाओ ।

वामारत्ते कुलटाउ खुट्ठिअत्थ अहिमरन्ति ॥ 2-75-63 ॥

वृष्टि के निवारणार्थ तृण के आवरण में वेष्टित, अत्यन्त तीक्ष्ण एवं कटीले तृणादि से विवे हुए शरीर वाली कुलटाएँ रात-दिन मैथुन करती हुई अभिसार कर रही हैं ।’ एक अन्य कुलटा मच्छर आदि से युक्त सूखे वृक्ष के नीचे पनकें बन्द किये एक अवम स्वर्णकार के माथ अभिसार रत है ।¹ इसी प्रकार कुलटाओं के अभिसार के अनेकों सजीव चित्र ‘रयणावली’ में देखे जा सकते हैं । ऐसे चित्रों में प्रायः निम्न-वर्ग के नायक और नायिकाओं की ही प्रधानता है ।

नायक गोप की छेड़-छाड़ से घबराई हुई गोपवाला खीझकर कहती है—

मा कड्ढ वजर मह ववहिअवच्छीव खवेउल्ल

ओपेच्छड कुडिलच्छी बहुणिआ म मडत्तवत्तारा ॥ 7141135

‘रूपगवित मत्तगोप मेरी नीवी मत खीच । स्वरूपगविता मेरी ज्येष्ठभार्या कुटिल आँखों में देख रही हैं ।’

प्रिय मिलन के लिए आकुल एक ग्रामीण नववधू का चित्र तो सर्वथा सराहनीय है—

णववत्थउट्टय वक्खारयम्मि वल्लादयल्ल पल्लड्के ।

लुट्ठिआ णिएड्ढ वट्ठविअण्णकज्जा बहू दड्ढमग्ग ॥

“घर का सारा कार्य समाप्त कर-नवीन वस्त्रों से युक्त होकर, सुन्दर-श्रीया से युक्त रति-गृह में वधू पति का मार्ग देखते हुए उलट पुलट कर रही है ।”

एक नयान¹ पर नयविवाहिता बबबू की मगिया उसे प्रथम मिलन के समय प्रिय को बह दृष्टि में देखने की शिक्षा देती है ।

रवि के नयन चियो ने प्रतिरिक्त सयोगश गार के अन्नर्गत आने वाली अन्य बातें—दूतीवचन, भगिमार तथा विविध शीटाओं आदि का वर्णन भी 'रयणावली' के शृ गारपरक पत्रों में हुआ है । नायक और नायिका को सकेत स्थल तक ले जाने का पुनीत मार्ग इगिया ही करती आयी है । इस दृष्टि में भी कुछ उदाहरण देखने योग्य हैं । एक दूती नकेत नयन पर नायक के उपस्थित होने की बात प्रेमिका को बताती हुई कहती है—

आदिमाह आतागनकुन आउरहिअगिरिनरिअ ।

आगिवाजासि तुह बाणो अउविमउउ मो गुणो ॥161॥49

"उन्नुओ और विन्नुओ आदि ने यन्त आउियो, जल रहित नदियो और पर्वतीय दून जगल में बह तिर्यक्त नुरति का जाना नायक तेरे लिए घूम रहा है ।" एक अन्य दूती ग्रामाधिपति के पुत्र की ओर में नायिका को सकेत स्थल पर जाने के लिए तथा उसमें प्रेम करने के लिए नम्रभाती हुई कहती है—

कु टियपुनो कुआ कुठग भमइ तुज्ज अणुरत्तो ।

कु दयकुट्टाअ पिअ जेच्छमि ज कुवकुज सि त पुत्ति ॥2140॥37

"तुम्ह पर अनुरक्त ग्रामाधिपति का पुत्र एक लता गृह से दूसरे लतागृह में घूम रहा है । अत्यन्त कृश उसे चर्मकार की भाति मानती हुई जो नहीं देख रही हो तो हे पुत्री ! क्या उन्मत्त हो गई हो ।" इसी प्रकार प्रिय मिलन के हेतु धार्मिक अनुष्ठान करती हुई एक नायिका को सकेतस्थल का सकेत देती हुई दूती बताती है कि वह नायक भी उससे मिलन हेतु सप्तच्छदपुष्प के नीचे मृगचर्म डाल कर अनुष्ठान कर रहा है । अर्थात् नायिका को सप्तच्छदपुष्प के वृक्ष के पास जाना चाहिए ।²

एक दूती नायक के प्रति नायिका के प्रगाढ़ प्रेम का चित्रण करती हुई उससे (नायक से) कहती है—

णिस्सक कामसरणिक्खया इमा सिविणिए तुम दट्ठु ।

णिम्मसुअ-णिवित्ता णिम्मग मणोरहा होइ ॥ 3133॥32

1. दे0 ना0 मा0 ॥ 8165॥58

2. वही, 3121॥25

‘हे तरुण निश्चय ही स्वप्न मे तुम्हें देखते हुए वह कामवाणी से आहत होती रहती है (परन्तु) सोकर उठने पर भग्न मनोरथा हो जाती है ।’

इन कुछ प्रमुख एवं उल्लेखनीय पद्यों के अतिरिक्त और भी अनेकों पद्यों में दूतियों और उनके भाव्यम से नायक-नायिकाओं के सयोग के सुन्दर चित्र मिलते हैं । रयणावली के दूतीवचनों और एतदर्थ चित्रित प्रेम प्रसंगों में प्रायः अभिव्येता का ही बोलवाला है । ‘गाहासत्तसई’ ‘आर्यामिप्पसती’ ‘अमरुणतक’ तथा रीतिकालीन ग्रन्थों की भाँति इसके पद्यों में प्रायः प्रतीयमानता नहीं है । ‘रयणावली’ का शृंगार-चित्रण सामान्य वर्ग के नायक-नायिकाओं से सम्बन्धित है, अतः उसमें भगिमा नहीं है । यद्यपि इसमें हेमचन्द्र के कवित्व पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा है फिर भी देशी शब्दों का उदाहरण प्रस्तुत करने के चक्कर में वे अधिक रहे हैं । भावों की अतिशयता के द्योतन में कम ।

विविध नायिकाएं और उनके अभिसार चित्र

‘रयणावली’ के शृंगारिक पद्यों में अभिसार के ही चित्र अधिक हैं । इसमें चित्रित नायिकाओं को शास्त्रीयता के आधार पर व्याख्यायित करना भी कठिन होगा । क्योंकि यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि हेमचन्द्र का उद्देश्य भाव-गर्भित पद्यों की रचना करना न होकर देशी शब्दों का उदाहरण देना रहा है । इन उदाहरणों के सयोजन में कवि ने उच्च कोटि के भावात्मक पद्यों की रचना की है । यह बहुत कुछ अप्रयत्नित ही लगता है । ‘रयणावली’ की नायिकाएँ गाव की मावाराण कृपक एवं गोप बालाएँ हैं । इनके अतिरिक्त कई जगह कुलटाओं और वेश्याओं की भी चर्चा है । गोपवन्धू का एक अत्यन्त मादक-चित्र द्रष्टव्य है —

उग्रचित्ताण उग्रहाणीण मगोरुमित्तणयणाण ।

उरुसोस्ल ऊरवसणो तरुणाण कुणइ उवउज्ज ॥ 1192।108

‘दोहन कार्य में निवृत्त, मार्ग की ओर दत्त दृष्टि, दूध दुहने वाली स्त्री के जघन वस्त्र को प्रेरित कर वायु तरुणों पर बहुत बड़ा उपकार कर रहा है ।’ कुलटा स्त्री का एक चित्र देखने योग्य है—

ताडिअयपर बाल कुलडा तालाइ भोलविअ जाइ ।

तारत्तरेण तामरतामरसे सरिअ तूहम्मि ॥ 5।10।10

‘रोते हुए बच्चों को लाजा (लावा) आदि से फुसलाकर-कुलटा स्त्री सूर्य के डूब जाने पर नदी के किनारे (अभिसार हेतु) जाती है ।

इसी प्रकार देव्याग्रो¹ नागरब्राह्मणों की वधुग्रो² तथा हालिक (कृपक) युवनियों के अनेकों मादक चित्र देखे जा सकते हैं। नायको में सबसे अधिक चर्चित ग्रामाधिपति तथा ग्रामाधिपति का पुत्र, यही दोनों रहे हैं।

अन्य नायकों में नाई, माली, कृपक तथा गोप आदि की चर्चा हुई है। भारतीय दृष्टि में, कृष्णाभिसारिकाग्रो और शुक्लाभिसारिकाग्रो के चित्र भी दुर्लभ नहीं हैं। अन्धेरी रात में छिपकर देवमन्दिर में उपपति के साथ अभिसार के लिए जाने वाली नायिका का चित्र दर्शनीय है—

तिमिरोदभगणिसाए उम्मेर उच्छिन्नखलण उवभन्ता ।

उच्छुपग्वउज्जग्नग्रो उग्र अमई विसइ गण्ड देवउल ॥1179।95

‘तिमिरावगुण्ठित निशा में, गृह की देहलीज पर ही भेद खुल जाने से उद्भ्रान्त, भयपूर्वक चोरकर्मरत की भाति वह अमती मन्दिर में प्रवेश करती है।’

सकेअमागए उववइम्मि दूईइ भक्ति सनविआ ।

अहिमरइ गायरवहू णेइडुरिआदमणमिसेण ॥146।45

‘सकेत स्थल पर उपपति के आ जाने पर दूनी द्वारा शीघ्र बनायी गयी नागरबधू भाद्र शुक्लपक्ष की दशमी को मनाये जाने वाले उत्सव विशेष को देखने के बहाने अभिसार के लिए जाती है।’

एक हलवाई की पत्नी दिन में ही कुसुम्भी वस्त्र धारण कर ‘पोई’ (लता विशेष) के वन में उपपति के साथ रमण करने जाती है—

पोइअ चुण्ठण मिसग्रो पोइअ वणम्मि पोइअ घरिल्ली ।

पोलच्छेअ कण्ठे सुपोमरा पेच्छ अभिसरइ ॥

‘निद्रा करि लता पोई को तोड़ने के बहाने पोई के वन में जोते हुए खेत के किनारे, कुसुम्भी लालरंग का वस्त्र धारण किये हुए हलवाई की पत्नी अभिसार कर रही है।’

शुक्लाभिसारिका का एक अन्य रमणीय चित्र द्रष्टव्य है—

भल्लूसरिच्छवे से पइम्मि अलसे सयालए भभी ।

चन्दणरमभगतण उववइमहिसरइ जुण्हीए ॥6।84।99

भालू के सहश विखरे वाल वाले, असमान पति के सो जाने पर, चन्दन के रस से लिप्त शरीर वाली असती चादनी रात में उपपति के साथ अभिसार करती है।’

1 दे० ना० मा० ॥4।13।13

2 वही ॥4।46।45

इन सबके अतिरिक्त दिन के उजाले में ही छिप-छिप कर उपनायकों के साथ सम्भोग करने वाली नायिकाओं के अनेकों चित्र देखे जा सकते हैं। एक नायिका नदी के किनारे धूप में ही उपपति के साथ सम्भोग में रत है।¹ ईग क नेन, गोष्ठ तथा कुज आदि में होने वाली उन्मुक्त अभिसार लीलाओं का तो कहना ही क्या। यहाँ एक बात स्पष्ट कह देना आवश्यक है, रयणावली के शृगारिक पदों का अधिक भाग सम्भोग चित्रों को ही व्यक्त करने वाला है। शृगारिक हाव-भाव तथा अन्य कामोत्तेजक चेष्टाओं पर अधिक बल न देकर कवि सीधे-सीधे अत्यन्त स्थूल और मामल समोग चित्रों के ही अंकन में दत्तचित्त रहा है। अधिकतर नायक नायिकाओं के ग्रामीण अपटु और अशिक्षित होने के कारण उनकी चेष्टाएँ भी इसी के अनुकूल हैं। कुल मिल कर यह कहा जा सकता है कि 'रयणावली' के शृगार चित्र इस परम्परा की अन्य कृतियों के जोड़ में अत्यन्त स्थूल और कामोत्तेजक है। किन्हीं-किन्हीं पद्यों में तो रतिक्रिया भी साकार हो उठी है।² मुरतगता नवोढा वधू का एक स्पष्ट चित्र दृश्य है—

आयासतलोवरि वल्लहम्यचग्नि वयसि गिण्हवमु ।

आणदवडो आयासलवट्ठिअमारिआ य त कहइ ॥ 1-60-72 ॥

'घर के हर्म्य पृष्ठ में बैठी हुई नववधू सखियों से अपने वल्लभ (पति) के चरित का गोपन कर रही है। किन्तु हर्म्य पृष्ठ पर फँसे हुए रघिर-रजित वस्त्र स्वयं ही सब कुछ कह देते हैं।

ऊपर दिये गये कुछ उदाहरणों से 'रयणावली' में निहित शृगार के पद्यों की मूलभावधारा स्पष्ट हो जाती है। जहाँ तक इसके शृगार-चित्रण के तुलनात्मक अध्ययन का प्रश्न है, इसकी तुलना लोकभाषा में रची गयी शृगारिक कृतियों से की जा सकती है। परन्तु कम से कम इस परम्परा की अन्य कृतियों से भावग्रहण की प्रवृत्ति इस रचना के कवि में नहीं दिखायी पड़ती। इस विवाद की चर्चा आगे समुचित प्रसंग में की जायेगी।

सादक सौन्दर्य-चित्र

ऊपर 'रयणावली' के कुछ सम्भोग चित्रों को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। इसके सम्भोग चित्रों की भाँति इसके सौन्दर्य-चित्र भी अतिस्थूल मामल एवं कामोत्तेजक हैं। सौन्दर्य वर्णन के प्रसंगों में कवि जितने भी चित्र खींचता है।

1. दे० ना० मा० 4।27।27

2. वही 1।44।45

वे अत्यन्त उभरी हुई रेखाओं और चटकीले रंगों से युक्त हैं। कुछ उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं —

एक नयनि मुन्दरी ललना का वर्णन करते हुए हेमचन्द्र कहते हैं —

घणिग्रघमलयनकलस धुत्तणिग्रम्ब धरगसिग्र हसिग्र ।

घणिय नहिप्र जुग्राणो मण्णइ घण्णाउमत्तण सहल ॥ 5146158

‘अत्यन्त पुष्ट और बिम्बीर्ण कलश के समान स्तनो, अतिविस्तृत नितम्ब, कपास के समान स्वच्छ हल्की वाली प्रिया को देवकर युवक स्वयं को आशीर्वाद युक्त एवं सफल मानते हैं।’

उच्चनाभिनन वाली गौरागी नायिका मनुष्य रूपी मृगों को आकर्षित करने के लिए गोधूम की कृपि के समान है —

कुन्तनउड्डगुणेण जगणयणमिगाण उव्वाय व ।

मयणेण उरे रइय तुह उच्च उ वि गोरणि ॥1168186

‘केशराशि तृणों का घोटा है। नयन मनुष्य रूपी मृगों के बन्धन के लिए जाल हैं। प्रारम्भ में ही कामदेव द्वारा रचित है उच्चनाभितल वाली गौरागी। तुम पके हुए गोधूम की (फसल की) भाति हो। स्त्री-सौन्दर्य का कितना आल-कारिक वर्णन प्रस्तुत किया गया है। गौरागी नायिका को कामदेव की कृपि बताना अपने आप में अत्यन्त मीलिक एवं दुर्लभ कल्पना है। एक अन्य स्थान पर हेमचन्द्र मुन्दरी रमणी को कामदेव की जीवक मृगी बताते हैं। जिस प्रकार बहेलिया मृगों को आकृष्ट करने के लिए जंगल में अपनी पालतू मृगी को बाध देता है और जब मृग उससे आकृष्ट होकर उसके पास आता है तब बहेलिया उसका शिकार कर लेता है। उसी प्रकार मुन्दरी रमणी भी कामदेव रूपी व्याध की जीवक मृगी है, जिसे उसने युवक रूपी मृगों को आकृष्ट करने के लिए छोड़ रखा है—

जालवडिआइ जात ए णिग्रसि जीवयमइ व मयणस्स ।

ता मम हरिणोव्व तुम कुलडाजिण्णोव्वभाउ जिग्घन्तो ॥

‘कामदेव की जीवकमृगी के समान चन्द्रशाला में स्थित उसे (नायिका को) नहीं देख रह हो तो जाओ तुम हरिण के समान कुलटा रूपी दूर्वाओं को सूँघते हुए घूमो।’ ‘रयणावली’ के समस्त नख-शिख वर्णनों में नितम्ब, कटि, नाभि, स्तन, मुख, नयन और केशों का ही वर्णन प्रमुख है। कमल के समान आखों वाली सिंह कटि एक रमणी रात में पति के सो जाने पर अभिसार के लिए जा रही है।¹

एक सकेत प्राप्ता पीन पयोधरा वाला गोदावरी हृद की श्रौर अभिगार के लिए जाती है ।¹ कुछ स्थलों पर हेमचन्द्र ने नायिकाओं के स्तनों की उपमा चक्रवाक पक्षियों से भी दिया है । एक स्थान पर वेश्याओं के सौन्दर्य की भर्त्सना करते हुए हेमचन्द्र तरणों को उनसे बचने की सलाह देते हैं—

सूत्ररिअसूरणासणसूनाए लिहिअ मूङ्गण्डाए ।

मयरद्वय सूरगे मा त मलहोव्व रे पडमु ॥

‘यन्त्र की पीडा तथा सूरन के भोजन के समान पूर्वान्नात मन्त्ररी सदृश कपोलों वाली तथा कामदेव के दीपक के समान प्रज्वलित वेश्या (के जाल) में (हे तरण !) पतिंगे के समान न पड ।’ इसी प्रकार गुजरात के कच्छ नामक स्थान की कुलटाओं या वेश्याओं के कटाक्ष का वर्णन करते हुए हेमचन्द्र उपदेशात्मक रूप में कहते हैं—

कूसारखलन्तपश्रो के उकए पहिअ मा भममु कच्छे ।

ज केलीए कूणिअ पेच्छिअकेआण पडसि पामेमु ॥ 2।47।44 ॥

‘अधिक तू गड़ड़ो से युक्त एवं किचड़ले कच्छ के मार्गों पर भ्रमण मत कर, वरना कुलटाओं की ईषन्मुकुलित दृष्टि द्वारा किये गये कटाक्षों के जाल में जा पड़ेगा ।’

मादक सौन्दर्य चित्रों से युक्त, उपर्युक्त प्रसंगों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि रयणावली का सौन्दर्य वर्णन तथा नख-शिख चित्रण अत्यन्त भावतन्त्र एवं रमणीय है । कवि की मौलिक कल्पनाओं को देखते हुए यह सहज ही कहा जा सकता है कि यदि उसने स्वतंत्र रूप में पद्य-बद्ध नख-शिख चित्रण-प्रस्तुत किया होता तो निश्चित ही अत्यन्त सफल रहता । हेमचन्द्र के सौन्दर्य वर्णन की यह पद्धति परवर्ती अपभ्रंश में लिखे गये काव्यों के सौन्दर्य चित्रों में स्पष्ट ही देखी जा सकती है । चूँकि ‘रयणावली’ का सारा वातावरण ही ग्रामीण है अतः उसकी उपमाएँ भी नागर न होकर ग्रामीण ही हैं । सौन्दर्य वर्णन की किसी परिपाटी विशेष को स्वीकार कर न चलने के अन्तराल में भी यही तथ्य निहित है ।

‘रयणावली’ का विधोग-चित्रण —

‘रयणावली’ के मय्योग चित्रों की भाँति इसके विधोग-चित्र भी उच्चकोटि की साहित्यिकता एवं कलात्मकता से युक्त हैं । साहित्यिक दृष्टि से विधोग के दो प्रमुख विभाग मान और प्रवास दोनों ही का विशद वर्णन हुआ है । ‘रयणावली’ के कुछ विधोग-वर्णन तो इतने उच्च कोटि के हैं कि उनकी समता के अन्य चित्र दुर्लभ हैं ।

विरहताप का वर्णन तो अपने आप में अत्यन्त कलात्मक है । अब वियोग की दोनों स्थितियों का विवरण अलग-अलग दे देना समीचीन होगा ।

मान

परकीयानुरक्त नायक से क्रुद्ध होकर स्वकीया मान करती है । उसकी सखी मगभाते हुए कहती है—

पतिम सहि किमिह जुत चिर अवपुसिए पियम्मि अवच्छुरण ।

कायव्वमच्छिद्यडण अण्णोनरियावराहस्स ॥ 1।38।39 ॥

“हे नलि ! प्रसन्न होओ । चिरकाल से संयुक्त होकर रहने वाले प्रिय के प्रति तुम्हांगी कोपपूर्ण भंगिमा उचित नहीं है । अपराध की सीमा को अतिक्रान्त कर जाने पर भी (तुम्हें उसके अपराध की ओर से) आरा मू द लेना चाहिए ।” स्वकीया के मान का एक अन्य स्मरणीय वर्णन देखने योग्य है । पति अन्य में आसक्त है इस बात को जानकर कृष्णमारमृग के समान सुन्दर आवो वाली नायिका, ताम्बूल भाजन में रत्ने हुए बीड़े को उठाने के वहाने परामुखी हो जाती है ।¹ नायक के दुष्कर्मों से दुःखी स्वकीया उसे फटकारते हुए कहती है—दुष्ट ! मूर्ख ! उस कलहशीला के केशवन्ध में पुष्पो का आमेल (बूँडा) पहनाने वाले । अब मैं तेरे योग्य नहीं हूँ ।² इस प्रकार मान के और भी कई प्रसंग³ इस ग्रन्थ के पद्यों में दूढ़ जा सकते हैं । जितने भी मान के प्रसंग हैं प्रायः सभी स्वकीया से ही सम्बन्धित हैं । कुछ प्रसंग द्वितीयों के माध्यम से मान के चित्रण के भी हैं, परन्तु उनका कोई विशिष्ट साहित्यिक महत्त्व नहीं है ।

प्रवास और विरहताप

‘रयणावली’ के वियोग चित्रणों में प्रवासजन्य विरहताप का वर्णन अत्यन्त विषद और व्यञ्जनापूर्ण है । विरह के इन प्रसंगों की छाया परवर्ती हिन्दी रीतिकाव्य पर स्पष्ट ही देखी जा सकती है । विरह के इन पद्यों में ऊहाओ की भी कमी नहीं है । प्रवासजन्य विरहताप से सम्बद्ध कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं ।

वियोग की अवस्था में विरहताप से तापित नायिका का वर्णन करती हुई द्वितीया नायक को बताती है कि वह स्त्री पान और कमल के पुष्पों पर कुपित हो जाती

1 दे० ना० मा० 4।12।12

2. वही 5।40।47

3. वही 1।37 38

है। इस अवस्था में उसके लिये तुम्हीं सबसे सुखद वस्तु हो।¹ बहुत दिनों के प्रवास के बाद नायक घर लौटा। उसे नायिका की मखी रोनी हुई मिली। रोने का कारण पूछने पर वह बताती है कि दुराशय। मैं इसलिए रोती हूँ कि तू विवाह करके प्रवास को चला गया और उस बाला ने विरह रोग सह न पाने के कारण, स्वस्थ होते हुए भी कुएँ में कूदकर आत्महत्या कर ली।² एक दूती नायक को बताती है कि तुम्हारे गुणों द्वारा चुराये गये मन वाली तथा विरह के कारण अति कृशकाय, काम द्वारा आक्रान्त, वह तन्वद्गी तुम्हारी अनुपस्थिति में उद्विग्न होकर सभी मखियों को तिरस्कृत करती है।³ नष्ट जीवनेच्छावाली कम्बुग्रीवा एक नायिका विरह में इतनी तापित हैं कि उसे शिशिर ऋतु के ठण्डे दिन भी खोलने वाले नग रहे हैं।⁴ प्रवामी नायक के विरह में हमी छोड़कर उभयपक्षाघात से अस्थिर रुदन के कारण अवरुद्ध गले वाली नायिका ने मखियों का भी रुलाते-रुलाते कण्ठावरोध करा दिया है।⁵

विरहज्वर से पीड़ित नायिका शीतदायक वस्तुओं को भी नहीं सहन कर पाती। वह रात में भोजन को सूँघती भी नहीं—

गृह ओग्रघड कमल ओलङ्घ्य ए सहए जलद पि ।

ओवट्टिएहि ओग्राअवे वि ओमिहए ए मा असणं ॥1-130-162 ॥

‘कमलो को नहीं सूँघती, अगो में लगे हुए कपूर को भी नहीं सहन कर पाती। खुशामद करने पर भी सायंकाल वह भोजन को सूँघती तक नहीं।’ इतना ही नहीं केले की छाल एवं कमल पुष्पों की गंध भी उसके लिये केंवाच के समान दुःखदायक है, विस्मर पर वह विजली की तरह अस्थिर होकर तडपती रहती है—

कयली छल्लि छकुडमम्बुजछदि पि छु छुड मुण्ड ।

छलिएण छददलपिआ तेण विणा छच्चलेण छप्पणा ॥3-20-24

‘विजली के समान तडपती हुई अस्थिर गतिवाली एवं विदग्ध प्रिय के द्वारा छली गयी प्रिया, उसके बिना केले की छाल एवं कमल की गंध को भी केंवाच के समान दुःखदायी मानती है।’

1 दे० ना० मा० 1:34:36

2 वही 1:46:47

3. वही 1:96:112

4 वही 1:89:105

5. वही 1:110:142

गद्यवं विवाह के समय ही नायक द्वारा उपभुक्त वर्तुलाकार स्तन वाली विरहिणी नायिका की आँखों से नित्य आसू की पनारिया बहती रहती है ।¹ 'रयणावनी' के कुछ वियोग वर्णन अत्यन्त मार्मिक और प्रतीयमान अर्थ से युक्त हैं । एक स्थल द्रष्टव्य है —

दूती विरह मे जस्त कृष्णाय नायिका की दशा का चित्रण करती हुई नायक से कहती है —

यस्तनगारिय पेम्मय तुह विरहे तीइ डत्य तडफडिअ ।

नवकुगुमग्ग मूले ओपडिया मुदिया कहइ ॥519।9॥

'निर्दयप्रेमतर्णा । तेरे विरह मे वह वाला कितना छटपटाई थी, यह कुरवक वृक्ष के मूल में पड़ी हुई उनकी अंगूठी बताती है ।' विरहजन्य छटपटाहट के बीच अतिकृश हो गयी नायिका के हाथ की अंगूठी का गिर जाना स्वाभाविक ही है । यहाँ विरह के अतिरेक और तज्जन्य कृशता का कितना कलात्मक उल्लेख है । प्रिय के विरह में गड़ी हुई लकड़ी की भाँति खड़ी रहकर नायिका ने जैसे तैसे रात बितायी । उसकी सखी चिन्ता करती है । रात तो बीती सुबह क्या होगा ?² प्रिय के अग्नि के सहस्र प्रस्फुरित विरह में, पल्लव की शैल्या पर लेटी हुई तथा आसुओं से भीगे हुए स्तनों वाली नायिका, रात-दिन जलती रहती है ।³ कितना विरोधाभास सा लगता है, पर बात तो सच ही है, विरहाग्नि एक ऐसी अग्नि है जो तन को जलाती है, पर उसकी लपटें नहीं दिखायी पड़ती । फिर कृत्रिम साधनों से उसे शमित ही कैसे किया जा सकता है, फिर भी विरहाग्नि में जलती हुई नायिका की शान्ति के लिए उसकी शुभचिन्तक सखिया कुछ न कुछ उपचार तो करना ही चाहती हैं, यद्यपि ये उपचार भी विरहिणी के लिए शामक कम उत्तापक अधिक होते हैं । हेमचन्द्र की ऐसी ही एक नियोगिनी नायिका, नौकरानी को कृत्रिम उपचारों के करने से मना करती हुई कहती है —

किं परिहण जलोल्लसि मयणे किं करसि कमलपडिवेस ।

कुणसि पचत्तरणिजणे पडिच्छिण हिग्रयसलपरिहट्टि ॥6।24।21॥

“परिधान को क्यों जलाद्रंकर रही है, शैल्या पर कमल पुष्प क्यों डाल रही है, चाटुकारिता में निपुण प्रतिहारी तू हृदय की पीड़ा के आकर्षण (की वस्तुएं) जुटा रही है ।” हेमचन्द्र के इस पद्य की तुलना विहारी सतसई के अग्रलिखित दोहे से की जा सकती है —

1. दे० ना० मा० 4।40।39

2. वही 6।18।16

3. वही 6।23।20

अरे परे न करे हियो खरें जरे पर जार ।

लावति घोरि गुलाव सो मिले, मिने घनसार ॥¹

यहा यद्यपि उपचार की वस्तुएँ भिन्न हैं परन्तु दोनों विरहगियों की मनो-वृत्ति में पर्याप्त समानता है । इसी प्रकार हेमचन्द्र ने एक अन्य पद की भी तुलना विहारी के एक दोहे की जा सकती है । नायिका की सखी नायक से उसके (नायिका के) विषम विरहताप का वर्णन करती हुई बताती है —

सपत्तिआइ सण्णत्तिअग्निं तुज्झ विरहग्गिणा हिअए ।

सच्चेविआउ माला सदट्ठजलदया य सुवकन्ति ॥8।23।18॥

“तुम्हारे विरह की अग्नि से परितापित, उस वाला के हृदय पर रखी गयी पुष्प की मालाएँ और जल से भीगी हुई वस्तुएँ भी सूख जाती हैं ।” इसी प्रकार विहारी की भी एक नायिका विषम विरह ताप से तापित है । उसके ताप को शमित करने के लिए मखिया पूरी गुलाव जल की सीसी ही आँवा देती है, परन्तु वह सबका सब बीच में विरहताप से सूख जाता है । एक छोटा भी उसके शरीर पर नहीं पड़ता ।² बातें दोनों एक ही हैं, पर स्तर का अन्तर होने के कारण दोनों में भेद आ गया है । आचार्य हेमचन्द्र की नायिकाएँ जिस वर्ग से सम्बन्धित हैं, वह वर्ग इत्र, तेल, फुलेल आदि की बातें नहीं जानता वह तो सहज प्राप्य वस्तुओं का ही प्रयोग करता है । विरह शमन के लिए फूल की मालाएँ और जल में भिगी हुई वस्तुएँ उसके लिए सुलभ हैं । विहारी की नायिकाएँ बिलासी मुगल दरबारों की नागरी नायिकाएँ हैं । इसीलिए उनका उपचार भी उसी स्तर का मिलता है । जहाँ तक मूल भावना और कार्य का सम्बन्ध है, दोनों में पर्याप्त समानता है । अन्तर इतना ही है कि हेमचन्द्र का वियोग चित्रण प्रायः यथार्थ और अभिधात्मक है । विहारी की भाँति ऊहात्मक उक्तियाँ उनमें कम ही हैं । हेमचन्द्र की एक अन्य वियोगिनी नायिका प्रिय वियोग में अन्यन्त उदासीन और विरहाग्नि से सतप्त है । उसकी दशा देखकर चिन्तित हुई सखी नायक के पास जाकर उससे बताती है —

सेजजारिअ एण इच्छइ सेवालजयक्ख सोमहिड्डे अ ।

मरिही सेहरथणिआ कइवयसेवाडएहि तुह विरहे ॥8।48।43

“भूले में भूलने की इच्छा नहीं करती, कमलो और किचडेली (गीली, ठडी) जगहों में रहने की इच्छा नहीं करती । वह चक्रवाकस्तनी तुम्हारे वियोग में कुछ ही

1 विहारी रत्नाकर, दो० सं० 529, पृष्ठ 218

2 विहारा रत्नाकर, दो० सं० 217, पृ० 91

चुटकियो (पलो) मे मर जायेगी ।” नायिका को विरहताप से छुटकारा दिलाने मे किसी प्रकार का भेषज्य (उपचार) कार्य नही करता उसके लिए तो बस एक नायक ही अद्वितीय उपचार है —

लङ्गीरमलसमकलसुग्रपमुर्हहि किं इमाइ भेसज्ज ।

लल्लवकलसउ सोच्चिअ तरुणो तथा लङ्ग्रहारो ॥7॥15॥18॥

“लनाग्रो का रस, वृक्षो का दूध, तैलादि भेषज्यो से क्या लाभ । इस भयानक कामरोग मे तो इनके गले का हार वह युवक ही (अद्वितीय भेषज्य है) ।” विरह ताप के कारण रात-दिन विरहिणी को नीद नही आती । सखिया उसे निद्राकारी-लता के पत्ते पीसकर पिलाती है परन्तु किसी भी प्रकार वह काम-सर-हता रमणी निद्रा नही प्राप्त कर पाती ।¹

इम प्रकार वियोग दु विता नायिका को न रात मे चैन है न दिन मे । “कृत्तिका नक्षत्र के ममाप्त हो जाने के बाद दिन के छोटे हो जाने पर प्रिय विरह से तापित रमणियो की रातें एक युग के समान हो जानी हैं ।² सखी कहती है “कामवधिक तुम अत्यन्त मलिन कर्मा हो जो बादलो की गर्जना से विनष्ट विरहिणी का हनन कर रहे हो ।”³ वर्षा ऋतु सामान्यजनो को प्रिय होती है परन्तु नायिका के लिए वह भी परमउत्तापक है । नायिका की सखी नायक से कहती है—“खुने हुए केशो वाली वह वाला, तुम्हारे विरह की अग्नि से बभणी नामक कीड़े की भाति सतप्त (छटपटा रही) है । चातक के बोलने तथा “घने बादलो की गर्जना से उसे और भी आराम नही मिलता ।”⁴

इम प्रकार सयोग और वियोग के अनेको कलात्मक प्रसंग ‘रयणावली’ की अमर निधिया हैं । मूल रूप से व्याकरण और भाषाशास्त्र का ग्रन्थ होते हुए भी यह कोश अपने श्रु गारिक पद्यो के आधार पर किसी भी साहित्यिक ग्रन्थ के जोड मे रखा जा सकता है । ‘रयणावली’ के श्रु गारिक पद्य तत्कालीन गुजरात के सुललित ऐहिकता परक जीवन को व्यक्त करने मे अत्यन्त सफल है । इन पद्यो मे आचार्य हेमचन्द्र का कवित्व भी निखर कर सामने आता है । इस दृष्टि से ‘रयणावली’ का अध्ययन बिल्कुल ही नही हुआ है, इस दिशा मे चलकर यदि विचार किया जाये तो ‘रयणावली’ सचमुच रयणावली (रत्नावली) अर्थात् अमूल्य एव साहित्यिक सौन्दर्य

1. दे० ना० मा० 7।28।34

2. वही 5।50।62

3. वही 7।6।72

4. वही 6।74।90

मे युक्त पद्यों की निधि सिद्ध होगी। कम मे कम इसमें शृंगारिक पद्य तो मतमई परम्परा की किसी भी कृति के पद्यों के जोड़ में कम मूल्यवान नहीं हैं।

कुमारपाल की प्रशस्ति से सम्बन्धित पद्य

लोक-जीवन की शृंगारपरक ललित भावनाओं की अभिव्यक्ति करने वाले शृंगारिक पद्यों के अतिरिक्त 'रयणावली' के लगभग 105 पद्यों में आचार्य हेमचन्द्र ने अपने आश्रयदाता राजा कुमारपाल के यश और शौर्य का प्रशस्तिपरक वर्णन प्रस्तुत किया है। इन पद्यों में कही कुमारपाल की वीरता, कही दानशीलता तो कही-कही धर्मशीलता की प्रशंसा की गयी है। अधिकतर पद्यों में कुमारपाल के पराक्रम, उसकी युद्धवीरता तथा स्वयं की भीमता से डरे हुए उसके शत्रुओं का ही वर्णन किया गया है। कुमारपाल के पराक्रम से त्रस्त उसके शत्रु अपना घर बार तथा हास-विलास छोड़कर जंगलो, गिरि, गह्वरो आदि में छिपते हुए प्राण बचा रहे हैं, वस इसी प्रकार की भावना लगभग सारे पद्यों में विद्यमान है। कुमारपाल के गुणों और उसकी समृद्धि का भी वर्णन कुछ पद्यों में हुआ है। कुछ एक पद्य उसकी विजयों से भी सम्बन्धित हैं। इन सभी प्रसंगों में सम्बन्धित कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं।

कुमारपाल के पराक्रम से त्रस्त होकर रणक्षेत्र से भागते हुए शत्रुओं की दशा का वर्णन करते हुए आचार्य कहते हैं—

अगक्खन्धपलायण अहिरीआ कुमरवान तुह रिउणो ।

ओवीहन्ति अलीसयणिउज अक्खलिअ अप्प महेवि ॥125।27॥

“कुमारपाल ! रणमुख में नागे हुए कान्तिहीन, तुम्हारे शत्रु शाकवृक्ष के निकुंज में अपने ही शब्द की प्रतिध्वनि में त्रस्त हो रहे हैं।” कुछ शत्रु तो “अपकीर्ति की गणना न करते हुए अगुलीयक आदि आभरणों को त्यागकर रण से भागकर कापालिक के वेश में घूम रहे हैं।”¹

कुमारपाल के डर में उसके शत्रु अपने घरों में भी छिपने का स्थान बनाकर रहने हैं—

खड्ढाधरेमु खत्ता वप्पे वण्ण च वासभवणम्मि ।

खलिभोग्गणाण खल्लम्भराण तुह वेरिआण धी खड्ढ ॥2।54।66

“आश्चर्य है, खली का भोजन करते हुए, चर्मधारी, दाढ़ी मूँछ बढ़ाये हुए तुम्हारे शत्रु अपने घर तथा निवास के कमरों में (भी) गड्ढे बनाकर रहते हैं।”

कुमारपाल के आक्रमण से भयभीत उसके कुछ शत्रु घर छोड़कर भाग रहे हैं—

गिरिगडहरे उत्तरिअ डगला डडएण तुह रिउणा ।

डडुटाडिडम्बरिल्ले जन्ति वणे डभिअव्व जखसणा ॥ 4।8।8॥

“अपने भवनो से उतरकर वच्चो को लिये हुए-धूप में तपती हुई सड़क से जीर्णोशीर्ण वस्त्रधारी तुम्हारे शत्रु वन की ओर जा रहे हैं ।” वन में शुको द्वारा आघात कर जोड़ दिये गये फलो से वे गुजरार कर रहे हैं ।¹ इसी आशय का एक अन्य पद्य भी द्रष्टव्य है—

तुह वाणवक्कडे वदलेव्व हमो रिऊ चइअ सभर ।

वकिअ सुअ वलिअफलो सुमरइ वयड गओ वणायवणे ॥7।29।35॥

“तुम्हारे द्वारा की गयी निरन्तर वाणवृष्टि रूपी दुर्दिन के कारण हस रूपी शत्रु समर छोड़कर व्याधाकुल वन में सुक-भक्षित फलो का आहार करते हुए वाटिका (?) का स्मरण कर रहे हैं ।”

युद्ध से भयभीत शत्रुओं की तो ये दशाएं हैं । उनकी पत्नियों के त्रास का वर्णन भी हेमचन्द्र ने कई स्थलों पर किया है । कुमारपाल के शत्रुओं की वे ही पत्नियां जो कभी तरह-तरह के विलास के प्रसाधनों का प्रयोग करती थीं, सभी कुछ छोड़ जंगलों में भटक रही हैं—

घुसिणाहिवणिआओ अज्भोल्लिअ भूसिआउ जाउ पुरा ।

तुह रिउवहूउताओ भमन्ति चइअ अद्धजघिआउ वणे ॥2।31।33॥

“पहले जो पीले और काल रंग के केशर से लिप्त रहती थी तथा जिनके वक्ष-स्थल के आभूषण मोतियों की रचना से युक्त रहते थे—तुम्हारे शत्रुओं की वे ही वधुए पदत्राण को भी छोड़कर (नगे पाव ही) वन में घूम रही हैं ।” आचार्य हेमचन्द्र की ये पत्नियां हिन्दी के प्रसिद्ध कवि भूषण के प्रसिद्ध कवित्त की याद दिलाती हैं । भूषण ने भी शिवाजी के शौर्यवर्णन के बीच उनकी शत्रु-पत्नियों की दशा का वर्णन लगभग इसी प्रकार किया है । द्रष्टव्य है, भूषण का निम्न कवित्त—

ऊँचे घोर मन्दर के अन्दर रहन वारी,

ऊँचे घोर मन्दर के अन्दर रहाती हैं

×

×

×

भूषण की उस कौटि की प्रशस्तिपरक कविता पर हेमचन्द्र जैसे प्रसिद्ध पूर्व कवियों का प्रभाव स्पष्ट ही परिलक्षित किया जा सकता है। एक स्थल पर हेमचन्द्र कुमारपाल के पराक्रम में अस्त, जगत् में लुकती छिपती शत्रुओं की पत्नियों की तुलना छिपकली जैसे टरपोक और निरुपद्रु जीव से करते हैं—

खाडग्रलघणत्वारयमुहिम्राविविखरिका तुहारिचह ।

खाडग्रणिग्रवेमुडरिआ त्वारफिडिव्व तुक्केड ॥2161173॥

“खाई आदि के लावने में भुरभाए हुए मुगवाली, हाथ में (अस्पृश्यता द्योतक) फटा ब्राम का डडा लिये, अपने ही पद की प्रतिध्वनि से उगी हुई गिपु बधुए छिपकली के समान लुक छिप रही हैं।” एक अन्य पद में जगत् में भटकती हुई एवं भयग्रस्त शत्रु-पत्नियों का अत्यन्त सुन्दर वर्णन किया गया है—

रिमिणत्तरिक्कग्रच्छीउरुवर्गिण्डोलिमज्जरिरिआओ ।

मुच्छन्तिरिच्छिमल्लयमीआ तुह कुमरवानरिउवहुप्रा ॥171717॥

“रोदनशील सूजी हुई आँखों वाली-वृद्धों की पत्ति के मध्यलीन तुम्हारे शत्रुओं की बधुए रोछों और भानुओं के भय में मूर्छित हो जाती है।”

उसी प्रकार और अनेकों चाटुकारिता भरे प्रशस्ति के पद “रयणावनी” में निबद्ध हैं। शत्रुओं की पतनोन्मुख दशा के वर्णन के माध्यम में किसी राजा के प्रभाव और उसके पराक्रम को व्यक्त करना भारतीय परम्परा में पाये जाने वाले समस्त प्रशस्तिपरक काव्यों की एक विशेषता रही है। हिन्दी साहित्य के आदिकालीन चारणकाव्यों तथा रीतिकान में लिखे गये भूषण आदि कवियों की काव्य-रचनाओं में शत्रुओं के अपकर्ष वर्णन के माध्यम में आश्रयदाता राजा की चाटुकारिता भरी प्रशंसा की परिपाटी अति सामान्य रूप में देखी जा सकती है।

शत्रुओं के अपकर्ष-वर्णन के अतिरिक्त कुछ पद्यों में कुमारपाल की युद्ध में दिवायी गई वीरता तथा उनकी वीरवाहिनी आदि का वर्णन है। ऐसे वर्णन भी प्रायः अतिशयोक्तियों से भरे पड़े हैं। इस कौटि के कुछ पद्य द्रष्टव्य हैं - एक पद्य में कुमारपाल के भीषण अस्त्र-प्रहार का वर्णन करते हुए हेमचन्द्र कहते हैं—

तुह सिअ कटारीफुट्टकदलो वव्वरा कयलतुन्दो ।

कसरो व्व सिद्धणम्वड तुडेड कटालिसकुलणईए ॥214-4॥

मिद्धनरपति ! तुम्हारी श्वेत (चमकती) बारवाली कटारी के प्रहार से फूटे हुए कपारवाला, घटोदर, अबम बलीवर्ध के समान बवंर (असम्य) भटकटैया से युक्त

नदी नट पर नुटन रहा है ।” एक पद्य मे कुमारपाल की टिड्डियो के समान असख्य चुडसवार सेना का अत्यन्त आलंकारिक वर्णन किया गया है—

निरिकुमारवालणखइ तुहुरयाघोरिणोव्व अगणिज्जा ।

कवलन्ति वेरिपत्तिय वलाइ घोमालिआ दलाइ व ॥ 2।90।111॥

“नरपति कुमारपाल ! तुम्हारे शलभ (टिड्डियो) के समान अगणित घोडे चैंगी राजाओ के बल (सेन्य) को शरद मे उगने वाली लता के कोमल पत्तों की भांति क्वचिन् कर लेते है ।” कुमारपाल शत्रु रूपी पक्षियों के लिए बाज के समान है ।¹ उसके क्रोधित होते ही शत्रुवर्ग भागकर रामुद्र के किनारे आश्रय लेता है ।² उनके क्रोधित होते ही तथा धनुष की टकार मात्र से ही शत्रु भाग जाते है ।³

इन पराक्रमपरक प्रशस्तियों के अतिरिक्त कुमारपाल की धवल कीर्ति और उसकी नमृद्धि का भी अत्यन्त आलंकारिक वर्णन कई पद्यो मे मिलता है । कुछ उदाहरण यहां दिये जा रहे हैं—

गिवमउडोप्पिअपयणह कित्ती तुज्झ धवलेड ओज्झ पि ।

ससिकुलमवाण अहवा ओलिसहावो अय कुमरवाल ॥ 1।116।148॥

‘धूलि मे मलिनमणि के समान कुमारपाल की कीर्ति मलिन होते हुए भी प्रवल है तो या तो यह उसके चन्द्रकुल मे उत्पन्न होने के कारण है या फिर कुलपरिपाटी के कारण ।’ अस्थिर गति लक्ष्मी को भी कुमारपाल ने इस प्रकार धारण किया है कि वे अत्यधिक लम्पटा होते हुए भी, उसे छोड़कर जा नहीं पाती—

“उल्ललिअदोसतुम तह उग्गहिआ कुमरवाल तइ लच्छी ।

उल्लेहडा वि जह सा ण मण्णाए अण्णमुवसेर ॥ 5।88।104॥

“कुमारपाल ! तुमने जियिल स्थिति वाली और दोषो से युक्त लक्ष्मी को भी इतनी निपुणता मे ग्रहण किया है कि अतिलम्पटा होते हुए भी वह किसी अन्य को रति योग्य नहीं मानती ।” कुमारपाल की राज्यश्री का एक अन्य वर्णन भी उल्लेखनीय है—

जयसिरिणिवासजेमण भुअ तुह गुणवण्णम्मि का जोग्गा ।

जोर जसेण चालुक्क जोक्खमवहरसि जोअस्स ॥ 3।40।48॥

“दक्षिण भुजा पर लक्ष्मी को धारण करने वाले (कुमारपाल) तुम्हारे गुणवर्णन मे चाटुकारिता क्या ? हे चालुक्य नरेश ! निश्चय ही तुम्हारे यश की धवलता

1 दे० ना० मा० 8।8।7

2 वही 6।7।7

3 वही 6।15।14

मलिन चन्द्रमा को भी अतिक्रान्त करने वाली है।" अर्थात् तुम्हारे यश की वन्दनता की समानता मलिन चन्द्रमा कैसे कर सकता है ?

कुमारपाल के यश का गुणगान उमकी प्रजा और वन्दीजन तो करते ही हैं, आकाशचारी विद्याधर भी नित्य किया करते हैं।

गुणमणिरायहर चुलुक्क तुज्ज मायदकु जमाडिअ ए ।

गाएड पुलयमाई खयग्जिणो माहमालधवल जस ॥ 61111128॥

“गुण रूपी मणियों के समुद्र, चालुक्य नरेण! तुम्हारे आम्नकु जगृह मे पुनक्ति रोम वाले खेचर (विद्याधर) तुम्हारे कुन्द एव ज्योत्स्ना के समान धवल यश का गान करते हैं।”

उपर्युक्त कुछ उदाहरण यह सिद्ध करने के लिये पर्याप्त हैं कि आचार्य हेमचन्द्र बहुमुखी प्रतिभा के कवि थे। शृंगारिक पद्यों के समान ही उनके कुमारपाल की प्रशस्ति में सम्बन्धित पद्य भी हिन्दी के आदिकालीन चारणकाव्यों तथा रीतिकाल के भूपण आदि के प्रशस्तिपरक कवित्तों की पृष्ठभूमि के रूप में, अपनी विशिष्ट महत्ता रखते हैं। आचार्य हेमचन्द्र के ये प्रशस्ति पद्य तत्कालीन रासक परम्परा की कृतियों तथा उसके पूर्व संस्कृत के दरबारी कवियों की प्रशस्तियों को जोड़ने वाली कड़ी के रूप में देखे जा सकते हैं। हिन्दी साहित्य की आदिकालीन चारणों और भाटों की प्रशस्तियों पर हेमचन्द्र के इन पद्यों का प्रभाव स्पष्ट ही परिलक्षित किया जा सकता है। आश्रयदाता राजा की प्रशंसा में उसके शत्रुओं के अपकर्ष का वर्णन स्वयं उमकी राज्यश्री और वीरता एवं दानशीलता का बड़ा चढ़ाकर किया गया वर्णन हिन्दी के दरबारी कवियों में सुलभ वस्तु है। केशव और भूपण जैसे रीतिकालीन हिन्दी कवियों में तो इस प्रकार की कविता की प्रवृत्ति बहुत मात्रा में है।

(3) “रयणावली” के विविध विषयात्मक पद्य :

आचार्य हेमचन्द्र एक उच्चकोटि के व्याकरणकार, भाषाविद एवं महद्दय कवि होने के साथ ही एक उच्च कोटि के युगद्रष्टा, लोकव्यवहारज्ञ एवं नीतिज्ञ भी थे। इनकी “रयणावली” में लगभग 120 पद्य ऐसे हैं जिनमें लोकव्यवहार की शिक्षा, नैतिक उपदेश, देवी देवताओं की चर्चा तथा अन्य सामान्य विषयों को निबद्ध किया गया है। इनमें अनेको पद्य ऐसे हैं जिनमें मानवजीवन के निर्माण में सहायक तथा जनजीवन को प्रेरणा प्रदान करने वाले सुन्दर उपदेश निबद्ध हैं। धर्मोपदेशक जैन आचार्यों में हेमचन्द्र का नाम बड़े आदर के साथ लिया जाता है। “रयणावली” के इस कोटि के पद्यों को मुनि रामसिंह की ‘पाहुडदोहा’ तथा अन्य जैन मुनियों की उपदेशात्मक कृतियों के पद्यों की तुलना में रखा जा सकता है। प्रो० मुरलीधर वनजर्ज

ने हेमचन्द्र के इन पद्यों की तुलना भर्तृहरि के नीतिशतक के पद्यों तथा संस्कृत के विविध कवियों द्वारा लिखे गये सुभाषित संग्रहों से की है।¹ यह बहुत कुछ ठीक भी है। 'रयणावली' के इन पद्यों में संस्कृत के नीतिपरक पद्यों के समान ही लोक-जीवन की बहुमूल्य एवं लाभप्रद उक्तियाँ निबद्ध हैं। अति प्राचीन प्राकृत काव्यसंग्रह 'वज्जालम्' में भी इस प्रकार के पद्यों की कमी नहीं है। 'रयणावली' के दस कोटि के कुछ पद्यों का विवरण आगे दिया जा रहा है।

एक पद्य में कवि लोक-जीवन के सुचारु रूप से चलने में बाधा उत्पन्न करने वाले तत्त्वों का उल्लेख करते हुए कहता है—

सर्गिआण अग्गवेप्रो अदसणात्तहय अप्पगुत्ता य ।

दूमन्ति भक्ति लोअ अहिआरविरोहिणो हि खला ॥

“नदियों की बाढ़, चोर तथा केंवाच, लोगों को शीघ्र ही परित्यापित करते हैं। (सच है) खल (नीच लोग) लोक यात्रा-विरोधी होते ही हैं।”

इवभाणमिरिणमिक्खसमिद्धण्डाण गयाण इ गाली ।

इग्गाण य माभेसीसदो हरिस समुव्वहइ ॥ 1161179॥

“वणिक् के लिए मोना, भ्रमर के लिए कमल, गज के लिए ईख, डरे हुए के लिए 'मत डरो' का शब्द हर्ष का उद्वहन करने वाले होते हैं।” एक पद्य में हेमचन्द्र सामाजिक रूढ़ियों का उल्लेख करते हैं कि परम्परा प्रिय भारतीय समाज निकृष्ट से निकृष्ट जीवों को भी मान्यता दे सकता है, परन्तु कुमारी स्त्री से उत्पन्न हुए अवैध पुत्र को नहीं।²

कुछ पद्यों में कवि ने एक साथ ही कई-कई सामाजिक तथ्यों का उद्घाटन किया है। जैसे—

जयणेहि हया गामा जगाहि कणा-य जभभावेण ।

महिलाओ जणहलीहि सहन्ति गेहा जरड जच्चेहि ॥ 3131140॥

‘लगाम से घोड़े, गोचर भूमि से गाव, तुष से अनाज, नीवी से महिलाएँ तथा बूढ़ों और बच्चों से घर शोभा पाते हैं।’ ऐसे ही एक अन्य पद्य में वे बताते हैं कि—मलाई से दही, मूठ से तलवार, गहरे पानी से कुआँ, वीरों से विषम अवसर तथा पशुओं से ग्राम-समूह सुशोभित होते हैं।³

1 प्रो मुरलीधर बनर्जी—दे. ना मा की भूमिका, तृतीय खण्ड ।

2 दे ना मा 1164181

3 दे ना मा, 5119124

एक सामाजिक सत्य का उद्घाटन करते हुए हेमचन्द्र कहते हैं--

ठाणो ण ठल्लयाण ठाणिज्जत ण यावि ठइआण ।

ण ठिवक सण्ढाण अठविअउवलाण ण य पूआ ॥ 4।5।5॥

‘निर्धन का मान नहीं, अवकाश रहित को गौरव नहीं, पण्ड (नपुंसक) को शिष्यन नहीं तथा अस्थापित प्रतिमा की पूजा नहीं होती ।’

निर्वलो श्रीर विनम्र लोगो को आश्रय देना प्रत्येक व्यक्ति का पुनीत कर्त्तव्य है । जो समृद्ध हैं उनका तो यह विशिष्ट कर्त्तव्य है । समृद्धि पाते हुए भी विनत लोगो की रक्षा न करने वाले दुष्ट पुरुष की भर्त्सना करते हुए हेमचन्द्र कहते हैं—

किं ते रिद्धि पत्ता पिसुणा जे पणइणो वि ताविन्ति ।

कवयकलवूउ वर कमि अकरोडीण दिन्ति जे छाहि ॥ 2।3।3॥

“जो विनम्र जनो को भी तापित करता है ऐसे दुष्ट के समृद्धि प्राप्त करने से क्या ? (उससे तो) कुकुम्भुत्ता और नालिका नामक लता थोठ हैं जो समीप आयी कीटिका को भी छाह देते हैं ।”

आचार्य हेमचन्द्र मे धर्मान्विता नाम मात्र को भी नहीं थी । एक जैन आचार्य होते हुए भी अन्य जैन आचार्यों की भांति उन्होंने सनातन वर्म की कटु आलोचनाएं नहीं की परन्तु समय-समय उन्होंने सदैव इसके ढकांसलों तथा दिखावेपन का विरोध किया है । एक पद्य मे उन्होंने मूर्तिपूजा के खोखलेपन की चर्चा की है ।

पडिरजिअ पडिमाए किं रे पडिएल्लिआइ होइ फल ।

पडिअतय किं दिट्ठो पिडिअ पज्जुणासराउ उच्छुरसो ॥ 6-35-32॥

“भग्नप्रतिमा से क्या कृतकृत्य करने वाला फल मिलता है ? रे कर्मकर ! ईख केसदृश घास पेरने से क्या ईख का मीठा रस प्राप्त होता है ।” इसी प्रकार एक पद्य¹ मे आचार्य यज्ञ मे वलि देने के रूप मे हत्या करने वाले ब्राह्मण को मूर्ख और अन्त मे बुरा परिणाम भुगतने बताते हैं । अपने पाण्डित्य का मिथ्या गर्व करने वाले तथा परम्परा की लीक पीटने वाले विद्वानो की तुलना आचार्य जुगाली करने वाले पशु से करते हैं —

उप्पाइउमसमत्था जे चव्विअ चव्वण कुणान्ति कई ।

वोमीपणाफुड ते वोकिल्लिअकारिणो पसुणो ॥7।76।82॥

“कुल भी (नजी) उन्मार्जित करने में अनमयं जो चवित-चर्वणमात्र करते हैं । स्पष्ट ही धेनारे जुगाली करने जाने पनु है ।”

ऊपर उल्लिखित कुछ पद्यों के अतिरिक्त उन कोशग्रन्थ में नीति, उपदेश, अर्थोक्ति आदि में सम्बन्धित और भी अनेकों पद्य हैं जो कवि की व्यावहारिकता और उनके सामाजिक ज्ञान की स्पष्ट करने में अत्यन्त समर्थ हैं । हेमचन्द्र के इन पद्यों में अत्यन्त भीषण और सरल शैली में लोक व्यवहार, धार्मिक आस्थाओं एवं सामाजिक समस्याओं का विस्तार हुआ है । किन्ती भी पद्य में आचार्यों के कट्टर जैन पंथापरम्परी होने का चिह्न नहीं मिलता । सामाजिक गुरीतियों और धर्मगत ढको-सको का ज्ञान रही वे उन्मार्जित करने भी हैं, अत्यन्त विनम्रतापूर्ण शैली में करते हैं । इनके पद्यों में बुद्धता, शिवपरम्परा और जैनी दोनों ही दृष्टियों से मुनि रामसिंह के प्रसिद्ध ग्रन्थ “पद्मपुराण” से ली जा सकती है । पर्यर्ती हिन्दी मतसई परम्परा के पद्यों में भी हेमचन्द्र के इन पद्यों का स्वर सुन्दर देखा जा सकता है । इन पद्यों का अति एक सच्चा महात्मा, समाजहितचिन्तक, जटिन धार्मिक मान्यताओं से रहित दृष्टिकोण वाला सुगमपटा, व्यक्तित्व है । कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि “रयणावली” के सामान्य विषयों में सम्बन्धित पद्य भी अपना विशिष्ट साहित्यिक महत्त्व रखते हैं ।

रयणावली का कलापक्ष

छन्द

“रयणावली” के उदाहरणों में प्राकृत के “गाहा” (गाथा) छन्द का प्रयोग हुआ है । सम्भूत तथा प्राकृत के आचार्यों ने “गाहा” और संस्कृत के “आर्या” छन्द को एक ही बताया है । “गाथा” शब्द का प्रयोग वैदिक साहित्य से लेकर संस्कृत तक में भिन्न-भिन्न अर्थों में किया गया है । छन्द शास्त्र के प्रणेता पिंगलाचार्य ने “अथानुक्त गाथा” कह कर छोड़ दिया है । हलायुध” अत्रशाम्भे नामोद्देश्येन-यन्त्रोक्त छन्द प्रयोगे च दृश्यते, तद्गाथेति मन्तव्यम्” कहते हैं । रत्नशेखर सूरि “गाहा” का उद्धार इस प्रकार देते हैं—

‘ममान्नेण वारस अट्ठारम वार पनर मत्ताओ ।

रुमसो पाय चउक्के, गाहाएइ हुति नियमेण ॥

गाहाइदने चउचउमत्त सासत्त, अट्ठोभदुकलो ।

एयवीय दले विदु नवर छट्ठोइ एक गलो ॥”

रत्नशेखर सूरि के अनुसार-गाहा चार पदों का छन्द होता है । इसके विषम पादों (प्रथम, तृतीय) में 12 तथा समपादों (द्वितीय, चतुर्थ) में 18 मात्राएँ होती हैं ।

यह तो हुआ प्राकृत के अपने छंद “गाहा” का लक्षण । कोलब्रुक महोदय “गाहा” को संस्कृत से आया छंद बनाते हैं ।¹ डा० गोरे ने “वज्रालग” की प्रस्तावना के सानवें पृष्ठ पर गाथा का लक्षण दिया है । ऊपर दिये गये “गाथा” लक्षण के अतिरिक्त एक अन्य लक्षण भी मिलता है—

पढम बारहमत्ता, वीए अठारएहिसजुता ।

जहपढम तह तीअ, दसपच विहसिआ गाहा ॥”

इस परिभाषा के अनुसार जिसके प्रथम तथा तृतीय पाद में क्रमशः 12 मात्राएँ, द्वितीय पाद में 18 मात्राएँ तथा चतुर्थपाद में 15 मात्राएँ हों, वह छंद ‘गाथा’ कहलाता है । संस्कृत के ‘आर्या’ छन्द का भी यही लक्षण है—

यस्या पादे प्रथमे द्वादशमात्रास्तथातृतीयेऽपि ।

अष्टादश द्वितीये चतुर्थ के पचदश मात्र्या ॥

“जिस छंद का प्रथम चरण 12 मात्रा का (स्वर की लघुता एवं गुस्ता के परिमाण से) द्वितीय 18 का, तृतीय बारह और चतुर्थ 15 का होता है उसका नाम आर्या है ।” कोलब्रुक महोदय ने इसी के आधार पर यह स्थापित किया था कि प्राकृत का ‘गाहा’ छंद संस्कृत की आर्या से निकला है । परन्तु यह न कह कर यदि कहा जाये कि संस्कृत की आर्या ही ‘गाहा’ के आधार पर विकसित है तो अधिक उपयुक्त होगा । क्योंकि प्राकृत का ‘गाहा’ छंद अपने अनेको भेद प्रभेदों के साथ संस्कृत के छंदों से अलग है । गाहा, विगाथ, उद्गाथ, गायिनी, सिंहनी आदि इसके उपभेद हैं । प्राकृत का ‘गाहा’ छंद ही संस्कृत की आर्या है । 60 मात्राओं (12 + 18 + 12 + 18) वाली गाथा, जिसकी परिभाषा पहले दी गई है, गाथा का ही एक अन्य प्रभेद उद्गाथा है ।

‘रयणावली’ में निबद्ध उदाहरण की गाथाएँ दो प्रकार की हैं । कुछ गाथाएँ 60 मात्राओं (12 + 18 + 12 + 18) वाली हैं और कुछ 57 मात्राओं (12 + 18 + 12 + 15) वाली संस्कृत की आर्याओं के लक्षण की हैं । 60 मात्राओं वाली गाथा का एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

12

18

‘विअलिअ उइ ततएाए सुण्ण उव्भालण कुणन्तीए ।

तह पुलइअमुच्छविअ जह काउ सक्किमो ए उज्झमण ॥1187॥103॥

12

18

57 मात्राओं वाली गाथा—

12

18

टोलोव्व मा पड तुम उज्जारो वाणिणीउ ज पुरओ ।

12

15

टोताव्वणो टोक्कणहत्था मयणग्गि जालाओ ॥ 4।4।4॥

ये ही दो प्रकार की गाथाएँ सम्पूर्ण 'रयणावली' के उदाहरण के पद्यों में व्यवहृत हुई हैं। जहाँ तक इसके छंदों में दोष का प्रश्न है, वे स्वाभाविक ही हैं। इसकी अनेकों गाथाओं में किसी न किसी पाद में एक मात्रा कम देखी गयी है। ऐसा विशेषतः द्वितीय और चतुर्थ पाद में हुआ है। परन्तु यह दोष लिपिकारों की असावधानी के कारण आया होगा। 'रयणावली' की इन आर्याओं का सकलन विविध हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर हुआ है। इन प्रतियों के लिपिकारों की अनज्ञता-वश ये भूलें रह गयी होंगी। साहित्यिक या छन्द शास्त्रीय दृष्टि से 'रयणावली' का संकलन भी नहीं हुआ था अतः यह प्रगाढ़ रह जाना स्वाभाविक है। जितने स्थलों पर ऐसे दोष आये हैं वहाँ एक मात्रा या फिर अनुस्वार मात्र बढ़ा देने से छन्दो दोष दूर भी हो जाता है। इस एक दोष के अतिरिक्त 'रयणावली' की गाथाएँ शास्त्रीय दृष्टि से अत्यन्त शुद्ध हैं। इनमें यति तथा मात्राओं का लघु-गुरु विधान भी नियम साध्य है। इस प्रकार छन्द की दृष्टि से भी यह ग्रन्थ उच्च कोटि की साहित्यिकता से युक्त है।

भाषा

'रयणावली' की भाषा निर्विवाद रूप से 'प्राकृत' है। इस ग्रन्थ की रचना भी हेमचन्द्र ने 'सिद्धहेमशब्दानुशासन' के पूरक ग्रन्थ के रूप में किया था। उदाहरण की गाथाओं की भाषा यदि देशी शब्दों को छोड़ दिया जाये तो, साहित्यिक प्राकृत है। साहित्यिक प्राकृत के सभी व्याकरणिक-विकार इन पद्यों की भाषा में निरूपित किये जा सकते हैं। प्राकृत के पद्यों में 'देश्य' शब्दों का प्रयोग, प्राकृतकाल में 'देश्य' शब्दों के प्रयोग-बाहुल्य की मान्यता को पुष्ट करता है। देश्य शब्दों के प्रयोग के ही कारण, इसकी भाषा अत्यन्त क्लिष्ट हो गयी है। इसके अनेकों पद्यों का साहित्यिक सौन्दर्य भी इसी क्लिष्टता के कारण मन्द पड़ गया है।

अलंकार

'रयणावली' के पद्यों की आलंकारिक योजना भी उच्चकोटि की है। लगभग सभी प्रसिद्ध अलंकारों उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, विरोधाभास, अर्थान्तरन्यास, अन्योक्ति आदि का प्रयोग इसके पद्यों में परलक्षित किया जा सकता है। इन

अलंकारों की आयोजना, यद्यपि मायाम नहीं है, फिर भी इनके सौन्दर्य में कोई कमी नहीं आने पायी है। उदाहरण की इन 'गाथाओं की रचना हेमचन्द्र ने केवल शब्दों को कण्ठस्थ करने के लिए किया था। परन्तु लोकजीवन में सम्बन्ध रखने के कारण देशीशब्दावली से युक्त कविता उच्चकोटि की साहित्यिकता अनायाम ही आ गयी है। अलंकारों की दृष्टि से 'रयणावली' के मयोंग और वियोंग वर्णों से सम्बन्धित पद्य विशिष्ट हैं, इनमें, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अर्थालंकारों का बहुत सुन्दर प्रयोग हुआ है। रूपक और उपमा अलंकारों का एक मिला-जुला प्रयोग द्रष्टव्य है—

कुन्तलठडुछण्णोण जणणयण उव्खाय व ।

मयणोण उरे रडअ तुह उच्च उवगोरडि०ग ॥ 1 68।86 ॥

'केशराशि तृणों को परिवारण (घोखा) है, नयन मनुष्यरूपी मृगों को बाधने के लिए जाल है। प्रारम्भ में ही कामदेव द्वारा रचित गीताङ्गि । तुम पके हुए गोधूम की (कृपि की) भाति हो ।'

कुमार पाल की प्रशस्ति से सम्बन्धित पद्यों में अतिशयोक्ति अलंकार का प्रयोग बहुतायत से हुआ है। नीति और उपदेश के पद्यों में अन्योक्ति, स्वभावोक्ति, अर्थान्तरयाम आदि अलंकारों का प्रयोग प्रायः हुआ है। प्रकृति चित्रण से सम्बन्धित एक सुन्दर पद्य में 'मानवीकरण' अलंकार का प्रयोग दर्शनीय है—

मणमणुवेण हरन्तो अणुदविफुल्लारविन्दमयरन्द ।

परिमलपाणग्वाणोव्व अणिल्लममीरणो खिवड् ॥ 1।16।19

'मन को बरबस हरण करता हुआ, प्रातः काल के प्रफुल्लित कमलों के मकरन्द-पान से नृप्त मा, प्रातः समीर (वीरे-वीरे) बह रहा है ।'

अर्थालंकारों में सबसे अधिक प्रयोग उपमा, रूपक और अतिशयोक्ति का हुआ है। अन्य अलंकारों में स्वभावोक्ति का प्रयोग भी अधिक मात्रा में है। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि अलङ्कार प्रयोग की दृष्टि में भी रयणावली एक उच्च कोटि की साहित्यिक कृति है। अलंकार इनके पद्यों में निबद्ध कोमल अनुभूतियों के सहज अनुचर हैं।

निष्कर्ष

ऊपर 'रयणावली' के उदाहरण की आर्याओं में निहित विषयवस्तु का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया गया। इसकी विषयवस्तु को देखते हुए यह विना किसी सन्देह के कहा जा सकता है कि 'रयणावली' प्राकृत काव्य परम्परा की एक श्रेष्ठ काव्य कृति है और हेमचन्द्र एक श्रेष्ठ कवि। जहाँ तक 'पिछेल' जैसे विद्वानों को

इसकी साहित्यिकता में सन्देह होने की बात है यह स्वाभाविक भी था । यह तो एक तथ्य है कि 'रयणावली' के पद्य कठिनता की दृष्टि से सम्पूर्ण प्राकृत साहित्य में बेजोड़ हैं । सभी पद्यों का ठीक अर्थ कर पाना उनमें निहित साहित्यिक सौन्दर्य को देख पाना कम से कम असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है । मेरे समक्ष स्वयं इस पक्ष को लेकर अनेकों कठिनायाँ रही हैं । पद्यों में देशी शब्दों का प्रयोग होने के कारण कही कही उनका आशय समझ पाने में कठिनाई अवश्य हुई है, परन्तु अधिकतर पद्यों में ऐसी कोई भी बात नहीं है । 'रयणावली' के साहित्यिक दृष्टि से उपेक्षित होने का एक कारण और भी रहा है यह एक भाषा शास्त्रीय कोशकृति है, पिछले महश विदेशी विद्वानों ने इसका अध्ययन भी इसी दृष्टि से किया था, इसके साहित्यिक मूल्यांकन का प्रयत्न कम ही हुआ है । प्रो० मुरलीधर वनर्जी ने इस ओर प्रयास अवश्य किया था पर वे सकेतमात्र ही कर सके थे, उनका अधिकतर प्रयास 'पिशेल' की असावधानियाँ ढूँढने की ओर ही रहा है । यहाँ प्रस्तुत किया गया अध्ययन इस दिशा में किया गया प्रथम प्रयास है । इस प्रयास में भी 'रयणावली' का समस्त काव्य सौन्दर्य सामने नहीं आ सका है क्योंकि यह किसी एक प्रबन्ध के छोटे से अध्याय में समाप्त होने वाला विषय भी नहीं है । गाहासत्तसई, वज्जालग तथा अन्य प्राकृत के लोकि-कता परक काव्यों की भाँति इसका भी स्वतंत्र अध्ययन अपने आप में एक महत्वपूर्ण कार्य होगा । निष्कर्ष रूप में इतना ही कहना पर्याप्त है कि 'रयणावली' अन्य सत्तसई परम्परा की कृतियों की भाँति ही विषयवस्तु की दृष्टि से एक महान कृति है । भाव, भाषा, छंद, अलंकार प्रयोग, अर्थगत प्रतीयमानता, प्रकृति चित्रण सभी दृष्टियों से यह एक श्रेष्ठ साहित्यिक कृति कही जा सकती है ।

'गाहासत्तसई' की भाँति 'रयणावली' भी कृषिजीवी भारतीय जीवन का चित्र अंकित करने वाली कृति है । इसमें तत्कालीन गुजरात के ग्रामीण जीवन की रीति नीति, आचार-व्यवहार आदि का स्पष्ट अंकन हुआ है । इसमें निहित कुलटाओ-वेश्या-ओ, हालिक-हालिक पत्नी, गोप-गोपी, गृहिणी-गृहपति और प्रेमी-प्रेमिका के बीच की ग्रामीण उक्तियाँ एवं उनकी मनोहारी लीलाएँ चित्ताकर्षक होने के साथ तत्कालीन भारतीय ग्रामों और उनके समाज की कसौटी भी हैं । इसके पद्यों में 'स्वभावोक्ति' की बहुलता है । इसी स्वभावोक्ति को शिष्ट समाज 'अश्लील उक्ति' के नाम से भी सम्बोधित करता है, पर इन अश्लील उक्तियों के अन्तराल से व्यक्ति का स्वच्छ, छल कपट रहित हृदय भाकता दिखायी देता है । इनमें निहित निम्नवर्गीय लोगों की भावनाएँ परिमार्जित न होकर अपने प्राकृत रूप में आयी हैं । इनके भीतर और बाहर दोनों में समानता है । कुल मिलाकर 'रयणावली' को भी 'गाहासत्तसई' की भाँति 'लोक साहित्य' के ग्रन्थों की तालिका में एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ के रूप में स्वी-

कार किया जाना चाहिए । विषयवस्तु को देखते हुए तो यह कोशग्रन्थ 'वज्जालग' से भी समानता रखता है । 'वज्जालग' की भांति इसमें भी विषयगत विविधता का दर्शन किया जा सकता है । यदि कुछ शब्दों में हेर फेर दिया जाये तो 'वज्जालग' की निम्न उक्ति देश्यबहुल 'रयणावली' के पद्यों पर घटित हो सकती है—

देसिय सद्दपलोदृ महुरक्खरद्धदसठिय ललिय ।

फुड वियडपायडत्थ पाइअकव्व अदेअव्वम् ॥

प्राकृत-काव्य की इस प्रशस्ति में यदि देश्य शब्दों की प्रचुरता का ममावेश कर दिया जाये तो निश्चित ही 'रयणावली' की गाथाएँ भी इसके अन्तर्गत आ जायेंगी ।

अस्तु ! संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि 'रयणावली' भाषाशास्त्र की ही दृष्टि से नहीं साहित्यिक दृष्टि से भी एक उच्चकोटि का कोश ग्रन्थ है ।



देशीनाममाला का सांस्कृतिक अध्ययन

आचार्य हेमचन्द्र की 'देशीनाममाला' केवल भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से ही महत्त्वपूर्ण नहीं है अपितु सांस्कृतिक एवं साहित्यिक दृष्टि से भी इसका बहुत बड़ा महत्त्व है। इसमें संकलित शब्द सम्पत्ति ने अपने अन्तराल में सदियों से चली आयी जन साधारण की संस्कृति को सजो रखा है। इन शब्दों का सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक तथा धार्मिक अनेकों दृष्टियों से बहुत बड़ा महत्त्व है। लौकिक जीवन में अनेकों ऐसे रीति-रिवाजों का प्रचलन आज भी है जो युग-युगों से परम्परा में प्रचलित चले आये हैं परन्तु उनका सन्दर्भ ढूँढना अत्यन्त दुरूह कार्य है। इस प्रकार के अनेकों असन्दर्भ रीति-रिवाजों और सामाजिक मान्यताओं का परिचय हमें इस शब्द कोश में संकलित शब्दों के माध्यम से प्राप्त होता है। 'देशी' शब्द बहुत प्राचीन काल से साधारण या अशिक्षित समाज की बोलचाल की भाषा के शब्द हैं। उस युग तथा तद्‌युगीन समाज की मान्यताओं का स्पष्ट चित्र इन शब्दों के माध्यम से खींचा जा सकता है। इन शब्दों के माध्यम से हमें अनेकों ऐसे सम्बन्धों और सामाजिक नियमों तथा धार्मिक अनुष्ठानों का पता चलता है जिनके बारे में सामान्यतया लोग आज भी अन्वकार में हैं।

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है 'देशीनाममाला' के सभी शब्द तथाकथित प्राथमिक प्राकृत के ही नहीं हैं।¹ इसके अनेकों शब्द साहित्यिक प्राकृतों की देन हैं। इन शब्दों का भी अपना विशिष्ट सांस्कृतिक महत्त्व है। ऐसे शब्द स्वयं हेमचन्द्र के समय की साधारण जनवर्ग की संस्कृति का सुष्ठु द्योतन करने में अत्यन्त समर्थ हैं। इन शब्दों के माध्यम से तत्कालीन गुजरात के सामाजिक चाल-चलन, पहनावे, कृषि

सामग्री शासन व्यवस्था आदि पर अच्छा प्रकाश पड़ता है । इस प्रकार 'देशीनाममाला' के 'तद्भव' और 'देशी' दोनों ही शब्द स्वयं में एक सांस्कृतिक स्वरूप छिपाये हुए हैं जिनका विवेचन अलग-अलग शीर्षकों के अन्तर्गत कर लेना समीचीन होगा ।

देशीनाममाला का सामाजिक वातावरण—

'देशीनाममाला' में ग्रामीण जीवन में सहायक अनेकों श्रमजीवियों का उल्लेख हुआ है । इनमें माली, दर्जी, धोवी, कहार, सोनार आदि अनेकों श्रमजीवियों के लिये शब्द मिलते हैं । माली के लिये दो शब्द आरम्भिक 1-71 तथा बड़बुली 7-42 आये हैं । इस कोश के शब्दों से पता चलता है कि गुजरात के ग्रामीण जीवन में पुष्पमालाओं से केश सज्जा आदि का बहुत बड़ा महत्त्व था । इन मालाओं का निर्माण करने वाला व्यक्ति अपने 'कर्म' के आधार पर 'माली' या 'मालाकार' कहलाता है ।

धोवी — धोवी या धोविन के लिए इस कोश में कई शब्द हैं— धोआ 5-32 धोवी । उप्फु किआ 1-114 धोविन तथा हिवका 8-66 और फुक्की 6-84 ।

नाई — चन्दिलो 3-2 । छुरभड्डी 3-31 । छुरहत्यो 3-31 । वारिओ 7-47 । सज्जिओ 8-47 । मज्जुओ 6-115 । रत्तीओ 7-2 । उच्छीउत्तो 7-47 ।

दर्जी — आसीवओ 1-69 । घरों में पानी भर कर देने वाले वर्ग के लोग 'कहार' कहलाते हैं । इसके लिए काहार 2-27 शब्द आया है । लोहे का काम करने वाली जाति के लिए फूअ 6-85 । स्वर्णकार के लिए भरओ 3-54 तथा केवल कगन बनाने वाली जाति के लिए वारणओ 7-54 शब्द आये हैं । इसी प्रकार अन्यान्यक पेशेवर जातियों से सम्बन्धित शब्द हैं— जैसे इत्र बेचने के लिये गधपिसाओ 2-87, बनिये के लिये इव्भो 1-79, दूध का व्यापार करने वाले ग्वाले के लिए काहिलो 2-28, कपड़ा बुनने वाले के लिये कोलिओ 2-65, कसाई के लिए खट्टिको 2-70, घर में काम करने वाली दासी के लिये खोट्टी 2-77 तथा तालफली 4-11, दास के लिये छोइओ 3-33, गुलाम दासी के लिये दुल्लसिआ 5-46, घर में पानी भरने वाली नौकरानी के लिये दोहणहारी 5-56 पुराने अस्त्र-शस्त्रों को माज कर साफ करने वाले को तोमरिओ 5-18, ईख की पेराई करने वाले मजदूर को तूओ 5-16, साधारण श्रमिक को पडिअ तओ 6-32, हल चलाने वाले को भाइल्लो 6-104, हाथी चालक पीलवान को मेठी 6-131, जुआघर चलाने वाले को पाउगिओ 6-42, पाउगो 6-31, डभिओ 4-8, पठन-पाठन का कार्य करने वाले व्यक्ति को पडिज्जुओ 6-31, विवाह इत्यादि की गणना करने वाले ज्योतिषी को मती 6-111, शरीर का व्यापार करने तथा गाने वाली स्त्री या वेश्या को वेल्लरी, गा-वजाकर पेट गालने वाली स्त्री को गत्ताडी 2-82, शिकार करके जीविका चलाने

वाले व्यक्ति को जोड़िओ 3-49, भोड़िओ 3-60, ताम्बूल पेटिका का वहन करने वाली दामी को डोगिली 4-12 आदि ।

इन पेशेवर जातियों के उल्लेख के अतिरिक्त कुछ निम्न वर्ग की जाति के लोगो का उल्लेख भी प्राप्त हो जाता है । सबसे निम्न वर्ग की जाति चाण्डाल की बतायी गयी है इसके लिए डु वो 4-11, शब्द आया है । इस जाति के लोग सम्भवत अपनी अस्पृश्यता का सकेत करने के लिए अपने हाथ में एक वाम की छड़ी लिये रहते थे । इस वास की छड़ी के लिए भज्जारी 3-54, खिखिरी 2-73 शब्द आये हैं । गदगो 2-48 तथा मोरत्तओ 6-140 से एक अत्यन्त निम्न कोटि की जाति का भी उल्लेख मिलता है ।

जातियों का निर्देश करने वाले इन शब्दों के अतिरिक्त कुछ ऐसे वर्ग के स्त्री पुरुषों का उल्लेख भी मिलता है जिन्हे समाज में हेय दृष्टि से देखा जाता रहा होगा । 'देशीनाममाला' में कुलटा स्त्रियों के लिये कई शब्द आये हैं जैसे केली 2-44, खडई 2-67, भडुली 3-61, भडली 3-54, पुण्णाली 6-53, भभी 6-99 आदि । दुश्चरित्रा स्त्रियों के लिए अज्जा 1-50, अडयणा तथा अडया 1-18, दुश्चरित्र पुरुषों के लिए अण्ड 1-18, उल्लेहडो 1-104, इत्यादि । इन शब्दों को देखकर ऐसा लगता है जैसे समाज अत्यन्त मर्यादावादी रहा हो । पुरुष वर्ग में ठग के लिए कालओ 2-28, चोर के लिए अदसणो 1-129, इक्को 1-80, उड्डहणो 1-101, कलमो 2-10, चोरो के समूह के लिए पडीरो 6-8, जेबकट या पाकिटमार के लिए चारणओ 3-9 आदि विशेष उल्लेखनीय हैं ।

सामान्य स्त्री वर्ग-गुण और अवस्था के आधार पर स्त्रियों से सम्बन्धित अनेको शब्दों का उल्लेख इस कोश में हुआ है जैसे-ओलइणी (1-160)-प्रिय स्त्री, कुट्ट-यरी कुमारी (2-35), गणणाइआ (2-87) - कुट्ट स्त्री या चण्डी, गहणी (2-84) हरण करके लायी गयी स्त्री गहिआ (2-85) इच्छित स्त्री, दुडुमिणी (5-45) सुन्दरी स्त्री दुम्मइणी (5-47) - कलह शीला स्त्री तथा अहिविण्णा (1-25) ऐसी स्त्री जिसके पति ने दूसरी पत्नी कर ली हो ।

इन शब्दों को देखकर जिम समाज का कल्पना चित्र मस्तिष्क में उठता है वह भारत जैसे ग्राम प्रधान देश के लिए दुर्लभ बात नहीं है । भारत के विभिन्न प्रान्तों में फैले हुए सुविस्तृत ग्रामीण अचलो की संस्कृति के बीच इन शब्दों की सार्थकता आज भी खोजी जा सकती है ।

सामाजिक एवं पारिवारिक सम्बन्ध—

सामाजिक एवं पारिवारिक सम्बन्धों को द्योतित करने वाले अनेको शब्द इस

कोश में डूँडे जा सकते हैं। माता-पिता, भाई-बहिन, पति पत्नी, पुत्र-पुत्री, प्रपौत्र, नव-वधू इत्यादि शब्द पारिवारिक धारणा को पुष्ट करने वाले हैं। इस कोश में माता के लिये अत्ता (1-51) अल्ला, अक्का (1-5) मादलिआ (6-131), पिता के लिए अप्प (1-6), बहिन के लिए अक्का, भाभी के लिए माउज्जा (6-103) तथा बहुणी (7-41) पत्नी के लिए बगिया (5-58) बणी (5-62), बार्मिक गृहणी के लिए भावइआ (6-104) पिता की बहिन अर्थात् बुआ के लिए पुप्फा (6-52), मा की बहिन या मौसी के लिए माअलिआ (6-131), ज्येष्ठ बहिन के पति (जीजा) के लिए भाओ (6-102), मामी के लिए फेलाया (6-85), मम्मी (6-112), मल्लाणी (6-112) तथा माम (6-112), साली के लिए मेहुणिआ (6-148)। देवर के लिए अण्णअ (1-55), एककघरिल (1-146), दुदमो (5-44)। देवरानी के लिए अण्णी (1-55)। नववधू के लिए अविअज्झा (1-77), कीला (2-33), कुकुला (2-33)। पौत्र के लिए खरहिअ (2-72)।

इन पारिवारिक सम्बन्धों को द्योतित करने वाले शब्दों के अतिरिक्त कुछ ऐसे भी शब्द आये हैं जिनसे पारिवारिक रीति-रिवाजों पर भी प्रकाश पड़ता है। बहुमासो 7-46 ऐसा ही शब्द है। इस शब्द का आशय उस कालावधि से है जिसमें विवाह के बाद वर और वधू को मिलकर कहीं एकान्त में रहने का अवसर दिया जाता है। अंग्रेजी के 'हूनमून' शब्द से इसकी तुलना की जा सकती है। यह कालावधि पूरी की पूरी, वर के द्वारा, वधू की इच्छा पर वितायी जाती थी। वर या दुल्हे के लिये इसमें वरडत्त, 7-44 शब्द मिलना है। विवाह के पहले कुमार युवक के लिए वठ (7-83) आया है। विवाह के समय वधू रूप में मजी हुई कन्या अइरजुवड (1-48) ओलअणी (1-160) कही जाती थी। श्वनुर के घर में अपने पिता के घर लौटकर गयी वधू पयुच्छुङ्गी (6-35) कही जाती थी। वधू को दोबारा पिता के घर से श्वनुर के घर ले जाने वाला व्यक्ति पाडिअज्झ (6-43) कहा जाता था। वधू की छोटी सास के लिए बहुव्वा (7-40) तथा ऋतुमती स्त्री के लिए परिहार-डत्तिआ (6-37) शब्द आया है। पूरे परिवार के लिए पहण (6-5) शब्द व्यवहृत है। एक जगह कुमारी कन्या से उत्पन्न होने वाले अवैध पुत्र को भी चर्चा है उसके लिए डदमहो¹ (1-81) शब्द आया है।

रहन-सहन रीति-रिवाज तथा वेप-भूषा व खानपान

रहन-सहन

'देशीनाममाला' के शब्द एक ऐसे समाज का चित्र प्रस्तुत करते हैं जो रहन-सहन में काफी ऊँचा और सम्पन्न मालूम पड़ता है। इसके शब्द एक ओर यदि

1. अवन्तिचन्द्रो ने इस शब्द का अर्थ 'कुमारी' किया है न कि कुमार (कुमारी से उत्पन्न पुत्र) हेमचन्द्र स्वयं ही वृत्ति (1-81) में इसका उल्लेख करते हैं।

विलासितापूर्ण रहन-सहन के स्तर को व्यक्त करते हैं तो दूसरी ओर भीषणियों के दुखी जीवन तथा निम्नवर्ग के अधःपतन युक्त रहन-सहन का भी चित्र उपस्थित करते हैं। सबसे पहले उच्च रहन-सहन से सम्बन्धित शब्दों का विवेचन उपयुक्त होगा।

उच्च रहन-सहन के लोगों के घरों को आसवण 1-66 कहा जाता था जो आराडी 1-75 चित्रों से सजे हुए होते थे। इन वासगृहों में शयन कक्ष अलग होते थे। इनके लिए आलयाण -1-66, आसगो 1-71, सोवण 8-58 शब्द आये हैं। इन वासगृहों में सुष्ठुप्रकाश व्यवस्था रहती थी, इस बात का सकेत आलीवरण 1-71-प्रकाशकारक (पदार्थ विशेष) से स्पष्ट है। इन विलास गृहों के सबसे ऊपरी भाग का कमरा चन्द्रशाला कहलाता था—इसके लिए जालघडिआ 3146 शब्द आया है। घरों में खिडकियाँ होने का सकेत चुप्पालग्र 3-17 से मिलता है, पारावारो 6-43 गवाक्ष के अर्थ में आया है। इन घरों के सामने विस्तृत द्वार होते थे इसका सकेत भित्त 6-110 और भित्तर 6-105-द्वार, शब्दों से मिलता है। इन घरों की सीमा में फूलों से युक्त छोटे-छोटे उद्यान भी होते थे। इसका सकेत मयड (6-115) तथा वयड 7-35- (वगीचा) से मिल जाता है। इन वासगृहों में रहने वाले लोग विलासितापूर्ण जीवन बिताते थे। इस बात की पुष्टि विलास सामग्रियों के लिए आये हुए शब्दों से हो जाती है। इन विलास सामग्रियों का उल्लेख इन शब्दों में देखा जा सकता है—

आमलय-67- सज्जागृह, जच्चदण 3-52- अग्ररु (एक सुगन्धिद्रव्य-विशेष) मलाकु कुम 6-132- प्रधान कुकुम, लावज 7-21 उशीर या खस, बहू 7-31- एक सुगन्धित द्रव्य, गुप्पत 2-102- विस्तर या पलग, विवभण 7-69- ताकिया, थुड्डीहीर 5129- चामर, डोगी 4-13- शरीर को सुगन्धित करने वाला एक द्रव्य, फसल 6-87- शरीर में लेप करने का सुगन्धित चूर्ण, आदि। इन सभी विलासिता की वस्तुओं के अतिरिक्त इस वर्ग के लोगों में मद्यपान का भी बहुत अधिक प्रचलन रहा होगा क्योंकि मद्य और उससे सम्बन्धित पात्रों तथा व्यापारियों का उल्लेख इस कोश के अनेकों शब्दों में हुआ है। भिन्न-भिन्न प्रकार के वस्त्रों और आभूषणों के लिए आये हुए शब्द भी नागरिकों की विलासिता और उनकी समृद्धि का द्योतन करते हैं। इनका उल्लेख आगे एक अलग शीर्षक के अन्तर्गत किया जायेगा।

इन सुसज्जित और विलासितापूर्ण आवासों से अलग साधारण जन-वर्ग के रहन-सहन को सूचित करने वाले शब्द भी आये हैं। साधारण रूप से बने हुए घर के लिए घघ 2-105 तथा कुटी के लिए इरिआ 1-80 व चिरिया 3-11 खुल्ल 2-74 शब्द आये हैं। एक जगह तम्बू के लिए उल्लोचो 1-98 शब्द भी आया है।

घर की देहरी के लिए उम्मरो 1-95, छन के लिए डगल 4-8, भोपडियो मे लगने वाले पर्दे को टट्टुआ - टटिया या पर्दा कहा गया है। आगन के लिए चउक्क 3-2 आया है। ये सभी शब्द साधारण लोगो के जीवन क्रम को व्यक्त करने वाले हैं।

वेपभूषा और आभूषण

‘देशीनाममाला’ के शब्द समाज मे प्रचलित विभिन्न प्रकार के वस्त्राभूषणो भी उल्लेख करते हैं। इन उल्लेखो को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि तत्कालीन नागरिक जीवन अत्यन्त सम्पन्न और विलसितापूर्ण था। नागरिक जीवन के अतिरिक्त ग्रामीण जीवन भी इस क्षेत्र मे बहुत आगे बढ़ा चढ़ा था। उदाहरण के लिए केश रचना को लीजिए। इसके लिए इस कोश मे कई शब्द प्रयुक्त हुए हैं। इन शब्दो को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि उस समय केश विन्यास के कई तरीके प्रचलित थे। सामान्य केश रचना के लिए वव्वरी (6-90), रूखे केशवध के लिए फुटा (6-84), केशो का जूड़ा बाधने के लिए ओअग्गिअ (1-172), सीमात पर सुन्दर ढग से सजाये गये केश को कुभी (2-34), रूखे को साधारण ढग से लपेटने के अर्थ मे ढुमतओ (5-47), सिर पर रगीन कपडा लपेटने के अर्थ मे अणराहो (1-24), एव किसी लसदार पदार्थ को लगाकर सिर के अवगुठन के अर्थ मे रगीरगी (5-31) शब्द आया है। एँठ कर बाधे गये वालो के जूड़े के लिए मउडी (6-117), स्वाभाविक रीति से खुले वालो के लिए लम्वा (7-26), वालो को लपेटकर बाधे गये कलात्मक जूड़े के लिए आमेल (1-62), ओडल (1-150) छोटे घु घराले वालो के लिए भटी (3-53) आदि शब्द आये हैं। इन शब्दो को देखकर उस युग मे प्रचलित रहन-महन का स्वयं ही आभास हो जाता है। केश-रचना मे फूल की मालाओ का भी महत्वपूर्ण स्थान था। कई शब्द इस आशय को प्रकट करते हैं। सिर मे बाधी जाने वाली माला के लिए इस कोश मे आये हुए शब्द इस प्रकार हैं - चुचुअ, चुभल (3-16), रसरोट्ट (4-1), मआई (6-115), वसी (7-30), वुप्फ (6-74) आदि। इन शब्दो को देखते हुए ऐसा लगता है जैसे समाज रहन-सहन की दृष्टि से अत्यन्त उच्च स्तरीय रहा हो। आज भी मद्रास मे केशो मे पुष्पमालाए बाधना साधारण रिवाज है। उत्तर भारत मे भी इसके उदाहरण दुर्लभ नहीं हैं।¹

वस्त्र-वस्त्रो मे मोटे और पतले दोनो ही प्रकार के वस्त्रो का उल्लेख हुआ है। साधारण रहन-सहन के लोग मोटे वस्त्र तथा उच्च रहन-सहन के लोग पतले और

1 ‘बजुराहो आर्ट’-उमिला अग्रवाल, इस पुस्तक मे दिये गये चित्रो मे केश-विन्यास के उपयुक्त रूपो को खोजा जा सकता है।

सुन्दर वस्त्र धारण करते रहे होंगे । मोटे कपडे के लिए करयरी (2-16) पतले और सुन्दर कपडो के लिए कासिअ और किण्ह (2-59) शब्द आये हैं । मिल्क के वस्त्र के लिए किमिहरवसण (2-33) प्रयुक्त हुआ है । कई जगह लाख इत्यादि पदार्थों से रगे गये वस्त्रों का भी उल्लेख हुआ है । किमिराय (2-32) — लाख से रगा हुआ वस्त्र, घट्टो (2-11) — लान कुमुम्भीवस्त्र, पोमर (6-63) — कुसु भी रग का वस्त्र । इसके अतिरिक्त कई प्रकार के वस्त्रों का उल्लेख मिलता है जिनके बारे में स्पष्ट कह पाना बहुत ही कठिन कार्य है ऐसे शब्दों में औहसिअ (1-173), असगय (1-34) टिडिल्लिअ (4-10), शिअसण तथा शिअ घण (4-39), दुल्ल (5-41), माहारयण (6-132), साहुली (8-52), होरण (8-72) आदि । ये सभी वस्त्रों के प्रकार के रूप में उल्लिखित हैं । इनका स्पष्ट विवेचन ग्रन्थ में कहीं भी उपलब्ध नहीं है । एक स्थान पर एक शब्द के द्वारा वस्त्रादि को सुगन्धित बनाने वाली किसी मशीन का उल्लेख हुआ है । उसके लिए सीहलय (8-34) शब्द प्रयुक्त हुआ है । इस तरह की वस्तुएं बहुत प्रगतिशील और समृद्ध समाज का चित्र उपस्थित करती हैं । इन विलासिता के द्योतक शब्दों के अतिरिक्त कुछ शब्द ऐसे भी हैं जिनसे तत्कालीन निम्नस्तरीय रहन सहन के लोगो का परिचय मिलता है । इस कोश में अत्यन्त गरीब जनता द्वारा पहने जाने वाले फटे चीथड़े व चिन्दियो लगे वस्त्र का भी उल्लेख है । इसके लिए “डड (4-7) — सुई से सिया गया चीथड़ा तथा रिंडी (7-5) — चीथड़ा वस्त्र दो शब्द आये हैं ।”

इन विशिष्ट और सामान्य वस्त्र सम्बन्धी उल्लेखों के अतिरिक्त स्त्रियों द्वारा धारण किये जाने वाली विविध वेप-भूषणों का उल्लेख भी मिलता है । पहनावे के वस्त्रों से सम्बन्धित उल्लेखों को देखते हुए ऐसा लगता है जैसे स्त्रियां प्रायः साड़ी पहना करती थीं । साड़ी की गाठ जिसे “नीवी” कहा जाता है, से सम्बन्धित कई शब्द इस कोश ग्रन्थ में सकलित हैं जैसे — उच्चोलो 1-131, ओवड्डी 1-51, जणहली 3-40, कुऊल 2-38, वजर — 7 41 ये सभी शब्द स्त्रियों द्वारा पहने जाने वाले अघोवस्त्र की गाठ के वाचक हैं । इससे यह संकेत मिलता है कि स्त्रियां प्रायः साड़ी जैसा वस्त्र ही पहनती थीं । साड़ी के नीचे “पेटीकोट” कहे जाने वाले वस्त्र का पहिनना आजकल सामान्य है । इसके भी कई वाचक शब्द इस कोश में सकलित हैं । अन्तर केवल इतना है कि शब्दों के माध्यम से जिस पेटीकोट का आशय निकलता है वह आकार में छोटा लगता है और लगभग घुटने तक रहता रहा होगा । पेटीकोट से सम्बन्धित ये शब्द हैं— अरवअच्छ 1-12, चिफुल्लणी 3-13, जहणसव 3-45, कूवल 2 43, दुण्णिअत्थ 5-43 आदि ।

इन अघोवस्त्रों के विवरण को देखकर ऐसा लगता है जैसे स्त्रियां बिना सिले

हुए वस्त्रों को ही साटियों के नीचे पहनती रही होगी । आज भी गांवों की स्त्रियों के पहनावे में इन अधोवस्त्रों का प्रयोग देखा जा सकता है । वहां-म्रिया प्रायः मोटे कपड़े पहनती हैं । जब कभी उन्हें पतले या भीने वस्त्र पहनने पड़ते हैं वे आज भी नीचे पदों के लिए बिना सिले हुए वस्त्रों का प्रयोग "पेटीकोट" के स्थान पर करती हैं । यह पहले ही बताया जा चुका है कि देशीनाममाला के शब्दों का वातावरण प्रायः ग्रामीण है । ऐसी स्थिति में वहां उल्लिखित पहनावे का आज भी ग्रामीण वातावरण में प्रचलित होना आश्चर्यजनक नहीं है ।

आज भी ग्रामीण म्रिया माढी आदि अधोवस्त्रों को कमर में ठिकाए रखने या खोसने लिए तांगे की करवनी (मेखला) धारण करती है । इस कोश में कई शब्द इस करवनी के वाचक हैं जैसे — अंतरिज्ज 1-35, दागे 5-38, सपा 8-2 इत्यादि । माढी और पेटीकोट के अतिरिक्त म्रिया घाघरा और दुपट्टा भी धारण करती थी । इसका संकेत कोश में संकलित इन दोनों के वाचक शब्दों से मिलता है । घाघरे के लिए घाघर 2-107 शब्द प्रयुक्त हुआ है । उत्तरीय या दुपट्टा के लिए अहोरण 1-257 शब्द प्रयुक्त हुआ है । उत्तरीय या दुपट्टे के लिए उटतण 1-1037 ओड्डण¹ 1-1557 आदि शब्दों का भी व्यवहार हुआ है । स्त्रियों में पर्दा की भी प्रथा थी यह "धृषट" के अर्थ में आये हुए कण्णोड्ढिआ 2-20 शब्द में स्पष्ट है । इनके अतिरिक्त स्त्रियों द्वारा धारण किये जाने वाले वस्त्रों में कठकुची 2-18 एक ऐसा वस्त्र था जिसे गले में लपेट कर गांठें दे दी जाती थी । यह शब्द उम वस्त्र की गांठ के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है । यह वस्त्र सम्भवतः पुरुष भी धारण करते रहे होंगे, परन्तु इसका स्पष्ट संकेत ग्रन्थ में कहीं भी नहीं मिलता है । रमाल के अर्थ में दत्यरो 5-34 शब्द देखकर ऐसा प्रतीत होता है जैसे रूमाल का प्रयोग स्त्री और पुरुष समान रूप में करते रहे हों । आज भी माधारण लोग इसे "दस्ती" के रूप में जानते हैं परन्तु यह नाम तो स्पष्ट ही फारसी से लिया गया है ।

जहां तक पुरुषों के पहनने के वस्त्रों का सम्बन्ध है कोई विशेष उल्लेखनीय शब्द नहीं आये हैं । पुरुष दाढ़ी मूछ, सफाचट रखते तथा मस्तक पर तिलक लगाते थे । इस बात का संकेत शब्दों के माध्यम में मिल जाता है । अवग्रन्थि 1-40 दाढ़ी मूछ से सफाचट चेहरा, खड्ड 2-77 तथा मासुरी 7-130 इस बात का संकेत देने वाले शब्द हैं । दाढ़ी मूछ तथा लम्बे-लम्बे बालों के रखने का संकेत भी प्रयुक्त शब्दों के माध्यम से मिल जाता है । मस्तक पर लगायी जाने वाले तिलक के वाचक

1. अवधी तथा हिन्दी की लगभग सभी प्रसिद्ध बोलियों में यह शब्द आज भी 'बोढ़नी' के रूप में विद्यमान है ।

कई शब्द हैं जैसे टिपक, टिप्पी 4-30, दनकय - 4-14 इत्यादि । इन सभी शब्दों के अतिरिक्त व्यक्ति विशेष या उमर की जाति के परिचय के लिए कुछ विशिष्ट वेष प्रचलित थे । जिसे देखने ही उस व्यक्ति की जाति में परिचय मिल जाता था । पुनिन्द नाम की निम्नतम कही जाने वाली जाति से सम्बन्धित व्यक्ति अपने सिर पर लाले पत्तों का डोना पहिन कर चलता था । इस पत्ते के बने दोनो के लिए कई शब्द प्रयुक्त हुए हैं - पत्ती, पत्तपनाउम्रा तथा पत्तपिनालम 6-2 आदि ।

आभूषण.—इस कोश में प्रयुक्त आभूषणवाची शब्दों को देखते हुए जिस समाज का चित्र बनना है वह अत्यन्त पनी और उच्च रहन सहन वाला रहा होगा । कोश में आये हुए आभूषण वाची शब्द शरीर के अंगों के आकार पर उस प्रकार विवेचित मिले जा सकते हैं ।

सिर के आभूषण—चक्रक - 3-20, चालवामो 3-8 ये शब्द सिर पर धारण किये जाने वाले आभूषणों के अर्थ में आये हैं । मस्तक पर धारण किये जाने वाले आभूषणों के लिए भीमन्तय 8-35 शब्द आया है । इसका आशय मस्तक पर धारण की जाने वाली बेंदी में है । यह मोने और चाटी दोनों ही की बनती रही होगी । ग्राज भी यह उन्ही दो धातुओं की बनती है । गेडाती - 4-43 शब्द भी सिर पर धारण किये जाने वाले आभूषण के ही अर्थ में प्रयुक्त हुआ है परन्तु कोश में प्राप्त विवरण के आधार पर इनके स्वरूप और किस धातु में बनता है इस बात का निर्देश प्राप्त नहीं होना । चानवानो 7-59 भी इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है ।

कानों का आभूषण —

कानों में पहने जाने वाले विविध आभूषणों से सम्बन्धित कई शब्द इस कोश में प्राप्त होते हैं जैसे उमाली 1-90 इस कर्णभूषण की तुलना आधुनिक हिन्दी की गामीरा बोलियों में कान के आभूषण के अर्थ में प्रचलित वाली शब्द से की जा सकती है । दोनों में मिलने वाला ध्वन्यात्मक साम्य भी इस बात का द्योतन करता है । उमट्टी 1-90 शब्द भी इसी अर्थ में आया है । इन दोनों शब्दों का संस्कृत पर्यायवाची शब्द अवतस है । कण्णवाल, कण्णाडन्वण और कण्णआस 2-23 शब्द कान में धारण किये जाने वाले कुण्डल के अर्थ में आये हैं । उदाहरण के रूप में दी गयी कारिका से स्पष्ट है कि इन्हें प्रायः पुष्पवर्ग धारण किया करता था । इसी प्रकार और भी कई शब्द कान के आभूषण के अर्थ में आये हैं— जैसे तलवत्तो 5-21, वद्धओ 6-89 त्रपुट्ट नामक कर्णभरण विशेष, वीलओ 6-93 — ताटङ्क नामक कान का आभूषण, वक्कडवध 7-51 । इन शब्दों के अतिरिक्त शब्द के बने हुए एक कान के आभूषण का उल्लेख है । इसके लिए सखली 8-7 शब्द प्रयुक्त हुआ है ।

गले और वक्षस्थल पर धारण किये जाने वाले आभूषण—

“दशोनाममाला” में सकलित आभूषणवाची शब्दों में इस कोटि के आभूषणों का उल्लेख अत्यन्त स्पष्ट रूप में हुआ है। गले में इस कोटि के आभूषण पहने जाने के निर्माण में प्रयुक्त होने वाली धातुओं का सकेत भी लगभग मिल जाता है। इस कोटि के शब्द इस प्रकार हैं—

अञ्जोलिम्बा 1-33— यह मोती का बना हुआ एक प्रकार का हार होता था जो गले से पहिना जाकर वक्षस्थल तक भूलता रहता था। इसे आजकल बनने वाले मुक्ताहारों के समान ही समझा जाना चाहिए। इसी प्रकार के मोती के हार के लिए एक दूसरा शब्द गेण्डिय 2-94 भी आया है। मोने की जजीर में बीव कर व गले में धारण किये जाने वाले एक आभूषण विशेष का उल्लेख चट्टुलातिलय 3-8 शब्द में हुआ है। पिशेल के अनुसार यह एक रत्न होता था जिसे सोने की जजीर में बीधकर गले में धारण किया जाता रहा होगा। दण्डी 5-33 में एक ऐसे आभूषण का सकेत मिलता है जो सोने के तारों या तारों से बनता रहा होगा परन्तु इस अर्थ से अलग इसे दण्डाकार — दो वस्त्रों को जोड़कर सिये गये वस्त्र का वाचक भी माना गया है अतः इसे आभूषण की कोटि में रखते हुए भी हेमचन्द्र सदेह प्रकट कर देते हैं। एक जगह हिंडोल 8-76 शब्द में कोशकार विविध रत्नों से युक्त माला का उल्लेख करता है जो सम्भवतः धनी वर्ग के लोग धारण करते रहे होंगे। एक अन्य शब्द नेज्जल 2-94 भी गले में धारण किये जाने वाले आभूषण के अर्थ में आया है।

इन आभूषणों के अतिरिक्त सामान्य वर्ग के लोग कोडियो तथा साधारण पुष्पो से बनी हुई मालाएँ भी गले में पहिनते थे। कोडी से बने आभूषण के लिए इस कोश में उल्लरय 1-110 शब्द आया है। सीमान्त-प्रदेश के वासियों तथा आदि-वासियों में इस तरह के आभूषणों का आज भी प्रचलन देखा सकता है। पुष्प मालाओं के लिए छेली 3-31, परिहृच्छी 6-42 दो शब्द प्रयुक्त हुए हैं।

इन शब्दों के अतिरिक्त कुछ ऐसे शब्द भी सकलित हैं जो पुष्पो द्वारा धारण किये जाने वाले विशिष्ट आभूषणों का उल्लेख करते हैं। ऐसा ही एक अद्भुत आभूषण मक्कडवध 6-127 है। यह एक प्रकार का मोने का बना हुआ जनेऊ¹ होता था जिसे पुष्प वर्ग के लोग (विशेषतया ब्राह्मण) बाये कंधे के ऊपर

1. आज भी ग्रामीण जीवन में विवाह के अवसर धनीवर्ग के लोग बर को सोने का जनेऊ उपहार में देते हैं। यह उपहार या तो ‘वरिच्छा’ के अवसर पर दिया जाता है या बर को कन्या के पिता के घर, प्रथम आगमन पर गणेश पूजा (द्वारपूजा) के समय कन्या के भाई और पिता द्वारा बर को धारण कराया जाता है। परन्तु यह प्रथा प्रायः मिटती जा रही है।

और दाहिने काने के नीचे धारण करते थे । यह आभूषण सभवतः अवसर विशेष पर ही धारण किया जाना रहा होगा । सामान्य दिनों में ब्राह्मण पुरुष वर्ग कच्चे गून का बना हुआ जनेऊ धारण कर रहा होगा । इस तथ्य का समर्थन तर्ग 5-1 शब्द में होता है । ऋटि पर धारण किये जाने वाले आभूषणों में मणिगद्ग्रा 6-126, नपा 8-2, दो शब्द उल्लेखनीय हैं । इनमें प्रथम विविध मणि मारिक्यो से सज्जित भेगना होती होगी जिसे उच्च वर्ग की स्त्रिया या वेश्याएँ तथा राज-नर्तकिया धारण करती रही होगी । सपा साधारण चादी या अन्य धातुओं की बनी भेगना कही जा सकती है । सम्भवतः इसका प्रयोग साधारण रहन-सहन के लोग करते रहे होंगे । हेमचन्द्र द्वारा दिये गये उदाहरण से इसी प्रकार का आशय ध्वनित होता है ।

हाथों की अँगुलियों में धारण किये जाने वाले आभूषणों में अंगूठी के लिए कई शब्द आये हैं जैसे अंगुत्यल 1-31, तणय मुद्धिग्रा 4-9 आदि । स्त्रिया कलाइयों में चूड़िया धारण करती थी । इसका संकेत चूड़ो 3-18 में मिल जाता है । पावों में पहने जाने वाले घुघुह्रों के लिए सहल 8-10 तथा सिखल 8-10 दो शब्द प्रयुक्त हुए हैं ।

आभूषणों से सम्बन्धित “देशीनाममाला” की उपर्युक्त विस्तृत शब्दावली किसी युग और वर्ग विशेष की संस्कृति की ओर संकेत नहीं करती । इन शब्दों की स्थिति को देखते हुए इन्हें किसी युग या वर्ग विशेष की संस्कृति का परिचायक मानना ठीक नहीं । इनका अवश्य है कि इन्हीं शब्दों को आधार बनाकर यदि तुलनात्मक विवेचन के आधार पर अन्य सांस्कृतिक शब्दों के साथ मिलाकर देखा जाये तो एक अत्यन्त सूक्ष्म परिणाम समझ आ सकता है । परन्तु प्रमाण के अभाव में इस क्षेत्र में कुछ कहना कम से कम इन पक्षों के लेखक के लिए तो एक असंभव कार्य है । यही कारण है कि इन शब्दों का वर्णनात्मक विवेचन मात्र प्रस्तुत करके सतोष कर लिया गया है ।

खान-पान तथा घरेलू वस्तुएं —

किसी भी समाज के रहन-सहन का स्तर एवं उसकी सांस्कृतिक ऊँचाई बहुत कुछ उस समाज में रहने वाले व्यक्तियों के खान पान और घरेलू जीवन में दैनिक प्रयोग की वस्तुओं से ज्ञात हो जाती है । यह पहले ही कहा जा चुका है कि “देशीनाममाला” में निहित तद्भव तथा देशज शब्दों का वातावरण ग्रामीण है । यहाँ दैनिक जीवन के प्रयोग योग्य वस्तुओं की दी गयी सूची में से कितने ऐसे शब्द हैं जो आज भी स्वल्प ध्वनि परिवर्तन के साथ ग्रामीण जीवन में जैसे के तैसे

प्रचलित देखे जा सकते हैं। इस कोश में निहित इस वर्ग के शब्द हमारे समक्ष जो मास्कृतिक चित्र उपस्थित करने हैं वह आधुनिक समाज के निम्नवर्ग या निम्न मध्यम वर्ग का सांस्कृतिक चित्र है। एक बात का निवेदन यहां फिर कर देना उचित समझता हूँ कि इन शब्दों के आवार पर निर्धारित की गयी संस्कृति को किसी युग विशेष से जोड़ने का प्रयास सर्वथा असंभव कार्य है। अब इनका अलग-अलग विवेचन देना उपयुक्त होगा।

खानपान—कोश में नकलित खाने की वस्तुओं के वाचक शब्द इस प्रकार हैं—उण्ह्या 1-88—खीर, यह चावल और दूध के मिश्रण से पका हुआ मोठा भोज्य पदार्थ होता था। आज भी गांवों तथा शहरों में इसका प्रचलन जैसा का तैमा है। उह-पुल्लो 1-13 यह एक प्रकार की मोठी रोटी होती है जिसे गेहूँ के आटे में गुड़ मिलाकर या महुए का रस मिलाकर तैयार किया जाता है। हिन्दी की बोलियों में इसके लिए “पुआ” शब्द प्रचलित है।

ओल्लणी—1-54—चीनी और मसाले में युक्त दही। यह एक प्रिय खाद्य पदार्थ था। कक्वसारो तथा कक्वसो 1-14 — पके हुए चावल में दही और तरह-तरह के मसाले मिलाकर तैयार किया गया खाद्य पदार्थ इन दोनों नामों से पुकारा जाता था।

कग्घायलो तथा करघायलो —2-22 — फटा हुआ दूध या छाछ—आजकल जिसे “छिना” भी कहते हैं। इसे सामान्य वर्ग के लोग मीठे के साथ खाया करते हैं। इससे विभिन्न विविध मिष्ठान्न आज भी प्रचलित हैं।

तोतडी या तंतडी—5-4—कड़ी-यह दही और आटा दोनों को मिलाकर बनाया जाता है। नमकीन खाद्य पदार्थ है। इसका प्रयोग आज भी ग्रामीण जीवन में विवाह आदि शुभ माने जाने वाले अवसरों पर होता है।

पेंडलो 6-58—यह एक प्रकार का पेय रस होता था। हेमचन्द्र द्वारा दिये गये उदाहरण में इसका प्रयोग दुग्ध के साथ हुआ है अतः यह पेय मोठा होता रहा होगा।

मंडिल्ली 6।117—आटे की बनी ई छोटी और गोल रोटी। इस शब्द का प्रयोग सम्भवतः “भौरी” (अवधी) कही जाने वाली तथा कण्डे की आग पर पकायी जाने वाली मोटी गोल तथा छोटी रोटी से होगा। कण्डे की आग का उल्लेख भी एक शब्द कोऊआ 2-48 में हुआ है।

मल्लयं 6-145 — एक प्रकार की गोल रोटी जो सम्भवतः बड़ी और मोटी होती रही होगी। ग्रामीण जीवन में आज भी ऐसी रोटी के लिए “मलीदा” शब्द प्रचलित है।

मेअज्ज— 6-138 — यह शब्द सामान्य रूप से खाद्यान्नों का वाचक है ।

रोट्ट — 7-11 — यह शब्द चावल के आटे के अर्थ में प्रयुक्त है । “रोटी” शब्द इसी से विकसित हुआ प्रतीत होता है ।

लाहण 7-21 — एक भोज्य पदार्थ - यह कोई मृदु भोज्य पदार्थ होता रहा होगा ।

वायणं 7-51 — उपहार में दिया गया भोज्य पदार्थ । ग्रामीण जीवन में आज भी किसी शुभ अवसर के बाद “वायना” बाटा जाता है । इस शब्द का विकास उपर्युक्त शब्द में देखा जा सकता है ।

विंलजरा — 7-69 — पक्वान्न विशेष ।

अवदकरस — 1-46 — सिरका — यह ईस या जामुन अथवा गुड के रस को मडा कर बनाया हुआ रस होता है जिसमें, तैयार हो जाने पर आम-कटहल तथा अन्य कच्चे फलों को उलकर भोजन की सहायक सामग्री (तरकारी या चटनी) की तरह प्रयोग किया जाता है ।

मायाओ में चावल के लिए चाउना 3-8, तलफलो 5-7, अणू 1-5, “चने” के लिए अणुओ 1-21, ज्वार के लिए जोवारी 3-50, उडद के लिए उडिद 1-98, गेहूँ के लिए उवी 1-96, हरे “शाक” के लिए माहुर 6-130, “ककडीखीरा” के लिए सीलुट्टय — 8-35 शब्द प्रयुक्त हुए हैं । जंगलों से प्राप्त होने वाले कदमूल के लिए भी कदी 2-1 तथा ईस के खाने योग्य या चूसने योग्य छोटे-छोटे टुकड़ों के लिए इगाली 1-79 तथा गडीरी 2-82 शब्द आये हैं । गडीरी तो थोड़े स्वर परिवर्तन के साथ “गडेरी” के रूप में आज भी हिन्दी की बोलियों में प्रचलित है । व्रजभाषा में तो यह शब्द लगभग अपने प्राचीन रूप में ही व्यवहृत होता है ।

भोज पदार्थों से सम्बन्धित उपर्युक्त शब्दावली समाज के जिस स्तर का द्योतन करती है वह निम्नवर्ग से ही अधिकांशतः सम्बन्धित है । इस तथ्य की पुष्टि “देशीनाममाला” में आये हुए “मदिरा” जैसे मादक पेय से सम्बन्धित शब्द भी कर देते हैं । मदिरा और उससे सम्बन्धित विविध पात्रों का प्राप्त विवेचन, यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि इन शब्दों से सम्बन्धित समाज के लोग अशिक्षित तथा सभ्यता से कोसी दूर रहे होंगे । “मदिरापान” और “छूतक्रीडा” दो कार्य ऐसे हैं जिन्हें समाज में बड़ी हेय दृष्टि से देखा जाता है । इन्हीं दो निम्न स्तरीय, यदि कहा जाये तो गर्हणीय, कार्यों से सम्बन्धित अनेकों शब्द इस कोश में यत्र-तत्र-सर्वत्र बिखरे हुए देखे जा सकते हैं । अब इनका क्रमिक विवेचन कर देना उपयुक्त होगा ।

मदिरा—इस कोश में मदिरा के कई प्रकारों का उल्लेख हुआ है। उनका विवरण इस प्रकार है।

जगल—3-41 गन्दी शराब, कल्ला¹ तथा कविस 2-2—सम्भवतः महुए की शराब। तहरी² 5-2 शब्द भी गन्दी शराब के लिए व्यवहृत हुआ है। दगरी 5-34 तेज शराब। पच्चुच्छुहरी — 6-35 — नयी शराब। पिठठखउरा 6-50 — रद्दी और सड़ी शराब। मडमोहिणी (मति मोहिनी) तथा मई 6-113 — अच्छी और तेज नशा करने वाली मादक सुरा। सविस 8-4 — सुरा।

मदिरा-पात्र—मदिरा वाटने वाले अनेकों पात्रों से सम्बन्धित शब्दों का सकलन इस ओर संकेत करता है कि इन शब्दों से समाज में, 'सुरापान' का विशेष प्रचलन था। इस कोश में उल्लिखित मदिरापात्र इस प्रकार हैं—

आवरेडआ 1-71, उवएडआ 1-118, पण्णआ 6-3 ये तीन शब्द सुरा वाटने के वर्तन के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। टोक्कण 4-4, पारक 6-41 तथा पारय 6-38 सुरा नापने के वर्तन बताये गये हैं। खड 2-78 तथा वारो 7-54 सुरापान करने के पात्र के रूप में उल्लिखित हैं।

सुरापान से सम्बन्धित इन शब्दों के आधार पर एक ऐसे समाज का चित्र उपस्थित होता है, जहाँ के लोग सामाजिक सम्यता से कोसों दूर रहकर आदिमवासियों का सा असम्यतापूर्ण जीवन बिताते रहे होंगे। 'देशीनाममाला' का शाब्दिक वातावरण सम्पूर्ण रूप से ऐसे ही समाज का चित्र भी उपस्थित करता है, जिसका निवामी अत्यन्त कामुक, लम्पट, जुआरी तथा आचरण अष्ट रहा होगा। जब तक इन शब्दों की ऐतिहासिकता का पता नहीं चलता कुछ भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। परिणाम के रूप में इतनी ही सम्भावना की जा सकती है कि आज की ही भाँति प्रत्येक युग में एक ऐसा वर्ग रहा है जो सामाजिक सम्यता से कोसों दूर रहकर गन्दा जीवन बिताने में ही आनन्द प्राप्त कर रहा है। ये शब्द किसी सम्पूर्ण समाज का न सही उसके एक अश निम्नवर्गीय समाज का चित्र उपस्थित करने में तो समर्थ हैं ही।

1. महुए की शराब का व्यापार करने वाले आज भी 'कलार' या 'कलवार' कहे जाते हैं। इस नवीन जातीय नाम का विकास सम्भवतः 'कल्ला' महुए की शराब का व्यापार करने के कारण ही हुआ होगा। यह जाति आजकल भी कहीं कहीं अनेक व्यापार को प्रारम्भ किये हुए हैं। हिन्दू जाति व्यवस्था के अन्तर्गत इसे अस्पृश्य जाति माना गया है।
2. 'तहरी' शब्द अवधि में देर तक आग पर चढ़ाये रहने वाले वर्तन के लिए आता है। इसका प्रयोग व्यंजना से देर तक पकने वाले और गन्धे भोजन के अर्थ में होता है। शराब बनाने की प्रक्रिया भी काफी लम्बी होती है। इनके वर्तनों को दो दो तीन-तीन दिन तक आग पर चढ़ाये रखा जाता है।

छूत क्रीडा

मुरा से सम्बन्धित शब्दों की भाँति इस प्राकृत कोश में छूत-क्रीडा से सम्बन्धित शब्दों की भी कमी नहीं है। इन शब्दों का क्रमिक उल्लेख समीचीन होगा। अ वेद्वी 1-7, आऊडिघ्र 1-68, आफरो 1-63, ऊआ 1-139, ओक्काणी 1-59 ये शब्द छूत क्रीडा के लिये व्यवहृत हैं। छूतक्रीडा के अलग-अलग अड्डे होते थे। इसका मकेत टेंटा 4-3 (जूआघर) शब्द के प्रयोग से मिलता है। सकलित शब्दों को देखते हुए ऐसा लगता है जैसे यह कोई निषिद्ध व्यापार न रहा हो। स्वतन्त्र जुआ घरों और उनके मालिकों¹ के उल्लेख इन तथ्यों की पुष्टि करते हैं। एक जगह कत्ता (2-1) जुए में खेली जाने वाली कोठी का उल्लेख देखकर ऐसा प्रतीत होता है, जैसे कोठी से ही जुआ खेनने का प्रचलन अधिक रहा हो। आज भी ग्रामीण जीवन में यह कोठी में खेला जाने वाला जुआ — हजारों घरों को तवाह कर देता है। मद्यपान और छूत क्रीडा से सम्बन्धित उपर्युक्त शब्दावली, इन शब्दों का प्रयोग करने वाले वर्ग के लोगों के रहन-सहन तथा आचार विचार को स्पष्ट करने में सर्वथा समर्थ है। निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि “देशीनाममाला” सकलित, खान-पान का द्योतन करने वाली शब्दावली आधुनिक ग्रामीण जीवन के स्तर से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। भारत जैसे विस्तृत राष्ट्र में जहाँ अनेकों सुसंस्कृत जातियाँ रहती हैं, इनके बीच आज भी खोजे जा सकते हैं। भारत में अनेकों ऐसे रहन-सहन के लोग मिलते हैं जिनकी तुलना इस कोश में सकलित शब्दों के वातावरण से अच्छी तरह की जा सकती है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि इन शब्दों का सम्बन्ध समाज में युग-युगों से रहती आयी निम्नवर्ग और निम्न मध्यम वर्ग की जातियों से है।

घरेलू वस्तुएँ

‘देशीनाममाला’ की गृहस्थी से सम्बन्धित सामान्य शब्दावली अधिकांशतः ग्रामीण जीवन से ही सम्बन्धित है। इसमें अनेकों शब्द तो ऐसे हैं जिनका प्रचलन आज भी उन्मी रूप में और उसी अर्थ में होता चला आ रहा है। इन शब्दों की अपरिवर्तित विकासमान अवस्था को देखते हुए इन्हें भी किसी युग विशेष से संबद्ध कर पाना एक अत्यन्त दुरुह कार्य है। कोश में आयी हुई घरेलू वस्तुओं से सम्बन्धित शब्द इस प्रकार हैं—

घरों में प्रयुक्त होने वाली सूर्पादि सामान्य वस्तुओं के लिए यहाँ अवदुस 1-30 शब्द व्यवहृत हुआ है। इसके अन्तर्गत धातुओं के वर्तन आदि भी आ जाते हैं।

1. डभिओ 4 8, पाउगिओ 6-42 तथा पाउगो 6 41, शब्द जूआघर के मालिक के अर्थ में सकलित हैं। इनका उल्लेख इसी अध्याय के प्रारम्भिक अंशों में किया जा चुका है।

ग्रामीण जीवन के लोग श्रमजीवी होते हैं। बहुत प्राचीनकाल से ही वे अपनी गृहस्थी में प्रयोग योग्य वस्तुओं को स्वयं ही तैयार करते रहे हैं। उनके जीवन में मशीनों को बहुत कम स्थान मिला है। खाने-पीने की वस्तुओं को तैयार करने में वे तरह-तरह के उपकरण प्रयोग में लाते हैं। ऐसे कुछ उल्लेखनीय उपकरण इस प्रकार हैं—

अवहंड- 1-32- मूसल-यह लकड़ी का बनता है। इसके निचले किनारे पर लोहे की साम (कची-2-9) लगी होती है। यह ध्यान की कुटाई में काम आता है, कुटाई में एक और भी उपकरण की आवश्यकता पड़ती है जिसे 'काडी' कहते हैं। यह पत्थर¹ या लकड़ी की बनती है। इस कोश में लकड़ी की बनी हुई 'काडी' के लिए- आयर-1-74 शब्द प्रयुक्त है। इन दो उपकरणों के अनिरिक्त कुटाई में काम आने वाला एक अन्य उपकरण 'ओखली' है। इसके लिए यहां उक्वली 1-88 शब्द आया है। यह शब्द थोड़े ध्वनिपरिवर्तन के साथ आज भी प्रचलित है। इसी तरह गन्ने और तेल की पेराई में काम आने वाला उपकरण कोल्हूओं 2-65- कोल्हू है। यह प्रायः पत्थर का होता था। यह शब्द भी 'कोल्हू' के रूप में थोड़े ध्वन्यात्मक परिवर्तन के साथ ज्यों का त्यों उसी अर्थ में प्रचलित है।

अन्य घरेलू वस्तुओं में कट्टारी 2-4- छुगी, कडच्छू 2-7- करछुल, कडतला- 2-19- हंसिया (अनाज की फमल आदि काटने में काम आने वाला अर्द्धचन्द्र आकृति का लोहे का बना हुआ उपकरण विशेष), कडनर -2-16 पुराने मूप आदि उपकरण कडमुथ -2-20- एक वर्तन, कमड 2-55- दही रखने का पात्र कमणी -2-8- मीढी कयल -2-4- पानी का वर्तन, कलवू 1-12- लोकी का वर्तन, कोडिअ -2-47- छोटा करवा (इसे अवधी में 'परई' भी कहते हैं -यह मिट्टी की बनायी जाती है) गायरी, गोआ तथा गगरी 2-99- गगरी (मिट्टी का बड़ा- जो आज भी गावों में पीने का पानी रखने और अनाज इत्यादि भर कर सुरक्षित रखने के काम में आता है) गोली 2-95- मथानी- यह लकड़ी की बनायी जाती है और छाछ विलोने के काम में आती है, डुवो -4-11- नारियल का बना हुआ पात्र-यह पात्र बड़े वर्तनों में से दही और मट्ठा आदि द्रव पदार्थों को निकालने के काम में आता है 'अवधी' में इसे 'नरियरी' कहा जाता है, ढेंकी-4-15- ढेंकी-यह लकड़ी के लम्बे ठोस पट्टे में बनाया गया यंत्र विशेष होता है। इसकी तुलना 'मो-मा' से की जा सकती है। इसे घान कूटने के काम में लाया जाता है। शब्द को देखकर ही पता चल जाता है कि इसमें किसी भी प्रकार का भाषा वैज्ञानिक परिवर्तन नहीं हुआ है। यह ज्यों का त्यों अपने प्राचीन स्वरूप और अर्थ में आज भी व्यवहृत होता है। गेलिच्छी 4-44 पानी निकालने की

1. पत्थर की बनी हुई काडी के लिए अवहंडों तथा अवजणों 1-26, दो शब्द व्यवहृत हुए हैं।

चर्मी -इसे 'रहम' भी कहने हैं । गावों में यह मिचाई का आगमन और बहुप्रचलित उपकरण है ।

दुष्कृपकणिआ-5-48- उगालदान, दुद्धिणिआ -5-54 तेलहडी (मिट्टी की बनी हुई तेल रखने की हाडी), पच्छूढ तथा परिअली 6-12- थाली पोत्ती -7-70- शीशा या काच, वोहरी -6-97- भाडू, पूरण 6-56- सूप ॥

इन नित्य प्रति की प्रयोग योग्य घरेलू वस्तुओं के अतिरिक्त कुछ गृह उद्योगों से सम्बन्धित शब्द भी आये हैं । ऐसे उद्योगों में कपड़ा बुनना और लोहे के छोटे-मोटे काम आदि हैं । कपड़े की बुनाई से सम्बद्ध-पूरी 6-56- जुलाहे का यंत्र, ततुक्खोड़ी 5-7- कपड़ा बुनने की मशीन का एक यंत्र विशेष, पलस 6-70- कपास का फल, पलही 6-4 रुई इत्यादि शब्द कहे जा सकते हैं । एक जगह पूणी 6-56- पूनी (रुई की बनी हुई) का उल्लेख देखकर ऐसा प्रतीत होता है जैसे हाथ से सूत कातने का कार्य भी लोग बहुत पहले ही से जानते रहे हों । इस शब्द का सर्वप्रथम तत्कालीन गुजरात के जीवन में भी हो सकता है । गावी जी ने इस कला पर बहुत जोर दिया था इसका कारण, हो सकता है-गुजरात के जन-जीवन में प्रचलित इस व्यवसाय की प्रसिद्धि ही रही हो । लोहे के धन्वे से सम्बन्धित पवद्ध 6-11- लोहे का धन शब्द आया है ।

सामाजिक उत्सव एवं खेलकूद

'देशीनाममाला' में विभिन्न सामाजिक उत्सवों से सम्बन्धित कई शब्द आये हैं । ये उत्सव अपने आप में बहुत बड़ी सांस्कृतिक महत्ता छिपाये हुए हैं । आषाढ मास में गौरी पूजा के अवसर पर होने वाले उत्सव को भाउअ 6-103, श्रावणमास में शुक्लपक्ष की चतुर्दशी को होने वाले उत्सव को वोरल्ली 7-18, भादो मास के शुक्ल पक्ष की दशमी को मनाये जाने वाले उत्सव को णेडुरिया 4-45, कार्तिक के कृष्ण पक्ष में सम्पादित होने वाले महोत्सव को महालक्खो 6-127, कार्तिकमास की शरत्पूर्णिमा पर होने वाले उत्सव को पोआलओ 6-181 कहा जाता था । इस उत्सव के अन्तर्गत पति-पत्नी के हाथ से मीठे 'पुओ' का भोजन करता था । माघ के महीने में एक उत्सव मनाया जाता था जिसमें ईश की दातून की जाती थी । इसे अवयारो (1-32) कहा जाता था, वसतागमन पर होने वाले उत्सव को फग्गू (6-82) कहते थे । एक अन्य उत्सव पर नव दम्पति एक दूसरे का नाम लेते थे इसे लय (7-16) कहा जाता था । एक ऐसे उत्सव का उल्लेख हुआ है जिसमें तमाम स्त्रियाँ एकत्र होती थी । इनमें से प्रत्येक अपने पति का नामग्रहण करती थी, जो स्त्री अपने पति का नाम न ले पाती थी उसे सभी मिलकर पलाश की डाली से पीटती थी । इस

उत्सव के लिए णवलया (4-21) शब्द आया है ।¹

इस कोश में सकलित कुछ रीति-रिवाज सूचक शब्द भी उल्लेखनीय हैं । एमिणिआ (1-145) शब्द ऐसी स्त्री का वाचक है, जो अपने शरीर को सूत से नाप कर उस सूत को चारों दिशाओं में फेंकती है । यह सम्भवतः किसी प्रकार की अभिचार क्रिया रही होगी जिसे करने वाली स्त्री समाज में अत्यंत पतित समझी जाती रही होगी । आणदवडो (1-72) शब्द का अर्थ है जिसका विवाह छोटी अवस्था में हो जाय, वह स्त्री जब प्रथम बार रजस्वला हो उसके रजोलिप्त वस्त्र को देख कर पति या पति के अन्य कुटुम्बी जो आनन्द प्राप्त करते हैं, वह आनन्द इस शब्द से व्यक्त होता है । खिक्खरी और भज्जरी (क्रमशः 2-73 और 3-34) शब्द ऐसी छड़ी के वाचक हैं, जिसे चाण्डाल कहे जाने वाले व्यक्ति अपनी अस्पृश्यता का संकेत करने के लिए, लिये रहते थे । इसी प्रकार 'णवर' जाति के लोग अपने सिर पर पत्ते का दोना (टोपी की भांति) रखकर चलते थे इसके लिए ईसिअ (1-84) शब्द व्यवहृत हुआ है । पुलिन्द जाति के लोग भी इसी प्रकार का दोना सिर पर रखकर चलते थे । इनके सिर पर रखे हुए दोने के लिए पत्ती, पत्तपसाडआ, तथा पित्तपिसालस (6-2) तीन शब्द आये हैं ।²

इस प्राकृत कोश में कुछ खेलवाचक शब्द भी सकलित हैं । इन शब्दों से उस काल के खेल विषयक मनोरंजन के साधनों पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है । आखों को थका देने वाले फिर भी अत्यंत प्रिय लगने वाले खेल को गदीणी (2-83) कहा गया है । लुकाछिपी के खेल के लिए ओलुकी (1-153) शब्द आया है । ऊना-पूरा या मुट्ठी में पैसे लेकर अन्य व्यक्ति से उसकी सम या विषम संख्या के बारे में पूछना अवेटी (1-7) कहलाता था । एक पैर से चलने वाले खेल को हिचय तथा हिविअ (6-68) कहा गया है ।

इन विभिन्न उत्सवों और रीति-रिवाजों से सम्बन्धित शब्दों को देखकर जिस सांस्कृतिक चित्र की कल्पना मस्तिष्क में उभरती है— वह प्राचीनकाल से प्रचलित विभिन्न सस्कृतियों का मिश्रण मात्र है । आचार्य हेमचन्द्र ने इस कोश का सकलन

1. इसी उत्सव से मिलता जुलता उत्सव भादों के महीने में कजरी तीज के अवसर पर अब भी सम्पन्न होता है । उत्तर-प्रदेश के पूर्वी जिलों में इस दिन समुदाय से लौटकर आयी हुई नव-विवाहित कन्याएँ अपने पतियों का नाम लेती हैं । परन्तु इसमें मार-पीट जैसी कोई बात निहित नहीं होती ।
2. 'पुलिन्द' जाति अत्यंत प्राचीन है । 'शून शेष आख्यान' में (जो कि ब्राह्मण साहित्य का प्रसिद्ध और प्राचीन आख्यान है) इन्हें विश्वामित्र के निष्कासित पुत्रों के रूप में उल्लिखित किया गया है । सांस्कृतिक अध्ययन की दृष्टि से यह शब्द इस कोश के शब्दों की प्राचीनता सिद्ध करने को पर्याप्त है ।

12 वीं सदी में किया है। वे एक अद्भुत अध्ययनशील ऋषि थे। उन्होंने इन शब्दों के सकलन में अवश्य ही निम्न वर्गीय संस्कृतियों से सम्बन्धित ग्रन्थों का अध्ययन किया होगा। ऐसे ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं हैं। ऐसी स्थिति में निष्कर्ष रूप में केवल यही कहा जा सकता है कि इन शब्दों में 12 वीं सदी की गुजरात के निवासियों की निम्न-वर्गीय संस्कृति के साथ ही उनसे भी प्राचीन काल से प्रचलित एवं परम्परा से प्राप्त संस्कृति के अनेकों शब्द हैं। पीछे 'पुलिन्द' जाति के उल्लेख के साथ ही यह बताया जा चुका है कि यह जाति उत्तर वैदिक काल से, उल्लेखों में मिलने लगती है। इसी तरह इससे भी प्राचीन जातियों की सांस्कृतिक शब्दावली युग-युगों से जनभाषाओं में मिलती रही है जिसका ऐतिहासिक क्रम से कहीं उल्लेख न प्राप्त होने के कारण कुछ निश्चयपूर्वक कहा भी नहीं जा सकता। ऐसे ही अनेकों प्राचीन एवं तत्कालीन गुजरात के निम्न वर्गीय रहन-सहन और रीति-रिवाजों से 'देशीनाममाला' के इन शब्दों को संवद्ध किया जा सकता है। इस कोश के शब्दों की बहुत बड़ी मात्रा समाज में प्रचलित होने टोटे, तथा विविध क्लिष्ट साधनाओं से संवधित हैं। इसके अतिरिक्त अनेकों शब्द समाज की उन्मुक्त कामुकता, विविध रत्यादि क्रियाओं तथा दुराचारों को व्यक्त करने वाले हैं। इन सभी बातों को देखते हुए इन शब्दों के वातावरण की तुलना यदि अथर्ववेदीय शब्दों के वातावरण से की जाये तो दोनों में बहुत कुछ समानता मिलती है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि ये शब्द बहुत प्राचीन काल से परम्परा में विकासमान अधिकांश निम्नवर्गीय संस्कृति के द्योतक हैं। इस कथन की पुष्टि आगे विवेचित धार्मिक शब्दावली से भी हो जायेगी।

धार्मिक आचार-विचार और देवी-देवता :

'देशीनाममाला' के विशाल शब्द भण्डार के बीच कुछ शब्द धार्मिक रीति-रिवाजों और विभिन्न देवी-देवताओं के वाचक हैं। इस प्रकार के शब्द किसी धर्म या सम्प्रदाय विशेष से सम्बन्धित नहीं हैं अतः इनके आधार पर किसी विशिष्ट समाज का प्रारूप नहीं खड़ा किया जा सकता। कहीं शैव धर्म के वाचक शब्द हैं तो कहीं जैन धर्म के। इसी प्रकार कहीं शाक्त देवियाँ हैं, तो कहीं पुराणों में अत्यन्त प्रसिद्ध विष्णु, ब्रह्मा, गणेश, काम¹ आदि देवता हैं। इस कोटि के शब्दों में अधोलिखित देवता विशेषतया उल्लेखनीय हैं।

प्रेम के देवता काम के लिए कई शब्द हैं जैसे — ईसरो 1-84 ऊसरा-1-139, कतू 2-1, कुरुकुरिअ 2-42, मुरुमुरिअ 6-135, मम्मणो-6-141,

1. 'देशीनाममाला' की देवताओं से सम्बन्धित शब्दावली में 'काम' से सम्बन्धित शब्दों की भरमार है। यह देवता निम्न चित्तवृत्ति वालों के लिए ही विशेष पूज्य होता है।

मयण्णिवसो 6-126 आदि । शैव कापालिक के लिए अग्रहरण 1-82 तथा शिव भक्तों के लिए वंगच्छा 7-39 शब्द आये हैं । ये दोनों शब्द इम नथ्य का उद्घाटन करते हैं कि समाज में पौराणिक त्रिदेवों (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) में सृष्टि का मृजन एवं कल्याण करने वाले शिव तथा शक्ति के अधिष्ठाता उन्नत रूपी शिव, इन दोनों ही रूपों की उपासना का प्रचलन था । शिव के रुद्र¹ रूप के लिए सिद्धन्तो 8-31 शब्द व्यवहृत हुआ है । शिव पुत्र कार्तिकेय और गरुडेश के लिए क्रमशः चउक्करो 3-5 तथा हैरिवो 8-72 प्रयुक्त हुए हैं ।

ब्रह्मा के लिए थेरो 5-29 पसेवओ 6-22 तथा विसारी 7-62 तीन शब्द सकलित हैं । इनमें विसारी शब्द कमल पर आसन लगाकर बैठे हुए ब्रह्मा का वाचक है । यह शब्द तद्भव है । विश का अर्थ कमलनाल होता है ।

विष्णु के लिए इस कोश में एक्खत्तणोमि 4-22 भट्टिओ 6-100 तथा सुवण्णविन्द 8-40 शब्द आये हैं ।

इन्द्र के लिए घणवाही 2-107 और इन्द्राणी के लिए धु बुमारा 5-60 तथा इन्द्र के पुत्र जयत के लिए पइहनो 6-19 शब्द प्रयुक्त हुआ है । इन्द्र को प्रसन्न करने के लिए एक उत्सव का भी उल्लेख है जो सम्भवतः वर्षाकाल में वृष्टि न होने के कारण किया जाता रहा होगा । इस उत्सव के लिए इडड्डलओ 1-82 शब्द आया है ।

प्रसिद्ध वैदिक देवता वरुण को जल के देवता के रूप में उल्लिखित किया गया है । मिअंगो (8-31) तथा सुरजेट्ठो और फेणववो फणवडो 6-85 — ममुद्र और पश्चिम दिशा के देवता वरुण । कृष्ण के बड़े भाई बलराम का वाचक शब्द उसणसेणो — 1-118 है ।

देवियों में चामुण्डा के लिए णिम्मसा 4-35, दिव्वासा 5-39, चण्डी या दुर्गा के लिए सुलत्थारी (शूलधारिणी या शूलवरी), चन्द्रमा की मन्त्री के लिए मारणी 6-147 शब्द सकलित हैं । एक स्थान पर देवमाताओं के लिए छाइओ 3-26 शब्द व्यवहृत हुआ है ।

इन देवताओं से अलग मनुष्यों को विविध प्रकार की बाधाएँ पहुँचाने वाले राक्षसों तथा भूत प्रेतों एवं पिशाचिनियों का भी उल्लेख कई शब्दों में हुआ है । इन वाचक राक्षसों में राहु के लिए कई शब्द आये हैं जैसे अण्णपिसाओ 1-42 गहकल्लोलो 2-86, मिधुओ 8-31 तथा पिशाच के लिए ढढरो तथा ढयरो

1. रुद्र के लिए दूसरा व्यवहृत शब्द 'पडरगो' 6-23 है ।

4-16, णिजो 4-25 परेशो 6-12, मरुनो 6-114 । असुर या राक्षस के लिए पुरिन्नदेवो 6-55, जणोहणो 3 43 । दानव के लिए अयक्को, अयगो 1-6 । प्रेनिनी के लिए उमरी 1-98 । डाकिनी के लिए सेअणिआ 7-12 तथा लामा 7-21 ।

“देशीनाममाला” का एक शब्द अत्यंत चौंका देने वाला है । घम्मओ— 5-63 । ऐसे पुरुष के वाचक शब्द के रूप में व्यवहृत हुआ है जिसे चामुण्डा को बलि दी जाने वाली है । यह शब्द भारत में बहुत प्राचीनकाल से प्रचलित नर बलि का संकेत देने वाला है । आर्येतर जातियों द्वारा प्रतिपादित विशिष्ट धार्मिक अनुष्ठानों में नरबलि दी जाती थी, इसके अनेकों प्रमाण ढूँढ जा सकते हैं । यह शब्द भी उस कृत्य की प्रामाणिकता को च्योतिन करने वाला है ।

ऊपर उल्लिखित बाधक दुष्टात्माओ तथा बुरे ग्रहों से सामान्य रूप से लोग भयभीत रहते थे — इसका संकेत अहिमित्र 1-30 में मिलता है । इसका अर्थ प्रेत या ग्रह बाधाओं में डर कर रोना है ।

धार्मिक जीवन को अभिव्यक्ति देने वाले अन्य शब्द इस प्रकार हैं — ऐराणी 1-47 — भक्ति में लगी हुई स्त्री । कन्दल 2-4 — कपाल । करक — 2-17 भिक्षा पात्र । चोरली — 3-19 — श्रावण कृष्ण चतुर्दशी को किया जाने वाला व्रत विगेष । छिप्पती, छिप्पटी 3-37 — एक धार्मिक व्रत । दुक्कर — 5-42 — माघ के महीने में बहुत प्रातः ही किया जाने वाला धार्मिक स्नान । भूअण्णो — 6-107 — जोते हुए खेत में किया जाने वाला यज्ञ । महालक्खो — 6-127 — क्वार का श्राद्धपक्ष । जक्करत्ती (यक्षरात्रि), 3-43 — दीपावली का त्यौहार । मायदी 6-129 — श्वेतवस्त्रा सन्यासिनी ।¹ वत्थी 7-31 आश्रम । विडकिआ — 7-67 — यज्ञ-वेदी । सण्णोज्झो 8-6 — एक यज्ञ विशेष इसका अर्थ घन के अधिपति कुबेर का नेवक भी है । हो सकता है यह यज्ञ भौतिक समृद्धि (घन-धान्यादि) के लिए किया जाता रहा हो । सारी — 8-22 — ऋषिपीठ — यह ऋषियों के रहने और अध्ययन अध्यापन तथा धार्मिक चिन्तन का स्थान रहा होगा । साइअ — 8-25 — सस्कार या शिक्षा । आज भी कोई शुभ कार्य करने के पहले या यात्रा पर जाने के पूर्व किसी ज्ञानी से लोग “साइत” पूछते हैं । इन दोनों शब्दों में थोड़े ही अर्थ परिवर्तन के साथ सम्बन्ध स्थापित हो जाता है ।

1. इस शब्द का व्यवहार सम्भवतः श्वेताम्बर संप्रदाय में दीक्षित जैन धर्मावलम्बिनी महिला के लिए किया जाता रहा होगा ।

धर्म के क्षेत्र में पूजागृहों और मन्दिरों का बहुत महत्त्व रहा है। इस कोण में मन्दिरों के वाचक कई शब्द संकलित हैं। एमीमारो 4-41 — एक खुला हुआ देव गृह या मण्डप। अहिहर 1-57 — मन्दिर, वयण 7-85 तथा साणूर 8-24 शब्द भी मन्दिरवाची हैं। इन मन्दिरों में प्रतिमा की पूजा होती थी। प्रतिमा के लिए ठविआ — 4-5 शब्द संकलित हैं। हेमचन्द्र के समकालीन गुजरात के लिए देव-मन्दिरों की स्थिति साधारण जान है।

साहित्य और कला

साहित्य और कला किसी भी समाज या जाति की संस्कृति के श्रेष्ठ प्रतिमान हैं। आचार्य हेमचन्द्र गुजरात जैसी समृद्ध विद्या-भूमि में उत्पन्न हुए थे वहीं शिक्षा ग्रहण की और वहीं अपने सुदीर्घ कार्यकाल का यापन किया। हेमचन्द्र के समय का गुजरात साहित्य और कला की दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध था। उनकी इस समृद्धि का द्योतन आचार्य हेमचन्द्र और उनके समकालीन आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में भली-भाँति किया है। जहाँ तक देशीनाममाला में संकलित इस कोटि के शब्दों का सम्बन्ध है एक बार फिर अत्यन्त खेद के साथ कहना पड़ रहा है कि इनसे किसी युग विशेष के समाज विशेष या जाति विशेष की संस्कृति का द्योतन नहीं होता अपितु ये समाज में रहने वाली शिष्ट तथा अशिष्ट-शिक्षित तथा अशिक्षित दोनों वर्गों की संस्कृति का द्योतन करते हैं।

साहित्य और कला से सम्बन्धित “देशीनाममाला” के शब्दों में ज्योतिष, गणित, काव्य, साहित्यिक चर्चा, जादू टोना, नृत्य, गीत, वाद्य आदि से सम्बन्धित शब्द उल्लेखनीय हैं। इनका क्रमिक उल्लेख इस प्रकार किया जा सकता है — एक स्थान पर आमोरग्रो (1-66) शब्द आया है इसका तात्पर्य ऐसे व्यक्ति से है जो अपने विषय का विशेषज्ञ हो। पत्तट्टो (6-69) शब्द भी बहुशिक्षित या विशेषज्ञ का ही अर्थ देता है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि अलग-अलग विद्याओं के अलग-अलग विशेषज्ञ होते रहे होंगे। इन विशेषज्ञों के बीच आपसी विमर्श करने के लिए की जाने वाली समा या गोष्ठी के लिए षड्विग्रहवा और घडी (2-105) दो शब्द आये हैं। समाज में प्रचलित भिन्न-भिन्न विद्याओं के बीच ज्योतिष का द्विष्ट महत्त्व रहा होगा। इससे सम्बन्धित शब्दों में गणयमहो (2-86) — विवाह गणना करने वाला ज्योतिषी उल्लेखनीय है। एक स्थान पर ग्रहपरिवर्तन का उल्लेख हुआ है इसके लिए हृत्तिवग्रो — (8-63) शब्द प्रयुक्त हुआ है। गणितशास्त्र से सम्बन्धित दो शब्द पञ्चावाण्णा पण्णव (6-27) — 55 की गिनती तथा कोणू (2-45) — 8 — एक रेखा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। जहिमा

(3-42) एक ऐसे विदग्ध पुरुष का वाचक है जो गाथाएँ रचने में (पद्य रचना में) श्रव्यन्त पटु हो। गीत के लिए उन्वाउल (1-34) तथा उच्च स्वर में किये जाने वाले गान के लिए ओहीरित्र (1-163) शब्द व्यवहृत हुए हैं रासनृत्य के लिए कुद्गो¹ (2-38) तथा गाधारण नृत्य के लिए तद्ग्रिचय (5-8) शब्द आये हैं। घु घरू के लिए णिग्रन (4-28) शब्द प्रयुक्त है।

“देशीनाममाला” में वाद्य यन्त्रों से सम्बन्धित शब्दों की भरमार है। ये वाद्ययन्त्र अलग-अलग सामाजिक अवसरों पर प्रयोग किये जाने वाले तथा भिन्न धातुओं और प्राकृतिक वनस्पतियों की सहायता से बनाये जाते थे। इन वाद्य यन्त्रों में निम्नलिखित विशेष रूप में उल्लेखनीय हैं — ढोल के लिए मभा (6-100), भुख या भाक के लिए भुजो (3-58) तथा तुणग्रो (5-15), एक विशेष प्रकार की बीणा के लिए टयरी (4-14), मुख में बजाये जाने वाले तथा तृण (नरकुल आदि) से बनने वाले वाद्य के लिए पिगुनी और पिहुल (6-47), दुर्दरक नामक वाद्य के लिए वायउघडो (7-61) आदि शब्द सकलित हैं। कुछ ऐसे भी वाद्य यन्त्रों के वाचक शब्द हैं, जिनके स्वरूप के बारे में कुछ भी निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता। ऐसे शब्दों में पिहण्डो (6-79), लुरणी (7-24) आदि उल्लेखनीय हैं। वच्चे के जन्म अवसर पर बजाये जाने वाले वाद्य के लिए थेवरिग्र (5-29) शब्द संग्रहीत किया गया है।

इन शब्दों के अतिरिक्त इस प्राकृत-कोष में ज्ञान-विज्ञान से सम्बन्धित शब्दों का भी अभाव नहीं है। वओउष्क तथा वओग्रथ (7-50) — विपवत रेखा-भूगोल के शब्द हैं। गणित से सम्बन्धित शब्दों का उल्लेख पहले किया जा चुका है। इसी प्रकार प्राकृतिक वस्तुओं पशु-पक्षियों तथा अन्य सासारिक वस्तुओं के ज्ञान की सूचना इन शब्दों के माध्यम से मिलती है। एक स्थान पर सेमल की रूई से स्त्री आकृति (गुडिया) के निर्माण का संकेत एकरसिवली (1-146) शब्द में मिलता है। इसी प्रकार कीमती पत्थरों को शान पर चढ़ाकर उन्हें तरासना और उनसे विविध मूल्यवान् वस्तुओं के निर्माण का भी संकेत ओप्पा 1-148 शब्द में देखा जा सकता है।

“देशीनाममाला” में सकलित “साहित्य और कला” से सम्बन्धित शब्दावली यद्यपि अल्पमात्रा में है। फिर भी जितने शब्द मिलते हैं उनकी अपनी विशिष्ट

1. हिन्दी ‘कूदना’ क्रिया का विकास इस शब्द में देखा जा सकता है। रासनृत्य में होने वाले त्वरित अंगसंचालन और पावों के पटकने तथा उछलने कूदने के कारण ही इस नृत्य का यह नाम पड़ा होगा। आज भी रासनृत्य में यही क्रिया प्रधानतया देखी जाती है।

सांस्कृतिक महत्ता है। आज भी यदि इन शब्दों का विकास विभिन्न प्रान्तीय मस्कृतियों की शब्दावली में खोजा जाय तो अवश्य ही कहीं न कहीं प्राप्त हो जायेंगे। विषय विस्तार के कारण यहाँ इन सांस्कृतिक शब्दों का विवरण मात्र दे दिया गया है। इस के सभी शब्दों का तुलनात्मक और ऐतिहासिक विवेचन एक अत्यन्त दुरूह तथा अपने आप में भविष्य के अनुभवित्मुओं के लिए एक स्वतंत्र कार्य है।

ग्रामीण कृषक-जीवन से सम्बन्धित शब्दावली

“देशीनाममाला” के शब्दों से सूचित होने वाला समाज अधिकांश रूप से एक खेतिहर समाज है। इस तथ्य का स्पष्टीकरण उदाहरण की गाथाओं में होता है। वहाँ आये हुए हालिक युवक युवतियों के वर्णन नेतों के बीच उनकी उन्मुक्त काम क्रीडाओं में एक खेतिहर वर्ग का चित्र ही उभर कर सामने आता है। जहाँ तक कृषि कला से सम्बन्धित शब्दावली का प्रश्न है, इसके लिए भी पर्याप्त शब्द इस कोश ग्रन्थ में मिल जाते हैं। खेतों की सिंचाई के काम आने वाली पानी की चर्खी के लिए कुल चार शब्द आये हैं — आगत्ती (1-63), उक्कती, उक्कद तथा उक्का (1-87)। सिंचाई के लिए बिना जगत के (मुड़े) का व्यवहार होता था, इसका संकेत उक्त हो (1-94) — बिना जगत का कुआँ — में मिलता है। एक शब्द उच्छ्ररण (1-117) में दूर दूर तक फैले हुए ईख के खेतों का संकेत मिलता है। इसके अतिरिक्त ग्रामीण कृषक जीवन से सम्बन्धित और भी अनेकों प्रकार के पशु पक्षियों और पेड़ पौधों से सम्बन्धित शब्द बहुतायत से मिलते हैं। इनका अलग-अलग उल्लेख कर देना उपयुक्त होगा।

पेड़-पौधे और फल-फल

आम्रल्ली (1-61) — एक लता या भुरमुट, आरणाल (1-67) — कमल आवगो (1-62) तथा कन्धाडो (2-53) — बहेड़े का वृक्ष, उम्मत्तो (1-89) वत्तूर, ककेल्ली (2-12) — अशोक वृक्ष, ककोड (2-7) तथा कच्छुरी (3-11) — ककई नाम का एक वृक्ष विशेष, कटार (2-10) — नारियल, कणई (2-5), एकलता, कदोडू — नीलकमल (2-9), करयदी (2-18) — मलिकापुष्प, कराडणी (2-18) शाल्मलितरु, कलओ (2-54) — अर्जुनवृक्ष कलको (2-8) — वाम, कवयं (2-3) — कुकुरमुत्ता, कसई (2-6) — जंगलीफल, कालिजणी (2-29) — तापि च्छलता, काहेणू (2-21) — गुजा नामक झाड़ी, कुंती (2-34) — मजरी, कुदीर (2-39) — कुदरू का फल, केआरवाणो (2-45) — पलाश, केऊ (2-44) — कद, गद्दह (2-83) — श्वेतकमल, गुड (2-91) लच्छका नाम की घास, चक्कगणगय (3-7) — नारंगी, चदोज्जं (3-4) — श्वेतकमलिनी, चोडो (3-19) बेल का पेड़, जंबुओ (3-52) — बेतस वृक्ष, भड्डुओ (2-53) — पीलु नामक वृक्ष, टक्कारी (4-2) — एक बनेलाफूल टोलवो (4-4) — मधूक वृक्ष, डाळ (4-12) — फल हमक नामक वृक्ष, राडमामय (4-23) — जल में उत्पन्न होने वाला एक फल, रोलकठो (4-42) — वारा वृक्ष इस प्रकार के अनेकों पेड़ पौधों एवं फूलों-फूलों से सम्बन्धित शब्दावली इस कोश में पग-पग पर बिखरी हुई है।

पशु-पक्षी

देशीनाममाला की पशु-पक्षियों से सम्बन्धित शब्दावली भी आश्चर्य में डाल देने वाली है। इनमें आये हुए पशु-पक्षियों के नाम विचित्र हैं, यद्यपि पशु-पक्षी

सुपरिचित ही है। इन शब्दों के सचयन में आचार्य हेमचन्द्र को पर्याप्त छान-बीन करनी पड़ी होगी। पशु-पक्षियों तथा विभिन्न जीव-जन्तुओं से सम्बन्धित कुछ उल्लेखनीय शब्द नीचे दिये जा रहे हैं—

आलई (1-64) - शकुनिपक्षी, आलथो (1-65) - मयूर, आलासो (1-61) - विच्छ्र आत्रिग्र, (1-76) - इन्द्रगोप-एक लालरंग का वरसाती कीड़ा, आसकखयो (1-67) - श्रीवद् नामक पक्षी, आहु (1-61) - उलूक इड्डो, (1-79) - भ्रमर, इदगाई (1-81) - भुड में चलने वाले कीड़े, इदमहकामुग्रो (1-82) - कुत्ता, इरमदिरो (1-81) - युवा हाथी, इरावो (1-80) - गज, इल्ली (1-83) - सिंह, इसग्रो (1-82) - रोज्झ नामक मृग उड्डरगो (1-23) - बैल, उड्डसो (1-96), खटमल, उररी (1-88) - एक पशु, उलुहत्तो (1-109) - कोआ, एणु वासिग्रो (1-147) - मेढक आलेग्रो (1-160) - बाजपक्षी कणइल्लो (2-21), तोना, कठ (1-51) - सुग्रर, कणच्छुरी (2-19) - छिपकली, कद्मिग्रो (2-15), भैसा या भैस, कामकिमोरो (2-30) - गधा कायचुलो (2-29) - जल में रहने वाला पक्षी, कायरिउच्छो (2-30) - कोकिला, किविकडी (2-33) - सर्प, कुनो (2-29) - तोता, कुल्हो (2-34) - सियार, कोविआ (2-48), - सियारिन, खच्चल्लो (2-69) - भालू, खिविखडो (2-74) - केकडा, गड्डरी (2-84) - वकरी, गहरो (2-34) - गीध, गामेणी (2-34) - भेड़, गुत्थडी (2-92) - पानी में रहने वाला जीव, गाहुली (2-89) - एक क्रूर जलचर। इसी प्रकार के और अनेकों शब्द देशीनाममाला में पग-पग पर बिखरे देखे जा सकते हैं। आचार्य हेमचन्द्र ने इन नामवाची शब्दों का सकलन देश के कोने-कोने से प्राप्त सूचनाओं के आधार पर किया था। इस वर्ग के सन्दर्भगत ग्रन्थ अब अप्राप्त हैं। अतः इनके प्रयोग स्थान को निर्धारित कर पाना भी एक दुष्कर कार्य है। शब्दों के स्वरूप को देखकर, मात्र इतना ही कहा जा सकता है कि ये युग-युगों से अशिक्षित ग्रामीण जनता के बीच व्यवहृत होते आये शब्द हैं।

राजनीति और शासन व्यवस्था :

इस वर्ग के अन्तर्गत आने वाली शब्दावली प्राचीन भारत की शासन-व्यवस्था से सम्बन्धित है। इसे तत्कालीन गुजरात की शासन व्यवस्था से भी सर्वाधिकृत किया जा सकता है। देशीनाममाला में राजा के लिए उम्मल्लो (1-131) शब्द का व्यवहार हुआ है। एक शब्द “आयासतल” (1-72) में राजा के निवास स्थान “राजमहल” का भी संकेत किया गया है। महल के दरवाजे पर रहने वाले द्वार-रक्षक के लिए कडअल्लो (2-15) शब्द आया है। राजा का राजमहल नगर के मध्य में होता था। नगर प्रधान के लिए कउग्र (2-56) शब्द आया है। पूरे नगर में छोटी और बड़ी सड़कों का निर्माण कर सचार व्यवस्था की जाती थी। देशीनाममाला में नगर के लिए कोट्ट (2-45) तथा सड़क के लिए किलणी (2-31) और खुखुणी (2-76) शब्द आये हैं। छोटी सड़क के अर्थ में छेंडी (3-31) शब्द का व्यवहार हुआ है। चौराहे के लिए “जघाछेग्रो” शब्द आया है। नगर के बाहर चारों ओर जल से भरी खाई का प्रचलन अतिप्राचीन है। इसके लिए “खाइआ (2-73) शब्द व्यवहृत हुआ है। नगर के मध्य बाजार के लिए कव्वाल (2-52) शब्द आया है। राज्य की सीमा के लिए सदेवो (8-7) शब्द का प्रयोग हुआ है।

पूरे राज्य का शासन अलग-अलग ग्रामाधिपतियों के हाथ में रहता था।

सांस्कृतिक महत्ता है। आज भी यदि इन शब्दों का विकास विभिन्न प्रान्तीय सरकृतियों की शब्दावली में खोजा जाय तो अवश्य ही कहीं न कहीं प्राप्त हो जायेंगे। विषय विस्तार के कारण यहाँ इन सांस्कृतिक शब्दों का विवरण मात्र दे दिया गया है। इस के सभी शब्दों का तुलनात्मक और ऐतिहासिक विवेचन एक अत्यन्त दुरुह तथा अपने आप में भविष्य के अनुमवित्पुत्रों के लिए एक स्वतंत्र कार्य है।

ग्रामीण कृषक-जीवन से सम्बन्धित शब्दावली

“देशीनाममाला” के शब्दों से सूचित होने वाला समाज अधिकांश रूप में एक खेतिहर समाज है। इस तथ्य का स्पष्टीकरण उदाहरण की गाथाओं से होता है। वहाँ आये हुए हालिक युवक युवतियों के वर्णन खेतों के बीच उनकी उन्मुक्त काम क्रीडाओं में एक खेतिहर वर्ग का चित्र ही उभर कर सामने आता है। जहाँ तक कृषि कला से सम्बन्धित शब्दावली का प्रश्न है, इसके लिए भी पर्याप्त शब्द इस कोश-ग्रन्थ में मिल जाते हैं। खेतों की सिंचाई के काम आने वाली पानी की चखी के लिए कुल चार शब्द आये हैं — आगत्ती (1-63), उक्कत्ती, उक्कद तथा उक्का (1-87)। सिंचाई के लिए बिना जगत के (मुड़े) का व्यवहार होता था, इसका संकेत उक्त हो (1-94) — बिना जगत का कुआँ — में मिलता है। एक शब्द उच्छ्रुत्तरण (1-117) से दूर दूर तक फैले हुए ईख के खेतों का संकेत मिलता है। इसके अतिरिक्त ग्रामीण कृषक जीवन से सम्बन्धित और भी अनेकों प्रकार के पशु पक्षियों और पेड़ पौधों से सम्बन्धित शब्द बहुतायत से मिलते हैं। इनका अलग-अलग उल्लेख कर देना उपयुक्त होगा।

पेड़-पौधे और फल-फूल

आअल्ली (1-61) — एक लता या झुरमुट, आरणाल (1-67) — कमल आवगो (1-62) तथा कग्घाडो (2-53) — बहेड़े का वृक्ष, उम्मत्तो (1-89) घत्तूर, ककेल्ली (2-12) — अशोक वृक्ष, ककोड (2-7) तथा कच्छुरी (3-11) — ककई नाम का एक वृक्ष विशेष, कटार (2-10) — नारियल, कणई (2-5), एकलता, कदोट्ट — नीलकमल (2-9), करयदी (2-18) — मलिकापुष्प, कराइणी (2-18) शालमलितरु, कलओ (2-54) — अर्जुनवृक्ष कलको (2-8) — वास, कवय (2-3) — कुकुरमुत्ता, कसई (2-6) — जगलीफल, कालिजणी (2-29) — तापि च्छलता, काहेणू (2-21) — गुजा नामक भाड़ी, कुती (2-34) — मजरी, कुदीर (2-39) — कुदरु का फल, केआरवाणो (2-45) — पलाण, केऊ (2-44) — कद, गद्दह (2-83) — श्वेतकमल, गुड (2-91) लचका नाम की घास, चक्कगणगय (3-7) — नारंगी, चदोज्ज (3-4) — श्वेतकमनिनी, चोडो (3-19) वेल का पेड़, जवुओ (3-52) — बेतस वृक्ष, झटुओ (2-53) — पीलु नामक वृक्ष, टक्कारी (4-2) — एक बनेलाफूल टोलवो (4-4) — मवूक वृक्ष, डाऊ (4-12) — फल हमक नामक वृक्ष, राडमासय (4-23) — जल में उत्पन्न होने वाला एक फल, रोलकठी (4-42) — वाण वृक्ष इस प्रकार के अनेकों पेड़ पौधों एवं फूलों-फूलों से सम्बन्धित शब्दावली इस कोश में पग-पग पर बिखरी हुई है।

पशु-पक्षी

देशीनाममाला की पशु-पक्षियों से सम्बन्धित शब्दावली भी आश्चर्य में डाल देने वाली है। इनमें आये हुए पशु-पक्षियों के नाम विचित्र हैं, यद्यपि पशु-पक्षी

सुपरिचित ही हैं। इन शब्दों के सचयन में आचार्य हेमचन्द्र को पर्याप्त छान-बीन करनी पड़ी होगी। पशु-पक्षियों तथा विभिन्न जीव-जन्तुओं से सम्बन्धित कुछ उल्लेखनीय शब्द नीचे दिये जा रहे हैं—

आलई (1-64) - शकुनिपक्षी, आलत्थो (1-65) - मयूर, आलासो (1-61) - विच्छ्र आविग्र, (1-76) - इन्द्रगोप-एक लालरंग का बरसाती कीड़ा, आसकखग्रो (1-67) - श्रीवद् नामक पक्षी, आहु (1-61) - उलूक इद् डो, (1-79) - भ्रमर, इदगाई (1-81) - भुड में चलने वाले कीड़े, इदमहकामुग्रो (1-82) - कुत्ता, इरमदिरो (1-81) - युवा हाथी, इरावो (1-80) - गज, इल्ली (1-83) - सिंह, इसग्रो (1-82) - रोज्झ नामक मृग, उड्डणो (1-23) - बैल, उड्डसो (1-96), खटमल, उररी (1-88) - एक पशु, उलुहतो (1-109) - कोआ, एणु वामिग्रो (1-147) - मेढक आलेग्रो (1-160) - बाजपक्षी कणइल्लो (2-21), तोता, कठ (1-51) - सुग्रर, कणच्छुरी (2-19) - छिपकली, कद्मिग्रो (2-15), भैसा या भैस, कामकिसीरो (2-30) - गघा कायचुलो (2-29) - जल में रहने वाला पक्षी, कायरिउच्छो (2-30) - कोकिला, किक्किडी (2-33) - सर्प, कु तो (2-29) - तोता, कुल्हो (2-34) - सियार, कोविआ (2-48), - सियारिन, खच्चल्लो (2-69) - मालू, खिक्खिडो (2-74) - केकडा, गड्डरी (2-84) - बकरी, गहरो (2-34) - गीघ, गामेणी (2-34) - भेड, गुत्थडी (2-92) - पानी में रहने वाला जीव, गाहुली (2-89) - एक क्रूर जलचर। इसी प्रकार के और अनेकों शब्द देशीनाममाला में पग-पग पर बिखरे देखे जा सकते हैं। आचार्य हेमचन्द्र ने इन नामवाची शब्दों का सकलन देश के कोने-कोने से प्राप्त सूचनाओं के आधार पर किया था। इस वर्ग के सन्दर्भगत ग्रन्थ अव अप्राप्त हैं। अतः इनके प्रयोग स्थान को निर्धारित कर पाना भी एक दुर्लभ कार्य है। शब्दों के स्वरूप को देखकर, मात्र इतना ही कहा जा सकता है कि ये युग-युगों से अशिक्षित ग्रामीण जनता के बीच व्यवहृत होते आये शब्द हैं।

राजनीति और शासन व्यवस्था :

इस वर्ग के अन्तर्गत आने वाली शब्दावली प्राचीन भारत की शासन-व्यवस्था से सम्बन्धित है। इसे तत्कालीन गुजरात की शासन व्यवस्था से भी सर्वाभित किया जा सकता है। देशीनाममाला में राजा के लिए उम्मल्लो (1-131) शब्द का व्यवहार हुआ है। एक शब्द “आयासतल” (1-72) में राजा के निवास स्थान “राजमहल” का भी संकेत किया गया है। महल के दरवाजे पर रहने वाले द्वार-रक्षक के लिए कडअल्लो (2-15) शब्द आया है। राजा का राजमहल नगर के मध्य में होता था। नगर प्रधान के लिए कउग्र (2-56) शब्द आया है। पूरे नगर में छोटी और बड़ी सड़कों का निर्माण कर संचार व्यवस्था की जाती थी। देशीनाममाला में नगर के लिए कोट्ट (2-45) तथा सड़क के लिए किलणी (2-31) और खुखुणी (2-76) शब्द आये हैं। छोटी सड़क के अर्थ में छेंडी (3-31) शब्द का व्यवहार हुआ है। चौराहे के लिए “जघछेग्रो” शब्द आया है। नगर के बाहर चारों ओर जल से भरी खाई का प्रचलन अतिप्राचीन है। इसके लिए “खाइआ (2-73) शब्द व्यवहृत हुआ है। नगर के मध्य बाजार के लिए कव्वाल (2-52) शब्द आया है। राज्य की सीमा के लिए सदेवो (8-7) शब्द का प्रयोग हुआ है।

पूरे राज्य का शासन अलग-अलग ग्रामाधिपतियों के हाथ में रहता था।

ग्रामाधिपति का अर्थ देने वाले, खगिग्रो (2-69) ग्रामउटो, ग्रामगोही, ग्रामगी (2-89), गोही (2-89), जणउत्तो (3-52), सेग्रालो (8-58), मेही (8-42) आदि कई शब्द आये हैं। प्राचीन भारतीय शासन व्यवस्था में ग्रामआयुक्त का महत्त्वपूर्ण स्थान है। देशीनाममाला के समाज और उसमें आयी शासन व्यवस्था में सर्वत्र ग्रामाधिपति या ग्राम आयुक्त का ही बोल-बाला है। एक स्थान पर छल से ग्रामाधिपति का पद बारण करने वाले व्यक्ति को “ग्रामरोहो” (2-90) कहा गया है। राज्य-शासन की सुविधा के लिए कई ग्रामों का एक सभ बना दिया जाता था। इस ग्राम सभ के लिए “ऊरो (1-143) शब्द आया है। ग्रामाधिपति इसी सभ का प्रमुख अधिकारी होता था। प्रत्येक गाव की सीमा एक सीमाक्राण्ट गाड क अलग कर दी जाती थी, इसके लिए खोडो (2-80) शब्द आया है। एक अलग गाव के लिए ग्रामहण (2-90) तथा गाव में रहने वाले लोगों के लिए जगलविग्रो (3-44) शब्द आये हैं। गाव के शासक को मुखिया कहते थे। इसके लिए भी दो शब्द अडरः (1-16) और ओआग्रो (1-166) आये हैं। इन शब्दों के माध्यम में व्यवस्था होने वाली ग्रामव्यवस्था या राज्य शासन व्यवस्था प्राचीन भारत की राज्य-व्यवस्था व ग्राम व्यवस्था से पर्याप्त साम्य रखती है।

युद्ध या सुरक्षा-सामग्री

प्राचीन भारत के लिए युद्ध आये दिन, होने वाली वस्तु थी। देशीनाममाला में युद्ध के लिए आउर (1-65) और खम्मक्खम्मो (2-79) शब्द आये हैं। युद्ध में विपक्षी शत्रु के लिए कली और कलोलो (2-2) शब्द मिलते हैं। युद्ध में सुरक्षा हेतु किले का निर्माण भी होता था। गढो (2-81) शब्द इसी किले का वाचक है। युद्ध में धनुष-बाण और तलवार का व्यवहार होता था। इस कोश में धनुष के लिए गडीव (2-84) तथा तलवार के लिए टको (4-4) एव अणणो (1-12) शब्द आये हैं। युद्ध में पकड़े गये कैदी के लिए अवयड्दिय (1-46) शब्द व्यवहृत हुआ है। युद्ध में होने वाली पराजय के लिए अहिलिअ (1-57) तथा पराजित व्यक्ति के लिए अक्कत (1-16) शब्द आये हैं।

राजनीति एवं शासन व्यवस्था में सम्बन्धित ऊपर दी गयी शब्दावली प्राचीन भारतीय शासन व्यवस्था से संबद्ध हैं। तत्कालीन गुजरात भी बहुत कुछ इसी व्यवस्था को प्रश्रय देने वाला था, अतः इन शब्दों का सम्बन्ध तत्कालीन गुजरात की राजनीति एवं शासन व्यवस्था से भी स्थापित किया जा सकता है। इस प्रकार की शब्दावली “प्राचीन इतिहास” विषय के अनुसंधित्सुओं के लिए पर्याप्त उपयोगी है।

निष्कर्ष —

ऊपर “देशीनाममाला” की सांस्कृतिक शब्द संपत्ति का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया जा चुका है। इन शब्दों के माध्यम से जिस संस्कृति का परिचय मिलता है, वह युग-युगों से चली आने वाली भारतीय निम्न तथा निम्न मध्य-वर्गीय संस्कृति है। इसका किसी युग विशेष से सम्बन्ध स्थापित कर पाना एक असंभव कार्य है। देशीनाममाला की सांस्कृतिक शब्दावली इतनी विशाल है कि इसका अध्ययन एक अलग ही शोध प्रबन्ध का विषय हो सकता है।

‘देशी’ शब्दों का विवेचन

‘देशी’ शब्द का सामान्य अर्थ ग्राम्य या ‘प्रान्तीय’ है। भाषा के अर्थ में इसका प्रयोग प्राकृत व्याकरणकारों ने किया है। सस्कृत व्याकरणकारों ने किसी भाषा विशेष के अर्थ में इसका प्रयोग न कर ‘प्रान्त’ के अर्थ में किया था। पाणिनि की अष्टाध्यायी¹ में यद्यपि कई स्थान पर ‘देश’ शब्द है परन्तु वहाँ यह प्रान्तवाचक ही है। पाणिनि के पहले भी निरुक्तकार यास्क ने² ‘देश’ शब्द का प्रयोग प्रान्त के ही अर्थ में किया था। महाभारत³ में सर्वप्रथम ‘देश’ शब्द का प्रयोग ‘भाषा’ के साथ किया गया प्राप्त होता है। इसके बाद भरत ने ‘देश’ शब्द का प्रयोग अपने नाट्यशास्त्र में विभिन्न प्रान्तों में बोली जाने वाली बोलियों के अर्थ में किया—

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि देशभाषाविकल्पनम् ।

× × ×

अथवा अछन्त. कार्यं देशभाषा प्रयोक्तुम् ॥

नानादेशसमुत्थं हि काव्यं भवति नाटके ॥ 17।46

वात्स्यायन ने अपने कामसूत्र (1।4।50) विष्णुधर्मोत्तर तथा मृच्छकटिक (अ क 6, पृष्ठ 225) विशाखदत्त ने मुद्रारक्षस, वाराभट्ट ने कादम्बरी तथा घनजय ने अपने दशरूपक में नाना देशों में बोली जाने वाली भाषाओं को देशभाषा कहा है—

1 एहप्राचा देशे 1।1।75 तदस्मिन्नस्तीति देशं तन्नाम्नि 4।2।67

2 निरुक्त, अध्याय 2, पाद 1, दुर्गाचार्य एवं मोहरचन्द पुष्करिणी टीका

3 नाना चर्ममृगश्छिन्ना, नाना भाषाश्च भारत

कुशला देशभाषास्तु, जल्पतोऽन्योन्य ईश्वर.—महाभारत-शतपर्व, अध्याय 46

देशभाषा क्रियावेश लक्षणाः स्युः प्रवृत्तयः ।

लोकावेदागम्येता यथौचित्य प्रयोजयेत् ।

यद्देशनीच पात्र यद् तद्देश तस्य भाषितम् ॥ दशरूपक 2।58।61

घनजय स्पष्ट ही 'देशीभाषा' का प्रयोग निम्न श्रेणी के पात्रों की भाषा के लिये करते हैं ।

उपर्युक्त कुछ उल्लेखों से यह विदित होता है कि भिन्न भिन्न प्रान्तों व स्थानों में बोली जाने वाली भाषा देशभाषा कहलाती है तो क्या यह 'देशभाषा' ही देशी है ? इसका निश्चय करने के लिये प्राकृत वैयाकरणों द्वारा किये गये उल्लेखों का विवरण आवश्यक है ।

प्राकृत व्याकरणकारों ने प्राकृत भाषा में तीन प्रकार के शब्द बताये हैं ।

(1) तत्सम (2) तद्भव (3) देशज ।

(१) तत्सम .

ऐसे शब्द जो सीधे संस्कृत से बिना किसी रूपपरिवर्तन के प्राकृत ग्रन्थों में आ गये हैं, तत्सम कहलाते हैं । उन्हें संस्कृतसम (चण्ड 1।1 डे ग्रामटिकल प्राकृतिस पेज 80) तत्तुल्य (वाग्भट्टालकार 2।2) तथा समान (नाट्यशास्त्र 17।2) आदि सजाए भी दी गयी हैं ।

(2) तद्भव .

ऐसे शब्द जो रूप और ध्वनि परिवर्तन के कारण विकृत हो जाते हैं परन्तु यह विकार व्याकरण की प्रक्रिया के आधार पर होता है । उन्हें 'तद्भव' कहा गया है । इसके भी विभिन्न नाम हैं जैसे—हेमचन्द्र (1।1) तथा चण्ड इसे 'संस्कृतयोनि' कहते हैं । वाग्भट्ट ने ऐसे शब्दों को 'तज्ज' कहा है । भरत ने (नाट्यशास्त्र 17।3) इसे 'विभ्रष्ट' सजा दी है ।

(3) देशी :

ऐसे शब्द जो बहुत अनादिकाल से बोलचाल में व्यवहृत होते आये हैं और जिनकी व्युत्पत्ति व्याकरणालम्ब्य नहीं है—'देशी' शब्द कहलाते हैं । हेमचन्द्र त्रिविक्रम सिंह राज मार्कण्डेय तथा वाग्भट्ट ने ऐसे शब्दों को देश्य या देशी¹ नाम दिया है । चण्ड (प्राकृत लक्षणा) ने इसे देसी प्रसिद्ध तथा भरत ने 'देशीमत'² नाम दिया है ।

1. देशीनाममाला, प्र० 1, 2 दण्डिन और घनिक ।

2. नाट्यशास्त्र 17।3

शब्दों के इन तीन प्रमुख विभाजनों के अतिरिक्त कुछ विदेशी विद्वानों ने उनके उपविभाग भी किये हैं। शब्दों की दूसरी कोटि 'तद्भवों' को दो भागों में विभाजित किया गया। (1) साध्यमान सस्कृतभवा (2) सिद्ध सस्कृत भवा। पहले वर्ग में वे प्राकृत शब्द आते हैं जो उन सस्कृत शब्दों का जिनसे वे प्राकृत शब्द निकले हैं, बिना उपसर्ग या प्रत्यय के मूल रूप बताते हैं। इनमें विशेषकर शब्द रूपावली और विभक्तियाँ आती हैं जिनमें वह शब्द व्याकरण के नियमों के अनुसार बनाया जाता है उसे ही 'माध्यमान तद्भव' कहते हैं। बीम्स¹ इसे ही आदि तद्भव (Early Tadbhava) कहते हैं। दूसरे वर्ग में वे शब्द आते हैं जो सस्कृत व्याकरण में सिद्ध सस्कृत रूपों से निकले हैं। जैसे अर्धमागधी वन्दित्ता सस्कृत वन्दित्वा का विकृत रूप है।²

प्राकृत व्याकरणकारों और अन्य ग्रन्थकारों द्वारा किया गया प्राकृत शब्दों का यह विभाजन बहुत कुछ उनके पारम्परिक रूढ़िवादी दृष्टिकोण पर आधारित है। इनकी दृष्टिमान्यता है कि 'प्राकृत' सस्कृत से निकली है। 'तत्' शब्द के प्रयोग द्वारा उन्होंने 'सस्कृत' को ही मूल में रखा है। सस्कृत और उससे लिये गये शब्द तत्सम और उन्मेषे निवृत्त प्राकृत दोनों के व्याकरणिक नियमों से परे रहने वाले शब्द 'देश्य' या 'देशी' कहे गये। परन्तु यह रूढ़िवादी दृष्टिकोण 'देशी' शब्दों के वास्तविक स्वरूप उनके उद्भव और विकास का ज्ञान कराने के लिये पर्याप्त नहीं है। न तो प्रान्तीय भाषाएँ शुद्ध रूप से वैज्ञानिक अर्थ में 'देशी' ही कही जा सकती हैं और न अन्य साहित्यिक भाषाएँ 'देशी' शब्दों की सीमा के परे ही कही जा सकती हैं। अब हमें देखना यह है कि 'देशी' शब्द वास्तविक रूप में हैं क्या? और प्राकृतों में इनका प्रचार कैसे हुआ।

देशी शब्दों का स्वरूप विभिन्न मतः

'देशी' शब्दों के अन्तर्गत प्रायः विद्वानों ने ऐसे शब्द रखे हैं जिनका मूल सस्कृत में नहीं मिलता और जो साहित्यिक भाषाओं से परे सामान्य जनता के बीच युगयुगों से व्यवहृत होते आ रहे हैं। परन्तु इन शब्दों के विवेचन में सभी विद्वान् अलग-अलग धारणाएँ रखते हैं। 'देशी' शब्दों का सबसे बड़ा कोश आचार्य हेमचन्द्र की 'देशीनाममाला' है यदि इसे ही ध्यान से देखा जाये तो देशी शब्दों के बारे में एक भ्रान्त धारणा उठ खड़ी होती है। इससे अन्तर्गत अनेकों ऐसे शब्द हैं जो तत्सम और तद्भव होते हुए भी देशी मान लिये गये हैं। सस्कृत भाषा का शब्द भंडार अत्यन्त

1. कैम्बेरेटिव ग्रामर 1:37

2. पिथेल की हे० च० के सूत्र 1:1 पर टीका

विस्तृत है यह एक व्यक्ति या छोटे-मोटे समूह के भी वश की बात नहीं है कि वह समस्त शब्दों का ज्ञान प्राप्त कर यह निर्णय दे सके कि अमुक अमुक शब्द संस्कृत में नहीं हैं। यही कारण है कि देशी शब्दों के विवेचन के बीच ऐसे शब्द आ गये हैं जो विशेषतः संस्कृत के मूल तक पहुँचते हैं।¹ इस प्रकार परम्परा में जितने भी 'देशी' शब्दों का आख्यान किया गया है वे सभी विवाद में भरे हुए हैं। 'देशी' शब्दों के वास्तविक स्वरूप का विवेचन पूरी आर्य-भाषा के विकास का आलोड़न करने के बाद ही किया जा सकता है।

स्वरूप की दृष्टि से 'देशी' शब्द जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है प्रादेशिक शब्दों के वाचक रहे होंगे। आगे चलकर धीरे-धीरे इन्हें साहित्यिक भाषाओं में स्थान मिलने लगा होगा क्योंकि साहित्यिक भाषाएँ सदैव से लोक जीवन से प्राण और जीवनी शक्ति ग्रहण करती आयी हैं। इसी प्रक्रिया में युग-युगों में जनता के बीच प्रचलित शब्द प्राकृतों और अपभ्रंशों के रास्ते संस्कृत कोशों और घातुपाठ आदि में ले लिये गये होंगे। इस प्रकार ग्रहण किये गये शब्दों को संस्कृत शब्दावली के बीच ढूँढ़ पाना सर्वथा असम्भव है क्योंकि इनमें संभव है कि कुछ अनार्य भाषाओं तथा मूल आर्यभाषा² के शब्द आ गये हों। रुद्रट के 'काव्यालकार' 2।12 की टीका में नमिसाधु ने प्राकृत की एक व्युत्पत्ति दी है, जिसमें उमने बताया है कि प्राकृत तथा संस्कृत दोनों ही की आवारभूत भाषा प्राकृत अर्थात् मानव जाति की सहज बोलचाल की भाषा है जिसका व्याकरणिक नियमों से बहुत कम सम्बन्ध है। आर० पिणेल नमि साधु के इस मत को अमूर्ण वताते हुए इस सम्बन्ध में सेनार³ द्वारा दिये गये मत का समर्थन करते हैं। 'प्राकृत भाषा की जड़ जनता की बोलियों के बीच जमी हुई है और इनके मूलतत्त्व आदि काल में जीती जागती और बोली जाने वाली भाषा से लिये गये हैं, किन्तु बोलचाल की वे न पाएँ, जो बाद में साहित्यिक भाषाओं के पद पर चढ़ गयी संस्कृत की भाँति ही बहुत ठोकी पीटी गयी, ताकि उनका एक सुगठित रूप बन जाये।'⁴ पिणेल की यह महति नमिसाधु की मान्यता से अधिक दूर नहीं दिखायी देती। यह बात तो सर्वथा सत्य ही है कि साहित्यिक भाषाएँ लोकप्रचलित भाषाओं

1. हेमचन्द्र जोशी—प्राकृत भाषाओं का व्याकरण हिन्दी अनुवाद, पृ० 13

2. मूल अथवा आदि आर्य भाषा वह है जिसके कृष्ट रूप 'आर्य' बताये जाने वाले वैदिक रूपों में मिलने हैं और जिन्हें वास्तव में आदि आर्य अपने मूलदेश में, वहाँ में उधर-उधर विचरने के पहले बोलते रहे होंगे।
—हेमचन्द्र जोशी, वही, पृ० 14

3. हेमचन्द्र जोशी, वही पृ० 14

4. हेमचन्द्र जोशी प्राकृत भाषाओं का व्याकरण-हिन्दी अनुवाद, पृ० 14

ते शब्दों को प्रयोग कर उनके अपने अनुगत राज वैली है । धीरे-धीरे उन शब्दों का रूप उनमें मिल जाता है । शब्दों का उन प्रकार का स्वरूप परिवर्तन पाणिनि की भाषाशास्त्रों में भी विमर्शित मिल जा सकता है । देशी शब्दों में त्रियापदों की परिभाषा है । वह निम्न में आठवाँ में मिली मिलती पावतु है जो मन्त्र की धातुओं के रूप में छिपे हैं । पाणिनि ने उनका प्रत्यादि द्वारा रूप भी निर्मित किया है । फिर भी वे रूप मन्त्रों में प्रचलित नहीं रहे । उनके विपरीत इन्हीं धातुओं में निम्न में छिपी पावतु श्लोकभाषाओं के माध्यम से चलती हुई राज की भाषाओं में प्रचलित है । यही निम्न शब्द विकसित होने वाली प्राकृत और अपभ्रंश वैसी भाषाएँ हैं जिनका भी नाम है । इन भाषाओं के व्याकरण ग्रन्थों में भी देशी शब्दों का इन्हीं प्रकार की परिभाषा मिली जाती है । परन्तु इनमें उनका स्वरूप स्पष्ट ही परिवर्तित हो जाता है । निम्न में भाषा 'देशी' शब्दों के विकास के अनुरूप ही एक भाषाशास्त्र भाषाशास्त्र में उदयर विकसित हुई है । यही कारण है कि उन दोनों में 'देशी' शब्दों की भरमार है ।

भाषाशास्त्र भाषाशास्त्रों की मुख्यान्त परम्परा के बीच साहित्यिक संस्कृत ही एक ऐसी भाषा है जो लोकतन्त्र तो न स्वीकार करते हुए अपनी साहित्यिक ऊँचाई का निर्माण करती है वरन् देशी भाषा भी वास्तव में लोक में प्रचलित शब्दावली में पूर्ण है । इन दोनों के लिए घोटक और घन्य, कुत्ते के लिए कुतकुर और श्वान, दिव्य के लिए दिव्य और मार्जरी, भानु के लिए भल्लूक और ऋक्ष साथ-साथ पदों हैं । इन शब्दों की निम्न और ग्रन्थान्त आर्थप्रयोग यह सिद्ध कर देते हैं कि वैदिक राज में ही भाषा में 'देशी' शब्दों का प्रचलन हो चला था । उपर्युक्त उदाहरणों में आये हुए पाटल, दिव्य, कुतकुर तथा भल्लूक शब्द मुनिचित ध्वन्यात्मक परिवर्तनों के साथ आज भी लोक भाषाओं में प्रचलित हैं । इनके पर्यायवाची ऋक्षादि संस्कृत भी अपनी सम्पत्ति तब भी थे और आज भी ज्यों के त्यों हैं । आगे चलकर लोक भाषाओं के महारे विकसित होने वाली पाति तथा प्राकृत (अपभ्रंश भी) भाषाएँ वैदिक भाषा के अधिक समीप हैं । इस प्रकार 'देशी' शब्दों का प्रादुर्भाव सामान्य जनता की बोलचाल की भाषाओं से हुआ होगा । इनका विकास प्रकृत (स्वाभाविक) रूप में युग-युगों में होना चला आया है । इस विषय में नमिसाधु¹ का कथन बहुत कुछ सत्य भी प्रतीत होता है । 'देशी' शब्दों का प्राकृतों से घनिष्ठतम सम्बन्ध है अतः 'प्राकृत' शब्द पर विचार कर लेना अवसर लभ्य एवं समीचीन होगा ।

1. देखिये-प्राकृत भाषाओं का व्याकरण-हिन्दी अनुवाद, हे0 जो0 फुटनोट, पृ. 65-66 ।

2. नमिसाधु-भाष्यान्तकार 2।12 की टीका

प्राकृत तथा 'देशी'

भाषावाची 'प्राकृत' शब्द 'प्रकृति' से निर्मित है। इस 'प्रकृति' शब्द की व्याख्या में विद्वानों में बहुत बड़ा मतभेद है। कुछ विद्वान् इसका अर्थ 'मूलभाषा' करते हैं और कुछ 'मूल' अर्थात् संस्कृत के आधार पर विकसित भाषा मानते हैं। भारतीय विद्वत्परम्परा इसी विश्वास को मानकर चली है कि मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाएँ (पालि, प्राकृत, अपभ्रंश) संस्कृत में ही विकसित हुई हैं। यही कारण था कि अधिकतर प्राकृत व्याकरणकारों जैसे हेमचन्द्र, मार्कण्डेय, वनिक, मिह्रदेव गणिकादि ने प्राकृत भाषाओं का मूल उद्गम संस्कृत को माना। प्राकृत व्याकरणकारों में सर्वप्रमुख हेमचन्द्र का कथन है —

प्रकृति संस्कृतम् । तत्रभवत् आगतम् वा प्राकृतम् । संस्कृतानन्तर प्राकृतमविक्रियते । संस्कृतानन्तर च प्राकृतस्यानुशासनं सिद्धसाध्यमानं भेदं संस्कृतयोरेव तस्य लक्षणं न देश्यस्य इति ज्ञापनार्थम् ॥¹

'प्रकृति संस्कृत' है। इस संस्कृत से आयी हुई भाषा प्राकृत है। संस्कृत के पश्चात् प्राकृत का अधिकार आरम्भ होता है। प्राकृत में जो शब्द संस्कृत से मिश्रित हैं उनको संस्कृत के समान ही जानना चाहिए। प्राकृत में तद्भव दो प्रकार के हैं—साव्यमान संस्कृत भव, सिद्ध संस्कृत भव। यह प्राकृत का अनुशासन इन दोनों प्रकार के शब्दों का ही प्रतिपादक है। देश्य का नहीं।

हेमचन्द्र के इसी मत का समर्थन मार्कण्डेय² दशरूपक के टीकाकार वनिक,³ कर्पूर मज्जरी के टीकाकार⁴ वामुदेव, पद्मभाषाचन्द्रिका के रचयिता लक्ष्मीधर,⁵ वाग्भट्टालंकार⁶ के टीकाकार सिंहदेवगणिका, 'प्राकृत शब्द प्रदीपिका' के रचयिता नरसिंह, गीतागोविन्द की 'रसिकसर्वस्व' टीका के रचयिता नारायण एवं अभिज्ञानशाकुन्तल के टीकाकार शंकरादि ने भी किया है। वास्तव में इन विद्वानों का सारा प्रयास संस्कृत के माध्यम से प्राकृतों को समझाना था इसी कारण संस्कृत का आधार लेते-लेते वे स्वाभाविक रूप से विकसित प्राकृत भाषाओं को संस्कृत की विकृति बता गये।

प्राकृत व्याकरणकारों और अलंकारशास्त्रियों द्वारा किया गया यह विवेचन स्वाभाविकता से बहुत दूर जा पड़ता है। ऊपर दिये गये विद्वानों के मत का फलितार्थ निकालते हुए डा० नेमिचन्द्र लिखते हैं⁷—

- 1 सिद्धहेमचन्द्रानुशासन 8।1।1—'अथप्राकृतम्'।
- 2 प्रकृति संस्कृत । तत्रभवत् प्राकृतमुच्यते ॥ प्राकृतमवस्व ॥।
- 3 प्रकृत, आगत प्राकृत । प्रकृति, संस्कृतम् । दशरूपक परि० 2 श्लोक 60 की व्याख्या
- 4 प्रकृतस्यैव सर्वमेव संस्कृतं योनिः । 9।2 सजीवनी टीका
- 5 प्रकृतं संस्कृतयाम्बु विकृतिः प्रकृतीमता । पृ० च०, पृ० 4 श्लोक 25
- 6 प्रकृतं संस्कृताद् आगतप्राकृतम् ॥ वाग्भट्टालंकार—2।2। की टीका
- 7 डा० नेमिचन्द्र शास्त्री, प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० 13

‘1. प्राप्त भाषा की उत्पत्ति संस्कृत से नहीं हुई है, किन्तु’ प्रकृति संस्कृतम्’ का अर्थ है कि प्राकृत भाषा को सीखने के लिये संस्कृत शब्दों को मूलभूत रखकर उनके मात्र उच्चारण भेद के कारण प्राकृत शब्दों का जो साम्य-वैषम्य है, उसको सिगाना अर्थात् संस्कृत भाषा के द्वारा प्राकृत भाषा को सीखने का यत्न करना। इसी आशय से हेमचन्द्र ने संस्कृत को प्राकृत की योनि कहा है।

2. संस्कृत या प्राकृत भाषा के बीच किसी प्रकार का कार्य कारण या जन्यजनक भाव है ही नहीं। ये दोनों भाषाएँ सहोदराएँ हैं। दोनों का विकास किसी अन्य स्रोत से होता है, यह स्रोत छान्दस¹ ही है।

3. उच्चारण भेद के कारण संस्कृत और प्राकृत में अन्तर हो जाता है। परन्तु अन्तर में इन दोनों भाषाओं को बिल्कुल भिन्न नहीं माना जा सकता। जननाधारण प्राकृत का उच्चारण करते हैं पर संस्कारापन्न नागरिक संस्कृत का। अतः संस्कृत को प्राकृत की योनि इसी अर्थ में कहा गया है कि शब्दानुशासन से पूर्णतया अनुशासित संस्कृत भाषा के द्वारा ही प्राकृत के तद्भव शब्दों को सीखा जा सकता है। वस्तुतः संस्कृत और प्राकृत एक ही भाषा के दो रूप हैं।’

सारांश यह है कि प्राकृत वैयाकरणों तथा अन्य विद्वानों द्वारा विवेचित और संस्कृत को प्रकृति मानकर चलने वाली ‘प्राकृत’ भाषा की कल्पना बहुत वाद की वस्तु है। वास्तव में ‘प्राकृत’ तो वह भाषा है जो बहुत अनादि काल से जन-सामान्य की भाषा रही है। यह वैदिककाल में भी थी। साहित्यिक संस्कृत के युग में भी इसका प्राधान्य रहा और फिर एक समय वह भी आया जब यह संस्कृत का सहारा लेकर साहित्यिक भाषा भी बन गयी। हेमचन्द्र प्रभृति प्राकृत वैयाकरणों ने इसी साहित्यिक प्राकृत को संस्कृत से उद्भूत बताया है। यहाँ उनका आशय जन-सामान्य के बीच प्रचलित प्राकृत से नहीं है। वे अपने प्राकृत शब्दानुशासन में कहते भी हैं—“यहाँ सिद्ध और साध्यमान संस्कृत भव शब्दों का विवेचन है, देश्य का नहीं। देश्य से उनका अभीष्ट अर्थ जन सामान्य में प्रचलित भाषा से ही होगा। इसी कारण उन्होंने आगे चलकर ‘देशी शब्दों’ का आख्यान एक अलग संग्रह ग्रंथ ‘देशीनाममाला’ के अन्तर्गत किया है। वास्तविक ‘प्राकृत’ तो वह थी जिसका विवेचन नमिसाधु ने रुद्रट के काव्यालंकार के श्लोक² की टीका में किया था.—

1. ‘छान्दस्’ या आप्य या प्राचीन वैदिक कविता की भाषा, जो प्राचीनतम भारतीय-आर्यभाषा का साहित्यिक रूप थी और जिसका ब्राह्मण लोग पाठशालाओं में अध्ययन करते थे।

— भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, पृ. 75 चटर्जी

2. प्राकृतसंस्कृतमागधपिशाचभाषाश्च शौरसेनी च।
पठोऽत्र भूरि भेदो देशविशेषादपभ्रशः।

‘प्राकृतेति सकल जगज्जन्तूना’ व्याकरणादिभिरनाहित सस्कार सहजोवचन व्यापार. प्रकृति, तत्रभव सैव वा प्राकृतम् ।’ आरिभयवर्णोसिद्ध देवाण अद्वमाग हा वाणी ‘इत्यादिवचनाद् वा प्राक् पूर्व’ कृत प्राक्कृत वालमहिलादि सुबोध सकलभाषा-निबन्धभूत वचनमुच्यते । मेघनिर्मुक्तजलमिवैकस्वरूप तदैव च देशविशेषात् सस्कारणा-च्च समासादित सस्कृताद्युत्तरविभेदानाप्नोति । अतएव शास्त्रकृता प्राकृतमादौ निर्दिष्ट तदनु सम्कृतादीनि । पाणिन्यादिव्याकरणोदितशब्दलक्षणैः सम्स्कारणात् सस्कृतमुच्यते ।’

‘प्राकृत शब्द का अर्थ है, लोगो का व्याकरण आदि के सस्कारो से रहित स्वाभाविक वचन व्यापार, उससे उत्पन्न अथवा वही प्राकृत है ।’ प्राक् कृत’ शब्द से प्राकृत बना है और इसका अर्थ है पहले किया गया । द्वादशाङ्ग ग्रन्थो मे ग्यारह अ ग ग्रंथ पहले किये गये हैं और इन ग्यारह अ ग ग्रंथो की भाषा ‘आर्षवचन’ सूत्र अर्षमागधी कही गयी है जो बालक, महिला आदि को मुबोध, सहजगम्य है और जो सकल भाषाओ का मूल है । यह अर्षमागधी भाषा ही प्राकृत है । यही प्राकृत मेघ युक्त जल की तरह पहले एक रूपवाली होते हुए भी देशभेद से सस्कार करने से भिन्नता को प्राप्त करती हुई अर्थात् अर्द्ध मागधी प्राकृत से सस्कृत और अन्यान्य प्राकृत भाषाओ की उत्पत्ति हुई है । इसी कारण से मूल ग्रन्थकार रुद्रट ने प्राकृत का पहले और सस्कृत आदि का बाद मे निर्देश किया है । यही पाणिन्यादि के व्याकरण ग्रन्थो मे सस्कार पाने के कारण सस्कृत कहलाती है ।’

‘प्रसिद्ध प्राकृत काव्य ‘गउडवहो’ के रचयिता वाक्पतिराज ने भी प्राकृत को ही ममस्त भाषाओ का उद्गम स्थान माना है —

सयलाओ डम वाया विसति एत्तोय एँतिवायाओ ।

ए ति समुद् चिय एँति सायराओच्चिय जलाइ ॥

‘जिस प्रकार जल समुद्र मे प्रवेश करता है-और समुद्र से ही वाष्प रूप से बाहर निकलता है, इसी तरह प्राकृत भाषा मे सब भाषाए प्रवेश करती हैं और इस प्राकृत भाषा मे ही सब भाषाए निकलती हैं ।’ ‘डम का यही आशय है कि ‘प्राकृत’ आदि भाषा थी । सस्कृतादि भाषाओं का विकास इन प्राकृतो का परिष्कार करके किया गया न कि ये सस्कृत से स्वयं विकृत हुई । तबम् षाती के प्रसिद्ध कवि राजशेखर भी अपनी बाल रामायण¹ मे कहते हैं — ‘ये यद्योनि किल सस्कृतस्य सुदशा जिह्वामुयन्मोदते ।’ यहा इन्होंने प्राकृत को ही सस्कृत की योनि बताया है । इन्ही विद्वानो की परम्परा मे कुछ विदेशी विद्वान् भी प्राकृतो को उन्मुक्त रूप से युगयुगो

में स्वानुरूप विकास प्राप्त करने वाली भाषाएँ बताते हैं। एल्फोर्ड सी, वुलनर¹ प्राकृत भाषाओं को स्वाभाविक रूप में 'विकसित' मानते हैं। उनका मन्तव्य है कि प्राकृतों साधारण लोगों के बोलचाल की भाषाएँ थी और संस्कृत पढ़े-लिखे शिक्षित वर्ग की भाषा थी। प्राकृत का सम्बन्ध साहित्यिक संस्कृत की अपेक्षा 'छान्दस्' से अधिक है। वैदिक 'छान्दस्' भाषा की प्रकृति से प्राकृतों की प्रकृति कुछ मिलती जुलती हुई है।²

डा० पिनेन³ भी जनता की भाषा को ही मूल प्राकृत के रूप में मानते हैं। उनका कथन है "प्राकृत भाषाओं की जड़ें" "जनता की बोलियों के भीतर जमी हुई हैं और इनके मुख्य तत्त्व आदिकाल में जीती जागती और बोली जाने वाली भाषा से लिये गये हैं, किन्तु बोल-चाल की वे भाषाएँ जो बाद में साहित्यिक भाषाओं के पद पर प्रतिष्ठित हुईं संस्कृत की भाँति ही बहुत ठोकी पीटी गयी, ताकि उनका एक सुगठित रूप बन जाये।"

हिन्दी के प्रसिद्ध भाषा वैज्ञानिक डा० हरदेव बाहरी³ भी प्राकृतों को वैदिक तथा साहित्यिक दोनों ही संस्कृतों की जननी मानते हैं —

"प्राकृतों ने वेद की साहित्यिक भाषा का विकास हुआ, प्राकृतों से संस्कृत का विकास भी हुआ और प्राकृतों से इनके अपने साहित्यिक रूप भी विकसित हुए।" सर जार्ज ग्रियर्सन ने भी प्राकृतों को वैदिक संस्कृत के समानान्तर ही सामान्य लोगों के बीच बोली जाने वाली भाषा के रूप में स्वीकार किया है। वे कहते हैं।⁴—

"From the inscription of Ashoka (Circa-250 B C) and from the writings of grammarian Patanjali (Circa-150 B C.) we learn that by third century before our era an Aryan Speech (in several dialects) was employed in the north of India and having gradually developed from the ancient vernaculars spoken during the period in which vedic hymns were composed, was the ordinary language of mutual intercourse Parallel with it the so called classical Sanskrit had developed from one of these dialects, under the influence of the Brahman's as the secondary language, and had achieved a

1 एल्फोर्ड सी वुलनर 'इण्डोइयन टू प्राकृत' पंजाब विश्वविद्यालय-लाहौर, द्वारा प्रकाशित द्वितीय संस्करण 1928, पृ 3-4।

2 आर्य विश्व द्वारा लिखित 'प्राकृत भाषाओं का व्याकरण', पृ 14-राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना।

3 प्राकृत भाषा और उसका साहित्य डा० हरदेव बाहरी, राजकमल, प्रका. प्र स पृ 13

4 'लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इण्डिया' इण्डोइयन, I पी. 121

position much the same as that of latin of the middle ages. For centuries the Aryan Vernacular language of India has been called Prakrit, Prakrit i.e. the natural, unartificial language as opposed to Sanskrit the polished, artificial language. From this definition of the term 'Prakrit' it follows that the vernacular dialects of the period of the vedic hymns as compared with the comparatively artificial Sanskrit language of these hymns as they have been preserved by the Brahmans who compiled them were essentially Prakrits and as such they may be called the 'Primary Prakrits' of India

इस प्रकार जार्ज ग्रियर्सन तीन प्रकार की प्राकृतों की कल्पना करते हैं। प्राथमिक प्राकृत द्वितीय प्राकृत और तृतीय प्राकृत। प्राथमिक प्राकृत की स्थिति वे पूर्व उल्लिखित "छान्दस्" के मूल में मानते हैं। द्वितीय प्राकृत वे साहित्यिक प्राकृतों को बताते हैं जिन्हें हेमचन्द्रादि प्राकृत व्याकरणकार "प्रकृति सम्कृत। तत्रभव तत् आगतम्" आदि कहकर परिभाषित करते हैं। तृतीय प्राकृत आधुनिक आर्य भाषाओं के मूल में देखी जा सकती है। यहाँ हमारा अभीष्ट केवल प्राथमिक प्राकृत से है। यह प्राकृत आर्यों के भारत में बसने के पहले से जो भाषा बोली जाती रही होगी उसमें भी समाहित की जा सकती है। आगे विकसित होने वाली साहित्यिक भाषाओं में पायी जाने वाली शब्दावली निश्चित ही इसी बोलचाल की प्राथमिक प्राकृत से सम्बन्धित है। ये शब्द आर्य तथा अनार्य दोनों ही वर्गों की शिक्षित जनता की भाषा में व्यवहृत होते रहे होंगे। इस आशय का प्रमाण हमें वेदों की भाषा से भी मिल जाता है। ऋग्वेद की भाषा अधिक साहित्यिक है इसके विपरीत अथर्ववेद की भाषा¹ इन बोलचाल की भाषा के तत्त्वों से भरी हुई है। वैदिक या छान्दस् भाषा के समानान्तर लोक प्रचलित प्राकृत भाषाएँ विकसित होती जा रही थीं। अनेकों वैदिक रूप जनभाषा के तत्त्वों से प्रभावित देखे जा सकते हैं।²

1. अथर्ववेद की दृष्टि ऋग्वेद से निगली है, रोज व रोज के रीतिरिवाज और जीवा व्यवहार की बातें और मान्यताएँ उसमें ठीक ठीक प्रतिबिम्बित होती हैं। समग्र दृष्टि में अथर्ववेद के कुछ अथवा ऋग्वेद के समकालीन तो हैं ही, फिर भी अथर्ववेद के शब्द और शब्दप्रयोग ऋग्वेद में काफी निराले हैं। जिन शब्दों को ऋग्वेद में स्थान नहीं, वे शब्द अथर्ववेद में व्यवहृत होते हैं।
—डा प्रबोध वैचारदाम पंडित-प्राकृत भाषा, पृ 13

2. सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या द्वारा लिखित 'भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी', द्वितीय स., पृ 74, पृ 71, 72 भी।

ब्राह्मण साहित्य में तो स्पष्ट ही तीन "देश्य" भाषाओं या विभाषाओं का उल्लेख हुआ है। (1) उदीच्या (2) मध्यदेशीया (3) प्राच्या। उदीच्या विभाषा, उस काल की परिनिष्ठित भाषा थी। इसका केन्द्र सप्तसिन्धु प्रदेश था। इसी में ब्राह्मण आरण्यक तथा उपनिषदों आदि की रचना हुई। मध्यदेशीया विभाषा का रूप स्पष्ट नहीं है। "प्राच्या भाषा आधुनिक अवध-पूर्वी उत्तर प्रदेश एवं बिहार प्रदेश में बोली जाती थी। यह असंस्कृत एवं विकृत भाषा थी इसमें द्रविड एवं मृण्ड भाषा के तत्वों का पूर्ण मिश्रण विद्यमान था। इस भाषा के बोलने वाले ऐसे लोग थे जिनका विश्वास यज्ञीय संस्कृति में नहीं था। इसी कारण उन्हें द्रात्य कहा जाता था। इन द्रात्यों का सामाजिक एवं राजनैतिक संगठन भी उदीच्य आर्यों की अपेक्षा भिन्न था। बुद्ध और महावीर इन्हीं आर्यों में से थे। उन दोनों ने सामाजिक क्रान्ति के साथ मातृभाषा को समुचित महत्त्व दिया।"¹ ताण्ड्यब्राह्मण² में द्रात्यों का उल्लेख हुआ है वहाँ कहा गया है कि द्रात्य³ लोग उच्चारण में सरल एक वाक्य को कठिनता से उच्चारणीय बतलाते हैं यद्यपि वे दीक्षित नहीं हैं फिर भी दीक्षा पाये हुए की भाषा बोलते हैं।

इन प्रकार बहुत प्रारम्भिक काल से ही आर्य भाषाओं (साहित्यिक) में लोक या देश्य तत्त्व स्थान पाते आये हैं। महावीर तथा बुद्ध ने इन्हीं जन-भाषाओं का महारा लेकर अपने धर्मों का प्रचार किया। इन दोनों क्रान्तिकारी महापुरुषों के कुछ समय बाद ही उदीच्य में एक ऐसी शक्तिशालिनी प्रतिभा से युक्त व्यक्तित्व का उदय हुआ जिसने समस्त लौकिक तथा साहित्यिक भाषाओं के तत्वों का एकत्र समाहार कर एक सर्वथा नवीन भाषा का निर्माण कर दिया जो युग-युगों से देवभाषा के पद पर विभूषित चली आ रही है। यह महान् कार्य शालातुर निवामी महर्षि पारिणि के हाथों सम्पन्न हुआ। उन्होंने भाषा परिष्कार के उद्देश्य को सामने रख कर साहित्येतर अर्थात् जनभाषा में प्रचलित शब्दों के रूपों का भी

1 डा. नेमिचन्द्र शास्त्री 'प्राकृत भाषा और साहित्य का इतिहास' पृ. 5, तारा पब्लिकेशन कमिटी, वाराणसी से प्रकाशित।

2 अद्वयतन्त्रय द्वातमाह्व अदीक्षिता दीक्षितवाचवदन्ति। ताण्ड्यब्रा० 17/4॥

3 'उपनयनादि में हीन मनुष्य द्रात्य कहलाता है। ऐसे मनुष्यों को लोग वैदिक कृत्यों के लिये अनधिकारी और सामान्यतः पतित मानते हैं। परन्तु यदि कोई द्रात्य ऐसा हो जो विद्वान् और तपस्वी हो तो ब्राह्मण उससे भले ही द्वेष करें, परन्तु वह सर्वपूज्य होगा और देवाधिदेव परमात्मा के तुल्य होगा।'

—डा. सम्पूर्णानन्द द्वारा सम्पादित द्रात्यकाण्ड भूमिका, पृ. 2 प्र संस्करण, डा. नेमिचन्द्र शास्त्री 'प्राकृतभाषा और साहित्य का इतिहास', पृ. 6 की पादटिप्पणी 2 से उद्धृत।

परिष्कार कर दिया। इतना हो जाने पर यद्यपि साहित्यिक संस्कृत अपने मुगठित रूप के कारण अत्यन्त प्रभावशालिनी बनी रही फिर भी जनभाषाओं का विकास अपनी स्वाभाविक रीति के होता रहा और समय-समय पर इनमें प्रचलित शब्द साहित्यिक भाषाओं की निधि बनते गये। शुद्धता पर अधिक बल देने वाली साहित्यिक संस्कृत में ये तत्व कम आये। लेकिन इसका महारा लेकर आगे साहित्यिक भाषा के रूप में प्रतिष्ठित होने वाली प्राकृत और अपभ्रंश भाषाएँ इन जनभाषा के तत्वों या देशी शब्दों के बाहुल्य को वचा न सकी। प्रकृति, स्वरूप और मगठन सभी दृष्टियों से “छान्दस” भाषा के समीप रहने वाली ये मध्यकालीन आर्यभाषाएँ संस्कृत से मात्र विषय वस्तु ही ले सकी। इनके समस्त निर्माण में जन भाषाओं का बहुत अधिक योग रहा। मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं में पाये जाने वाले ये ही तत्व “देशी” कहे जाने चाहिए। युग-युगों से सामान्य लोगों के बीच में प्रचलित होने के कारण इनकी व्युत्पत्ति देना भी अत्यन्त कठिन कार्य है। ऐसे तत्वों में आर्य और आर्यतर दोनों ही प्रकार के तत्व सम्मिलित हैं। अब तक हुए अध्ययनों से यह सिद्ध हो चुका है कि साहित्यिक भाषाओं में पाये जाने वाले ऐसे तत्व निश्चित ही कोल, सथाल, निपाद, द्रविड आदि जातियों की भाषा से लिए गये होंगे।

अस्तु! सारांश रूप में यह कहा जा सकता है कि देशी “शब्दों” का, सामान्य जन भाषा, जो कि बहुत प्राचीन काल से व्यवहार में चली आ रही है, अत्यन्त निकट का सम्बन्ध है। अशिक्षित जनता के बीच में व्यवहृत होते रहने के कारण इन्हीं नियमित साहित्यिक भाषाओं (विशेषतः संस्कृत) में कम ध्यान दिया गया। परन्तु जनभाषा का प्रश्रय लेकर विकसित होने वाली साहित्यिक भाषाओं में इन्हें बहुतायत से प्रयोग किया गया। प्राकृत एक ऐसी ही जनभाषा थी जिसकी देशी शब्दों में निकट का सम्बन्ध भी है अतः “देशी” शब्दों को इसमें विशेष रूप में प्रश्रय मिला। संस्कृत-विद्वानों के लोकभाषाओं से प्रति घृणापूर्ण दृष्टिकोण में परे प्राकृत और इसी के अन्तिम विकसित रूप अपभ्रंश¹ के कवियों तथा चिन्तकों ने प्रायः अपनी भाषा को “देशी”² ही बताया है। प्राकृतों से भी कही अविक “देशी” शब्द अपभ्रंशों में पाये जाते हैं। अतः इन दोनों के आपसी सम्बन्ध पर विचार कर लेना भी समीचीन होगा।

“अपभ्रंश और देशी”

अपभ्रंश का “भाषा” के रूप में सर्वप्रथम उल्लेख महामाष्य में प्राप्त होता

1 अधिकतर विद्वान् ‘अपभ्रंश’ को प्राकृत का एक भेद ही मानते हैं। इन पंक्तियों के लेखक की भी सम्मति इन्हीं विद्वानों के साथ है।

2 प्राकृत के कवि भी अपनी भाषा को प्रायः ‘देशी’ ही कहते हैं।

है। वहाँ महर्षि पतंजलि बताते हैं कि — एक ही शब्द (संस्कृत) के अनेको अपभ्रंश भी होते हैं जैसे संस्कृत गो का अपभ्रंश गावी, गोणी, गोना, गोपोतालिका आदि मिलता है — “एकस्यैवशब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः। तद्यथा गौरित्यस्य गावी, गोणी, गोता, गोपोतालिकेत्येवमादयोऽपभ्रंशाः।” पतंजलि द्वारा गिनाये गये उन रूपों में से कुछ को चण्ड¹ और हेमचन्द्र² ने “प्राकृत” शब्दों के रूप में स्वीकार किया है। यहाँ इस उल्लेख में स्पष्ट हो जाता है कि पतंजलि शुद्ध संस्कृत से अलग जितने भी उच्चारण मनों को “अपभ्रंश” कहते हैं। प्राकृत व्याकरणकार पतंजलि के द्वारा गिनाये गये बहुत से अपभ्रंश रूपों को ‘प्राकृत’ का मानते हैं। अतः स्पष्ट है प्राकृत व्याकरणकार “अपभ्रंश” को प्राकृत से अलग नहीं मानते।

आगे चलकर भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र के 17वें अध्याय में प्राकृत व देशी भाषाओं के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा है। वे संस्कृत से विकृत रूपों को प्राकृत कहते हैं और प्राकृत शब्दों से तीन भेद करते हैं — समान (तत्सम) विभ्रष्ट (तद्भव) और देशी। इसी सन्दर्भ में वे म्लेच्छ प्रयोगों से युक्त भिन्न-भिन्न जाति भाषाओं का भी उल्लेख करते हैं। उन्होंने मागधी, आवन्ती, प्राच्या सूरसेनी अर्बमागधी, चाल्हीका और दाक्षिणात्या सात भाषाओं तथा शबर, आभीर, चाण्डाल, सचर, द्रविड, उद्रज, हीन और वनचरो द्वारा बोली जाने वाली विभाषाओं का भी उल्लेख किया है।³

भरत के इस विवरण की संक्षेप में व्याख्या करते हुए हीरालाल जैन⁴ यह निष्कर्ष निकालते हैं कि — “भरत मुनि का मत है कि संस्कृत के अतिरिक्त दो प्रकार की भाषाएँ हैं — एक प्राकृत — जिसमें संस्कृत के विकृत शब्द प्रयोग में आते हैं और इसीलिए जिन्हें वे ‘विभ्रष्ट’ कहते हैं और दूसरी देशी — जिसमें संस्कृत प्राकृत के शब्द भी हैं तथा कुछ म्लेच्छ (अनार्य अर्थात् असंस्कृत) शब्द भी हैं। मुख्य देशी भाषाएँ (भाषा) मागधी आवन्ती आदि सात हैं और गौण देशी भाषाएँ (विभाषा) शबर आभीर चाण्डालादि की अनेक हैं।”

हीरालाल जैन द्वारा निकाला गया यह निष्कर्ष सौद्देश्य है — वे यह सिद्ध करना चाहते हैं कि भरत ने भी अपभ्रंश (आभीरो की भाषा) को देशी कहा है। परन्तु अपने मन्तव्य की सिद्धि में वे भरत द्वारा कही गयी बात के सन्दर्भ को भूल गए। यहाँ भरत का मन्तव्य नाटकों में प्रयोग योग्य भाषाओं का हल्का विवेचन

1. चण्ड ‘प्राकृत लक्षण’ 2, 16 गोर्गावि ।

2. हेमचन्द्र प्रा. व्या. 2, 174 गो गौणो, गावी, गाव, गावीओ ।

3. नाट्यशास्त्र 17, 1-4-49 तक

4. पाण्डु दोहा की भूमिका, पृ. 37

मात्र है जिसे नाटककार विभिन्न पात्रों से स्वच्छन्दतापूर्वक बोलवा सकता है। यदि हीरालालजी की तरह भरत के अनुसार आभीरो की भाषा (विभाषा) अपभ्रंश के रूप में कल्पित कर ली जायेगी तो फिर द्रविड भाषा (एक विभाषा) को भी आर्य-भाषा के अन्तर्गत लिया जा सकता है। कुछ भी हो इस विवाद में परे हटकर भरत ने जिन प्राकृत की भाषाओं और विभाषाओं की चर्चा की है उनमें 'देशी' तत्त्व विद्यमान हैं। हा इतना अवश्य है कि इस मूल पर उत्पन्नित प्राकृत दो प्रकार की हैं- एक सम्स्कृत सम्मत, उसके विकृत रूप में, दूसरी विभिन्न प्रान्तीय और जातीय तथा स्थानीय बोलियों से सम्मत जिसे हम देशी बहुल प्राकृत कह सकते हैं।

भरत ने आगे प्राकृत और अपभ्रंश की अलग-अलग भाषाओं के रूप में गणना की गयी। परन्तु यह भरत की मान्यता के विपरीत बात नहीं थी। सम्स्कृत के विकृत रूपों की जिनमें प्रधानता रही वे काव्य प्राकृत के काव्य कहलाये। परन्तु ऐसे काव्य जिनमें आभीरादि देशी तत्त्वों की प्रधानता होती गयी एक अलग विभाग के अन्तर्गत रख दिये गये। यह विभाग समस्त साहित्यिक प्राकृत और देशी प्राकृत को अलग-अलग स्पष्ट करने के लिए रखा गया होगा। यही देशी तत्त्वों से युक्त प्राकृत (विभाषा) अपभ्रंश कही जाने लगी होगी।

वास्तव में अपभ्रंश प्राकृत की ही अंतिम अवस्था है जिसमें हिमालय के पार्वत्य प्रदेश, सिन्धु और सोबीर प्रदेश के निवासियों का उच्चारण बहुत प्रयोग बढ़ गया था। भरत ने इसी उच्चारण बहुल भाषा को (विभाषा-प्राकृत) के रूप में स्वीकार किया है। विभ्रष्ट शब्द के प्रयोग से उनका तात्पर्य तद्भव शब्दों से युक्त साहित्यिक प्राकृतों में रहा होगा। इस प्रकार भरत द्वारा दिया गया। विवेचन¹ प्राकृतों से ही सम्बन्धित है।

विश्रम की प्रथम सदी में ही प्राकृत साहित्यिक भाषा का रूप वारण करने लग गयी थी। धीरे-धीरे व्याकरणकारों के हाथों यह परिष्कृत होती गयी और परिनिष्ठित भाषा बनकर जन भाषा के स्वरूप से दूर होती गयी। परिणामतः इन परिनिष्ठित भाषा, प्राकृतों की जगह एक तृतीय युगीन² प्राकृत का विकास हुआ जिसे भाषाशास्त्रियों ने अपभ्रंश कहा है। इस नाम के अनेकों प्राकृत रूप अवहट्ठ³ अवधंस, अवहट्ठ-अवहट्ठ आदि मिलते हैं। भरत ने इसी का उल्लेख उच्चारण बहुल प्राकृत (विभाषा) के रूप में किया है।

1 समानशब्द विभ्रष्ट देशीगतमयापि च। ना शा 17।3॥

2. प्राकृत भाषाओं का विस्तृत वर्गीकरण डा. नेमिचन्द्र शास्त्री ने अपने 'प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' नामक ग्रन्थ के पृ 17 पर दिया है। वहाँ इन्होंने भी अपभ्रंश की तृतीय युगीन प्राकृत के रूप में स्वीकार किया है।

अपभ्रंश कही जाने वाली इस तृतीय-युगीन-प्राकृत का प्रचलित जनभाषा से घनिष्ठ सम्बन्ध था यह बात भरत ने भी स्वीकार की है। इसी प्राकृत का विवेचन भर्तृहरि ने अपने वाक्यपदीय में किया है —

शब्द सत्कार हीनो यो गौरिति प्रयुज्यते ।

तमपत्रं शमिच्छन्ति विशिष्टार्थं निवेशनम् ॥ वाक्यपदीय, 1 का०, कारिका 148 यहाँ भर्तृहरि का संकेत ऐसे शब्दों की ओर है जो पाणिनीय व्याकरण से अमिश्रित हैं। पतञ्जलि ने भी यही बात कही थी जो शब्द भ्रष्ट, च्युत, स्खलित विकृत और अगुट्ट हैं उन्हें वे अपभ्रंश शब्द कह देते हैं। एक बात यहाँ स्पष्ट कर देने की है। पतञ्जलि ने यहाँ अपभ्रंश पद का प्रयोग शब्द के सदर्म में किया है, भाषा विशेष के नहीं। महाभाष्य के टीकाकार कैयट (10 मंशदी) इस बात को ओर भी स्पष्ट कर देते हैं —

अपशब्दो हि लोके प्रयुज्यते साधुशब्दसमानार्थञ्च

‘अपभ्रंश शब्द’ साधु शब्दों के समान अर्थ में लोक में प्रयुक्त होते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि तृतीय युगीन प्राकृत जिसे कि अपभ्रंश नाम दिया गया है, जन भाषा के तत्त्वों से भरी हुई है। इसका विकास विभिन्न प्रदेशों में स्थानीय जनभाषाओं का सहारा लेकर होता रहा। धीरे-धीरे इसमें भी काव्यादि की रचना होने लगी। इसे अलग भाषा के रूप में भले ही मान लिया गया हो परन्तु इसका स्वरूप निर्माण और शब्दावली सभी कुछ देश्य तत्त्वों से युक्त है और सबसे आश्चर्यचकित कर देने वाली बात तो यह है कि अपभ्रंश के लगभग सभी कवियों ने अपनी काव्यभाषा को ‘देशी’ कहा है। संस्कृत के आचार्यों ने तो इसे पूर्ण रूप से देशी भाषा माना ही है। अब अपभ्रंश के कवियों के विचारों का उल्लेख कर देना भी समीचीन होगा।

‘पउमचरिउ’ के रचयिता स्वयं अपने रामायण को ‘देशीभाषा’ या ग्रामीण भाषा में विरचित बताते हैं।¹ पुष्पदन्त² ने भी अपनी भाषा को ‘देशी’ नाम से अभिहित किया है। पद्मदेव³ कृत ‘पामणाहचरिउ’ लखमेव⁴ (लक्ष्मणदेव) कृत

1. देशी-भाषा उभय तडुज्जल गामेल्ल भास परिहाणइ । पउमचरिउ 3/1

2. णउ हुउ होमि देशिण वियाणमि । —महापुराण 1/18

3. वायरणु देशि मद्धु गाढ
छदालकारविमाल पोढ ।

+ + + पाहुड दोहा की भूमिका, पृ 44 से उद्धृत

4. ण समानमि छद न वधमेउ ।

णउ हीणाहिउ मत्ता समेउ ।

णउ सक्कय पायउ देम-भास ।

णउ सद्दु वण्णु जाणमि समास । इत्यादि पाहुड दोहा भूमिका, पृ 45

‘रोमिणाह चरिख’, पादलिप्त¹ कृत ‘तरंगवई कहा’ (तरंगवती कथा) तथा विद्यापति² सभी ने अपनी काव्य-भाषा देशी बताया है ।

इस प्रकार सभी दृष्टियों से यह सत्य है कि अपभ्रंश तृतीय युगीन प्राकृत थी । पिशेल ग्रियर्सन, भण्डारकर, चटर्जी, दुलनर जैसे विद्वानों ने अपभ्रंश को देशी-भाषा माना । पिशेल ने लिखा भी है “भीटे तोर पर देखने से पता चलता है कि प्रामाणिक सस्कृत से जो बोली थोड़ी बहुत भेद दिखाती है, वह अपभ्रंश है । इसलिए भारत की जनता द्वारा बोली जाने वाली भाषाओं का नाम अपभ्रंश पड़ा और बहुत बाद को प्राकृत भाषाओं में से एक बोली का नाम भी अपभ्रंश रखा गया । यह भाषा जनता के रात दिन के व्यवहार में आने वाली बोलियों से उपजी और प्राकृत की अन्य भाषाओं की तरह थोड़े बहुत फेर-फार के साथ साहित्यिक भाषा बन गयी ।”³

पिशेल के डम कथन से यह स्पष्ट है कि एक प्रकार की अपभ्रंशशब्द रचना और रूपरचना में प्राकृत के ही रास्ते पर चलती है । इसे ही दण्डी⁴ ने काव्यभाषा के रूप में स्वीकार किया है । दूसरी प्रकार की अपभ्रंश बोलचाल की भाषा रही है । विद्यापति आदि अपभ्रंश कवियों ने इसी बोल-चाल से सम्मत भाषा को देशी कहा होगा ।

अपभ्रंश के इन दोनों रूपों की सिद्धि⁵ सर जार्ज ग्रियर्सन के ‘लेग्वेज आफ इण्डिया’ निबन्ध से भी होती है । उन्होंने प्राकृतों को प्रारम्भिक अपभ्रंश कहा है⁶ । लिग्विस्टिक सर्वे आफ इण्डिया’ में ग्रियर्सन ने अपभ्रंशों को प्राकृत का स्थानीय अथवा प्रादेशिक विकार कहा है । ‘इसी प्रकार’ आन दि मार्बन इण्डो आर्यन वर्निक्यूलर्स ‘(इण्डियन एण्टीक्वरी, जिल्द-60) में उन्होंने अपभ्रंश के अन्तर्गत बोलचाल की प्राकृतों को लेने से इन्कार करते हुए अपभ्रंश को साहित्यिक प्राकृतों के बाद की देशभाषा माना है । स्पष्ट है कि अपभ्रंश में देशीभाषा के तत्त्व अवश्य हैं । यह सम्भव है कि अपभ्रंश बोलचाल की भाषा न भी रही हो, पर इतना तो मानना पड़ता है कि पूर्ववर्ती साहित्यिक प्राकृत ही देशीभाषा के योग से अपभ्रंश की अवस्था

1. पालित्तण रइया वित्तणरओ तह देसिकयणेहि
नामेण तरंगवई कहा विचित्ता य विचला य ॥ पाट्टु दोहा-भूमिका, पृ 45
2. देमिल वञ्जना नव्वजन मिट्ठा ।
त तैमन जम्पवो अवहृद्धा ॥

3. ‘प्राकृतभाषाओं का व्याकरण’

—पाट्टु दोहा-भूमिका, पृ 33

4. आभीरादिगिर वाय्येत्त्रपञ्च श इतिस्मृता । का. आ 1136
5. ‘लेग्वेज आफ इण्डिया’, जिल्द 1, पृ 123

— हिन्दी अनुवाद-विहार राष्ट्रभाषा परि, पृ 57

मे विकसित हुई है । नमिसाधु ने काव्यालंकार की टीका में 'प्राकृतमेवापभ्रंशः¹
'द्वारा इस प्राकृत को अपभ्रंश कहा है ।²

निष्कर्ष .

उपर्युक्त विवेचन यह स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त है कि 'देशी' शब्दों का प्रादुर्भाव बहुत अनादिकाल से बोली जाने वाली जनभाषा से हुआ और समय-समय पर जन भाषाओं का सहारा लेकर विकसित होने वाली साहित्यिक भाषाएँ (पालि-प्राकृत आदि) इन्हें आत्मनात करती रही । ऐसे शब्द असंख्य परिवर्तनों से होकर गुजरने के कारण युगयुगों से विकासमान भाषाओं का अत्यन्त ही रुचिकर इतिहास बताते हैं । उनमें अनेकों आर्षेतर शब्द भी आर्यीकृत रूप में व्यवहृत होते आ रहे हैं । इनका अर्थ और मन्दर्म जानने के लिये हमें व्याकरण का सहारा छोड़ कर सामान्य लोगों के व्यवहार का सहारा लेना पड़ता है । ये शब्द जिस सदर्म और वातावरण में आदिकाल से व्यवहृत होते आ रहे हैं पाय उसी सदर्म और वातावरण में आज भी प्रचलित हैं । जन-भाषाओं से गृहीत इन शब्दों का हेमचन्द्र ने जैसा परिचय दिया है, आज की भाषा में भी वे उसी मन्दर्म और वातावरण में प्रयुक्त दिखायी देते हैं । व्याकरण ग्रन्थों के बीच इनका सन्दर्भ खोज पाना अत्यन्त दुरूह कार्य है । साथ ही आर्यों के भारत आगमन के पहले तथा स्वयं आर्यों की ही मूलभाषा का कोई लिखित प्रमाण न मिलने के कारण इनके उद्भव का पता लगा पाना अत्यन्त कठिन कार्य है । इन शब्दों का उद्भव भारत में युगयुगों से बसती चली आयी जातियों के सांस्कृतिक इतिहास के मूल में खोजा जा सकता है ।³ भारतवर्ष में अनेक जातियों के लोग और उनकी भिन्न-भिन्न भाषाएँ हैं । इन उपादानों के मिश्रण से ही भारतीय जन तथा भारतीय संस्कृति निर्मित हुई है । । अत्यन्त प्राचीनकाल से भिन्न-भिन्न विदेशी जातियाँ अपनी विभिन्न संस्कृतियों को साथ लेकर भारत में आयी हैं और यहाँ बसती गयी हैं । उन्होंने अपने वशानुगत संस्कारों विचारों एवं सामर्थ्य के अनुसार यहाँ व्यवस्थित समाज और संस्कृति का निर्माण किया है और अपने ढंग से जीवन बिताने की प्रणालियाँ और विचार विकसित किये हैं ।
... .. । हमारे यहाँ के आदिवासी निग्रोवटु या नेग्रिटो जातियाँ हैं
इन नेग्रिटो आदिवासियों के पश्चात् पश्चिमी एशिया की आस्ट्रिक जाति के मनुष्यों का आगमन हुआ और उनके पश्चात् द्रविड उसी पश्चिम दिशा से आये । आस्ट्रिक

1. रुद्रट काव्यालंकार—1।12 की टीका ।

2. "प्राकृतभाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास"—डा. नेमिचन्द्र, पृ. 100 ।

जाति के लोग भारत में 'निषाद' कहलाते थे और द्रविड लोग आर्यों में 'दस्यु' या 'दास' नामों से प्रसिद्ध थे। द्रविडों के बाद आर्य जातियाँ आयी और उत्तर तथा उत्तरपूर्व से तिब्बती चीनी लोग जो प्राचीन भारत में किरात कहलाते थे, आये। भारतीय जातियों और भारतीय संस्कृति की आधार ये ही चार जातियाँ थी- निषाद, द्रविड, किरात और आर्य। परन्तु यह स्वयं भी आने के समय पूर्णरूप से विशुद्ध या अमिश्रित नहीं कही जा सकती। परन्तु इन सब विभिन्न उपादानों का सम्पूर्ण एकीकरण आर्यों की उच्चकोटि की व्यवस्था शक्ति के फलस्वरूप ही हो सका। कही-कही यह एकीकरण रासायनिकपूर्णता को पहुँच गया, तो कही केवल परस्पर के सम्मिश्रण तक ही सीमित रहा।

आस्ट्रिक और द्रविडों द्वारा भारतीय संस्कृति का शिलान्यास हुआ था, और आर्यों ने उस आधारशिला पर जिस मिश्रित संस्कृति का निर्माण किया उस संस्कृति का माध्यम, उनकी प्रकाशभूमि एवं उसका प्रतीक यही आर्यभाषा बनी, आरम्भ से संस्कृत, पालि, पश्चिमोत्तरीय प्राकृत (गान्धारी) अवन्तभाषा अपभ्रंश आदि रूपों में तथा बाद में हिन्दी, गुजराती, मराठी, उडिया, बंगाली और नेपाली आदि विभिन्न अर्वाचीन भारतीय भाषाओं के रूप में, भिन्न भिन्न समयों एवं प्रदेशों में भारतीय संस्कृति के साथ इस भाषा का अविच्छेद्य सम्बन्ध बनता गया।¹

चादुर्ग्या महोदय के इस विवेचन को देखते हुए यह स्पष्ट हो जाता है कि आर्यों और आर्योत्तर जातियों के आपसी आदान-प्रदान के माध्यम से भारतीय आर्य-भाषाओं का निर्माण सम्पन्न हुआ। इस सारी प्रक्रिया के बीच आर्यों की भाषा का प्रमुख स्थान रहा। इसके इर्द-गिर्द अनेकों आर्योत्तर भाषाओं के फैली होने के कारण समय-समय पर यह उनसे प्रभावित होती रही। आर्योत्तर भाषाओं से लिये गये कुछ उपादान तो आर्यों की साहित्यिक भाषा की अपनी वस्तु बन गये। एक तरह से उनका आर्यीकरण हो गया परन्तु बहुत से ऐसे उपादान फिर भी समय पाकर साहित्यिक भाषाओं में आते रहे जिनका कोई भी स्रोत आर्यभाषा के अन्तर्गत नहीं मिलता। इन्हीं अमर्दमित तत्वों को देशी कहा गया है जो निश्चित ही आर्योत्तर जातियों और उनकी संस्कृति के प्रभाव स्वरूप देखे जा सकते हैं। मध्यकालीन आर्य-भाषाओं में ये उपादान स्पष्ट होकर ऊपर आ गये।

देशी शब्दों के प्रति हेमचन्द्र के पूर्व के आचार्यों का दृष्टिकोण।

'देशी' शब्दों का प्रयोग वैदिक युग की भाषा से होता आ रहा है। आर्यों

1 सुनीतिकुमार चादुर्ग्या—'भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी' पृ. 14-15

की मस्कृति प्रारम्भ से ही ग्रामीण संस्कृति रही है अतः ग्रामीण या जनभाषा के शब्दों का प्रभाव इनकी साहित्यिक भाषा पर भी पड़ा ।¹

ब्राह्मणकाल में आर्य-भाषा के तीन रूपों का स्पष्ट अनुमान किया जा सकता है— (1) उदीच्य-उत्तरीय या पश्चिमोत्तरीय (2) मध्यदेशीय और (3) प्राच्य । उदीच्य परिनिष्ठित भाषा थी । 'कीर्त्तिका ब्राह्मण' में एक जगह उल्लेख है कि 'उदीच्य प्रदेश में भाषा बड़ी जानकारी से बोली जाती है, भाषा सीखने के लिए लोग उदीच्यजनों के पास ही जाते हैं, जो भी वहाँ से लौटता है, उसे सुनने की लोभ इच्छा करते हैं ।'

'(तस्माद् उदीच्या प्रजाततरा वाग् उद्यते, उदच एवयन्ति वाच शिक्षितम्' यो वा तत् आगच्छति, तस्य वा शुश्रूषन्त इति)²

—णाखायन या कीर्त्तिका ब्राह्मण 7।6 ॥

'प्राच्या पूर्व में रहने वाली वर्वर अटनशील और असुर वर्ग के लोगों की भाषा के सम्पर्क से प्राप्त आर्य-भाषा का रूप है । परिनिष्ठित भाषा-भाषी आर्य इन प्राच्य जनो की धृष्ट की दृष्टि में देखते थे । इस प्रकार यह प्राच्य भाषा स्थानीय बोलियों की ध्वन्यात्मक प्रवृत्तियों तथा सभवतः शब्दावली से भी युक्त थी । इसी आशय का उल्लेख पतञ्जलि के महाभाष्य में एक ब्राह्मण में आयी कथा के सदर्भ में भी मिलता है । वहाँ बताया गया है कि असुरवर्ग के लोग संस्कृत के शब्दों का शुद्ध उच्चारण नहीं कर पाते । वे 'अरयो' को 'अलयो, कहते हैं । क्योंकि उनकी भाषा की प्रकृति परिनिष्ठित भाषा से परे हटकर है । आर्य-भाषा का मध्यदेशीय रूप उदीच्या और प्राच्या के बीच-विचाव के रूप सामंजस्य से प्राप्त हुआ । प्राचीन आर्य-भाषा के इन तीनों रूपों के उदाहरणस्वरूप एक शब्द के तीन रूप लिये जा सकते हैं— श्रीर, श्रील तथा श्लील, पहले रूप में केवल 'र' है, जो उदीच्या का लक्षण है । तीसरे में केवल 'ल' है, जो कि परिवर्ती मागधी को देखते हुये स्पष्ट प्राच्या का लक्षण है और दूसरा रूप 'श्रील' जिसमें 'र' तथा 'ल' दोनों विद्यमान हैं, 'मध्यदेशीया' का रूप है ।

ब्राह्मणों के बाद पालि साहित्य के विकास के साथ ही जनभाषा का प्रभुत्व बढ़ा । पालि में 'देशी' तत्त्व बहुतायत से खोजे जा सकते हैं । अभी तक जनभाषा का आश्रय लेकर चलने वाली भाषाओं में किसी का व्याकरण नहीं लिखा गया था । जैन आगम के अन्तर्गत प्राचीनतम रचना 'आयारग' के अन्तर्गत 'अणुओगदार सुत्त'

1 देखिये 'भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी' चाटुर्ज्या, पृ 74-75 ।

2 भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी, द्वि स, पृ 72 से उद्धृत ।

है। इन ग्रन्थ में प्राकृतों की ममस्त शब्द राशि को पांच भागों में विभक्त किया गया है।¹ यहाँ चौथे विभाग नैपातिक के अन्तर्गत देशी शब्दों को समाहित कर लिया गया है। वहाँ दिये गये उदाहरण-अक्कनो, जह, जहा आदि हैं।

जन भाषाओं के साथ-साथ सदैव ही किसी न किसी अंग में संस्कृत अमि-जात वर्ग की भाषा के रूप में प्रतिष्ठित रही है। संस्कृत में अधिक से अधिक जनभाषा के तत्त्वों को न रखने की प्रवृत्ति रही। फिर भी ये शब्द काफी मात्रा में स्वयं ही स्वामाधिक रूप से आ गये। संस्कृत में भी शब्दों के दो विभाग किये गये हैं (1) व्युत्पन्न शब्द (2) अव्युत्पन्न शब्द। व्याकरण के नियमों में सिद्ध होने वाले शब्द व्युत्पन्न तथा जिनकी निश्चित व्याकरण सम्मत न होकर लोक परम्परा या व्यवहार में ही वे अव्युत्पन्न शब्द कहलाये। इन्हीं अव्युत्पन्न शब्दों के बारे में पतञ्जलि ने कहा है कि लोक में शब्दों का भण्डार बहुत बड़ा है उन शब्दों में कुछ ऐसे हैं जिन्हें व्याकरण से व्युत्पन्न नहीं किया जा सकता। ऐसे शब्द लोक में स्वतः उत्पन्न होते हैं और अर्थों के साथ उनका सम्बन्ध स्वयं जुड़ जाता है और वे लोगों के कण्ठ में रहकर व्यवहार में आते हैं। उनके लिये लोक ही प्रमाण है। इसी प्रकार के शब्दों को पाणिनि ने मजा प्रमाण² कहा है। संस्कृत में कुछ ऐसे भी शब्द थे जो बिना व्याकरण के नियम के ही प्रयुक्त होते थे। पाणिनि ऐसे शब्दों को 'यथोपदिष्ट' मानकर प्रामाणिक मान लेते हैं—पृषोदरादीनि-आदिष्टम्॥ सम्भवतः इन्हीं आचार्यों पर व्याकरण द्वारा अव्युत्पादित शब्द आचार्यों द्वारा देशी कह दिये गये हैं।

इसके बाद प्राकृत के व्याकरणकारों ने 'प्राकृत-शब्द-सम्पत्ति' को तीन प्रमुख भागों में बाँटा है (1) नत्सम (2) नदम्ब (3) देश्य या देशी।³ प्राकृतों का सर्वप्रथम भाषा गण विवेचन करने वाले भरत हैं। इन्होंने भी प्राकृत को तीन⁴ प्रकार के शब्दों में युक्त माना—समान, विभ्रष्ट तथा देशीमन। अन्य प्राकृत व्याकरणकारों में 'चण्ड' इमे 'देशीप्रसिद्ध' कहते हैं त्रिविक्रम मार्कण्डेय मिहिराज वाग्भट्ट आदि देश्य या देशी कहते हैं।

इस प्रकार आचार्य हेमचन्द्र के पहले तथा बाद के सभी आचार्यों तथा विद्वानों ने आर्य भाषाओं में "देशी" शब्दों की स्थिति स्वीकार की है। अपने

1. पञ्चममे पञ्चविह, पराणत्ते त उहा—(1) नामिक (2) नैपातिक (3) आद्यनामिक (4) औपम्यिक (5) मिथ। अणशोभादगुत्त-प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, डॉ० नेमिचन्द्र पाद टिप्पणी, पृ० 58

2. नदगिथ्य मजाप्रमाणत्वात् ॥ 111:53

3. ह० प्रा० व्या० 111 त्रिविक्रम का व्याकरण प्राग्मिक 6 टी काणिका-शब्द चन्द्रिका करिका 49 हेमचन्द्र का व्याकरण 111:16 इत्यादि

4. समान विभ्रष्ट देशीमनपञ्चविह । ना० शा० 17:3

पहले के आचार्यों की विचारधारा का पोषण स्वयं हेमचन्द्र ने किया और आगे चलकर उनके बाद के व्याकरणकारों ने स्वयं हेमचन्द्र की मान्यताओं का समर्थन किया। इतना अवश्य है कि आचार्य हेमचन्द्र की भांति किसी भी व्याकरणकार ने “देशी” शब्दों पर स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखकर अपने मतों का प्रतिपादन नहीं किया। पूरी भारतीय अर्य-भाषा परम्परा में “देशी” शब्दों का परिज्ञान कराने वाला हेमचन्द्र का एकमात्र ग्रन्थ “देशीनाममाला” है। इसी से हमें यह भी पता चलता है कि इन तरह के ग्रन्थ पहले भी लिखे गये थे परन्तु अब वे उपलब्ध नहीं होते। हेमचन्द्र ने परम्परा के इन सभी देशीकारों के स्वीकार्य मतों को माना और अस्वीकार्य मतों का नग्न किया है। अब यहाँ “देशी” शब्दों के प्रति स्वयं आचार्य हेमचन्द्र का क्या दृष्टिकोण है ? इसका विवेचन कर लेना समीचीन होगा।

आचार्य हेमचन्द्र का मत

भारतीय व्याकरण ग्रन्थों की परम्परा में आचार्य हेमचन्द्र के “सिद्धहेम शब्दानुगानन” का बहुत बड़ा महत्त्व है। इस एक ही ग्रन्थ में उन्होंने संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तीनों का व्याकरण दे दिया है। तीनों भाषाओं में व्याकरण-सिद्ध शब्दों का आख्यान कर चुकने के बाद उन्होंने अपने ग्रन्थ के अष्टम अध्याय (प्राकृतव्याकरण) के पूरक ग्रन्थ के रूप में व्याकरण से असिद्ध “देशी” शब्दों का आख्यान करने के लिये एक कोश का निर्माण किया। इसका नाम “देशीनाम माला” रखा। भारत ही नहीं समस्त विश्व के भाषा सम्बन्धी ग्रन्थों में यह एक अद्वितीय ग्रन्थ है।

आचार्य हेमचन्द्र “देशी” शब्द की परिभाषा देते हुए देशीनाममाला के प्रारम्भ में ही कहते हैं—

जे लक्षणे सिद्धा ण प्रसिद्धा सक्कयाहिहाणेसु ।

ण य गउणलक्खणासत्तिसभवा ते इह एिणवद्धा ॥¹

“जो न लक्षण (व्याकरण) ग्रन्थों से सिद्ध होते हैं और न जो संस्कृत कोशों में ही प्रसिद्ध हैं तथा जिन्हें लक्षणा आदि शब्द शक्तियों के आधार पर भी नहीं समझा जा सकता—ऐसे “देशी” कहलाने वाले शब्द इस कोश में निबद्ध किये गये हैं।”

इस बात को वे मूल गाथा की व्याख्या में भली भांति स्पष्ट करते हैं। “लक्षणे शब्द शास्त्रे सिद्ध हेमचन्द्र नाम्नि ये न सिद्धा प्रकृति प्रत्यायादि विभागेन

न निष्पन्नस्तेऽत्र निवद्धा । ये च सत्यामपि प्रकृति प्रत्यय विभागेन मिट्टीसंस्कृताभिधान कोशेषु न प्रसिद्धास्तेऽप्यत्र निवद्धा । ये च संस्कृतानिधान कोशेषु अप्रसिद्धा अपि गीष्वा लक्षणा वालङ्कार चूडामणिप्रतिपादिनयाशक्त्या संभवन्ति..... ते इह न निवद्धा : ।

“सिद्ध हेमचन्द्रानुशासन” प्रभृति व्याकरण ग्रन्थों से जो प्रकृति प्रत्यय आदि व्याकरणिक विभागों से सिद्ध नहीं होते ऐसे शब्द इस कोश में रखे गये हैं। और जो व्याकरणिक प्रकृति-प्रत्यय आदि विभागों से सिद्ध होते हुए भी संस्कृत कोशों में प्रसिद्ध नहीं हैं, उन्हें भी “देशी” मानकर निवद्ध कर लिया गया है। और जो संस्कृत कोशों में अप्रसिद्ध होते हुए भी गीष्वा लक्षणा या अलंकार चूडामणि आदि ग्रन्थों में प्रतिपादित शब्दशक्तियों के द्वारा भी दुर्लभ हैं, ऐसे शब्दों को यहाँ रख दिया गया है”¹

इसके बाद भरतादि शास्त्रकारों द्वारा निर्दिष्ट भिन्न-भिन्न प्रांतीय भाषाओं के शब्दों को कोई “देशी” न समझ ले इस बात की ओर सदैव करते हुए वे कहते हैं—

• णाणा देम पसिद्धीड भणमाणा अणन्त या हुन्ति ।

तम्हा अणाड पाडग्र पयट्टमाना विसेनओ देमी ॥²

देशविशेष (महाराष्ट्र विदर्भादि) में बोली जाने वाली भाषाएँ अनेक हैं। अतः उनके शब्दों की सीमा भी नहीं है। इस कारण अनादिकाल से प्रचलित भाषा के शब्दों को ही यहाँ देशी माना गया है।

इस प्रकार आचार्य हेमचन्द्र देशी शब्दों की कोटि में प्रमुखतः चार प्रकार के शब्द रखते हैं (1) ऐसे शब्द जिन्हें व्याकरणगत नियमों से सिद्ध न किया जा सके। (2) ऐसे शब्द जो व्याकरण में सिद्ध होते हुए भी संस्कृत के कोशों में अप्रसिद्ध या अप्रचलित हो — जैसे — अमयणिग्गम.—अमृत निर्गम.—चन्द्रमा। यह शब्द चन्द्रमा के अर्थ में संस्कृत के कोशों में न प्राप्त होने के कारण “देशी” शब्दों की कोटि में रख दिया गया है। (3) ऐसे शब्द जो लक्षणा इत्यादि शब्द शक्तियों के आधार पर भी अपने अर्थ से न जोड़े जा सकें। (4) ऐसे शब्द जो अनादि काल से स्वाभाविक रूप से प्रचलित चले आ रहे हो।

आचार्य हेमचन्द्र ने उपर्युक्त चार कोटि के शब्दों को “देशी” माना है। परन्तु इन आधारों पर उनके द्वारा संकलित किये गये शब्दों में “वास्तविक” रूप से

1. देशीनाममाला-पिगेल, द्वि० स० 1।3।1, पृ० 3

2. वही, 1।4, पृ० 3

“देशी” कहे जाने वाले शब्दों की संख्या कम है। पिशेल आदि विद्वानों ने हेमचन्द्र की इस देशी विषयक मान्यता को ठीक नहीं बताया है। इनके द्वारा सकलित किये गये शब्दों में शुद्ध रूप से लगभग 1500 शब्द ही देशी हैं। शेष तद्भव और तत्सम हैं जिनका संग्रह आचार्य ने कोशों में उनकी अप्रसिद्धि तथा पूर्व आचार्यों की मान्यता के आधार पर किया होगा। पी० एल० वैद्य ने हेमचन्द्र की “देशीनाममाला” में सकलित शब्दों को 8 भागों में विभाजित किया है।¹

(1) ऐसे शब्द जो दिये गये अर्थ में ही संस्कृत में जा ढूँढे सकते हैं। जैसे अहिविष्ण (अग्निविष्ण, दुखी निराश) अद्दहारा (अचिराभावर्ण व्यत्यय मात्र) प्रानिग्रभ (आयासिका) खुलह (गुल्क) आदि।

(2) ऐसे शब्द जिनका मूल संस्कृत में खोजा तो जा सकता है परन्तु उनका वह अर्थ नहीं है जो प्राकृत में है। जैसे धरुण-कमल (प्राकृत) लाल (संस्कृत) गृहवद्-गृहपति- (संस्कृत पति या स्वामी, प्राकृत, चन्द्रमा।

(3) प्राकृतों का स्वरूप धारण किये हुए संस्कृत शब्द—जैसे एक्कधरिल्ल

(4) प्राकृत शब्द या तद्भव शब्द।

(5) संस्कृत के उपसर्गों से युक्त प्राकृत शब्द—जैसे चिल्ला-उचिल्ला, फेसाउफेफसा, चल्लि-उचल्लिअ, वुक्का-उव्वुक्का।

(6) संस्कृत के स्वरूप के प्राकृत शब्द—जैसे, अण्णा, अण्णी।

(7) प्राकृत शब्दों का तोड़ा मरोड़ा गया रूप²—जैसे खट्टा-खट्टिका, गोणा-गोणिल्लका, धर-धरिल्ली।

(8) प्राकृत और संस्कृत शब्दों के मिश्रण बने शब्द जैसे खोडपजल्ली, गयसाउल्ल आदि।

आधुनिक भाषा वैज्ञानिकों का मत

प्राचीन व्याकरणकारों और भाषाविदों की भांति आधुनिक भाषा-वैज्ञानिक भी प्राकृतों की शब्द सम्पत्ति को तीन भागों में विभाजित करते हैं (1) तत्सम (2) तद्भव (3) देश्य या देशज। यहाँ केवल “देश्य” या “देशी” कहे जाने वाले शब्दों पर विचार करना अभीष्ट है। आधुनिक भाषा वैज्ञानिकों में जान-वीम्स, हार्नले, जार्जग्रियर्सन, सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, पी० डी० गुणो आदि ने देशी

1. पी० एल० वैद्य ‘आब्जर्वेशन आन हेमचन्द्राज देशीनाममाला’,—‘एनेल्स आफ भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट’ जिल्द 8 पृ० 67-68

2. “Prakrit words with Prakrit terminations” P L Vaidya A.B.O.I.R V 8 P 68

शब्दों पर अपने विचार दिये हैं। इनका एक-एक कर उल्लेख कर देना समीचीन होगा — जानवीम्स अपने “कम्पेरिटिव ग्रामर ऑफ माडन आर्यन लैंग्वेज” नामक ग्रन्थ में लिखते हैं—“देशी शब्द वे हैं जो किसी भी संस्कृत शब्द से व्युत्पन्न नहीं किये जा सकते इसलिए ये या तो आर्यों के पूर्व में रहने वाले आदिवासियों की भाषा से लिये गये होंगे या फिर संस्कृत भाषा के विकसित होने के पहले ही स्वयं आर्यों द्वारा आविष्कृत होंगे।”¹

ए एफ आर हार्नले अपने ‘कम्परिटिव ग्रामर ऑफ गौडियन लैंग्वेजेज’ नामक ग्रन्थ में “देशी” शब्दों को ग्रामीण अर्थात् प्रांतीय या आदिवासियों की भाषा से ग्रहण किया गया बताते हैं ये ऐसे शब्द हैं जिन्हें संस्कृत के शब्दों से व्युत्पन्न नहीं किया जा सकता। इसका विचार है कि इन शब्दों को अशिक्षित ग्रामीण आर्यों ने यहाँ रहने वाली आदिवासी जातियों से संस्कृत (वैदिक) के विकास के पहले ही ग्रहण किया होगा या फिर इन ग्रामीण तथा अशिक्षित आर्यों ने अर्य शब्दों को ही ऐसा तोड़ मरोड़ और बिगाड़ दिया होगा कि ये उनके परिनिष्ठित (साहित्य में प्रचलित) रूपों से बहुत दूर जा पड़े होंगे और प्रागे चलकर इनका पहिचानना बहुत मुश्किल हो गया होगा। जहाँ तक इन शब्दों पर पड़े अनार्य तत्त्वों के प्रभाव का प्रश्न है, हार्नले का मत है जो भी अनार्य प्रभाव इन शब्दों पर पड़ा होगा वह अवश्य ही अत्यन्त प्राचीन काल का होगा जब कि यहाँ आकर बसने वाले आर्य तथा पहले से ही रहने वाले आदिवासी सम्भवतः “पेशाची” या प्राचीन अपभ्रंश बोलते रहें होंगे। हार्नले का विचार है कि उन आदिवासियों की भाषा जो सर्वप्रथम आर्यों के द्वारा आविष्कृत किये गये, “पेशाची” के समान रही होगी तथा आर्य, द्रविड और आदिवासियों के आपसी सम्बन्धों के कारण विकसित भाषा “प्राचीन अपभ्रंश” रही होगी। परन्तु हार्नले के इस मत को ग्रियर्सन नहीं स्वीकार करते। वे अपभ्रंश को प्राकृतों की अन्तिम (तृतीय) विकामावस्था मानते हैं साथ ही पेशाची भी उनकी दृष्टि में बहुत कुछ प्राकृतों से सम्बन्धित हैं। हार्नले का पेशाची और प्राचीन अपभ्रंश को आर्यों के पूर्व आदिवासियों की भाषा बताना-सर्वथा भ्रामक है।²

श्री आर जी भण्डारकर³ का मन्तव्य है कि “देशज” वे शब्द हैं जो संस्कृत से व्युत्पन्न नहीं किये जा सकते। इन्हें किन्हीं अन्य स्रोतों से सर्वाभित किया

1. John Beams “Comparative Grammar of Modern Aryan Languages” V I P 12
2. A F R Hornle—A Comparative Grammar of Gaudian Languages” PP XXXIX-XL (39-40)
3. Introduction to Deshinammala by M D Banarjee F N. PP XXV
4. Bharkarkar “Wilson Philological lectures (1914) P 106.

जा सकता है। एक अन्य स्थान¹ पर वे इन शब्दों को निश्चित रूप से आर्यों से पूर्व भारत में रहने वाले आदिवासियों की भाषा से सर्द्धित करते हैं। इनका कहना है कि “देशा” शब्द आर्यों द्वारा विजित की गयी जातियों की भाषा के शब्द रहे होंगे।

डा पी डी गुणे² स्वीकार करते हैं कि तत्सम और तद्भव शब्दों से अलग प्राकृतों में अनेकों देश्य या देशी (ग्रामीण) शब्द भी पाये जाते हैं। हेमचन्द्र ने अपने “देशीनाममाला” नामक कोश में ऐसे शब्दों का संग्रह किया है। ऐसे ही कुछ शब्दों का संग्रह धनपाल ने अपने आड्यलक्षी नाममाला नामक कोश ग्रन्थ में भी किया था। यद्यपि इन दोनों कोश ग्रन्थों में सकलित अनेकों शब्द तद्भव हैं फिर भी इनमें अनेकों शब्द ऐसे हैं जिन्हें संस्कृत से अलग स्रोतों से सर्द्धित किया जा सकता है। आगे³ हेमचन्द्र द्वारा गलती से देशी मान लिये गये शब्दों की एक सूची देते हैं जो वास्तव में तद्भव हैं। इसके बाद ही उनका कथन है कि धनपाल और हेमचन्द्र द्वारा सकलित कोशों में पाये जाने वाले शब्द आधुनिक आर्य-भाषाओं में आर्योत्तर भाषाओं के प्रभाव का सुष्ठु द्योतन करते हैं। कुछ शब्द तो निश्चित रूप से द्रविड भाषाओं से सर्द्धित किये जा सकते हैं।

प्राकृत भाषाओं और उनमें प्राप्त होने वाले विभिन्न तत्त्वों पर जार्ज ग्रियर्सन ने अपने “लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इन्डिया” नामक ग्रन्थ की प्रथम जिल्द (भूमिका)⁴ में विस्तारपूर्वक विचार किया है। वहाँ उन्होंने प्राकृतों की तीन अवस्थाओं प्रथम, द्वितीय और तृतीय का विवेचन करने के बाद “देश्य” शब्दों के बारे में लिखा है—

“भारतीय व्याकरणकारों द्वारा बताया गया प्राकृत शब्दों का तीसरा प्रकार ‘देश्य’ कहलाता है। इसके अन्तर्गत ऐसे शब्द आते हैं जिन्हें व्याकरण से सिद्ध नहीं किया जा सकता। परन्तु इन व्याकरणकारों द्वारा असर्द्धित बताये जाने वाले तथा कथित अनेकों “देश्य” शब्द आधुनिक भाषा वैज्ञानिकों द्वारा तद्भव शब्द बताये गये हैं। इन शब्दों में बहुत थोड़े से शब्द ऐसे हैं जिन्हें मुण्डा तथा द्रविड भाषाओं से सर्द्धित किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त इन शब्दों में से अधिकतर शब्द

1. Bharkarkar 'Wilson philological lectures (1914) P 106

2. Introduction to comparative philology III Ed. 1958 P. 275-276 277

3. वही, पृ 276।

4. Linguistic survey of India VI P. 127-28.

“प्रथम प्राकृत”¹ से व्युत्पन्न किये जा सकते हैं। उनका कथन है कि इन शब्दों का उम प्राथमिक प्राकृत जिसमें कि संस्कृत का विकास हुआ, में अलग हटकर तत्कालीन जनभाषा में घनिष्ठ सम्बन्ध है। ये वास्तविक “तद्भव” शब्द हैं तथापि यहाँ तद्भव का अर्थ वह नहीं है जो प्राकृत व्याकरणकारों ने लिया है। ये देश्य शब्द लोक में बोली जाने वाली जनभाषा के शब्द होंगे क्योंकि ऐसे शब्द प्रायः “गुजरात” आदि प्रदेशों में लिखे गये साहित्य में पाये गये हैं और गुजरात आर्यों के प्रमुख विद्यास्थान मध्यदेश से बहुत दूर भी पड़ जाता है।²

इस प्रकार जार्ज ग्रियर्सन “देशी” शब्दों का सम्बन्ध आर्यों द्वारा वैदिक काल के पहले ही बोली जाने वाली जनभाषाओं से बताते हैं। इन बोलियों में से एक का विकास वैदिक और साहित्यिक संस्कृत के रूप में हुआ था। इसके अतिरिक्त वे ‘देशी’ शब्दों का सम्बन्ध प्रान्तीय बोलियों से, बताते हैं—विशेषतः गुजरात इत्यादि प्रदेशों की बोलियों से जो कि संस्कृत के उद्भव स्थान मध्यदेश से बहुत दूर पड़ जाती है। शुद्धता पर अधिक बल देने के कारण संस्कृत के विद्वानों ने इन शब्दों को प्रथम न दिया होगा परन्तु जनभाषाओं के आचार पर विकसित होने वाली साहित्यिक भाषाओं में ये शब्द स्वयं ही आते गये। ग्रियर्सन की यह मान्यता बहुत कुछ उचित भी है। उनके द्वारा किये गये प्राकृतों के विभाजन आदि विषयों पर चाहे जो विवाद हो परन्तु ‘देश्य’ शब्दों के बारे में दिये गये तथ्य कुछ हद तक मान्य हैं। उनका देशी, शब्दों का ‘तद्भव’ कहना भी व्याख्या की अपेक्षा रखता है। यहाँ ‘तत्’ का अर्थ संस्कृत से न होकर ‘प्रथम प्राकृत’ से है। प्रथम प्राकृत से उद्भूत होने के कारण ही ग्रियर्सन ‘देशी’ शब्दों को ‘तद्भव’ कहते हैं। ये देशी शब्दों को आर्यों और आर्योत्तर जातियों के आपसी आदान-प्रदान से विकसित शब्द मानते हैं। परन्तु यह आदान-प्रदान संस्कृत के विकास के पूर्व ही हो चुका था। संस्कृत में ये तत्त्व पाणिनि जैसे व्याकरण के हाथ से छाटकर बाहर कर दिये गये और जो बचे भी उनका संस्कृतीकरण कर लिया गया। पाणिनि की अष्टाध्यायी में कितने ही ऐसे शब्द खोजे जा सकते हैं जो निश्चित रूप से संस्कृत की

1. जार्ज ग्रियर्सन ने प्राकृतों के तीन विभाग किये हैं (1) प्रथम प्राकृत उससे वैदिक और साहित्यिक संस्कृत का विकास हुआ इसका मूल साहित्य न मिलने में यह समाप्त प्रायः है (2) द्वितीय प्राकृत—इसके अन्तर्गत पालि, जैन अध्यात्मग्रंथों, अशोक के लेख (प्राथमिक अवस्था) संस्कृत नाटकों की प्राकृत महाराष्ट्री तथा साहित्यिक अपभ्रंश (द्वितीय अवस्था) आते हैं (3) 10 वीं सदी के बाद विकसित ग्रामीण अपभ्रंश सम्मत या भा भा को उन्होंने तृतीय प्राकृत के अन्तर्गत रखा है।
2. मेजर रिपोर्ट आफ इण्डिया, 1901, ग्रियर्सन, पृ. 159-60 तथा निग्विम्बिक सर्वे ऑफ इण्डिया जिल्द प्रथम, पृ. 125-28

प्रकृति के विपरीत हैं। इनका प्रयोग भी संस्कृत में कम ही हुआ है। परन्तु वे ही शब्द आ० आ० भाषाओं में थोड़े रूप परिवर्तन के साथ उसी अर्थ में चल रहे हैं। इस समस्या पर एक अन्य अध्याय में विस्तारपूर्वक विचार किया जायेगा। ग्रियर्सन के बाद आधुनिक भाषा वैज्ञानिकों में उपाध्ये¹ तथा पी० एल० वैद्य² प्रभृति अनेकों विद्वानों ने देशी शब्दों के आदि स्रोतों को ढूँढने का प्रयत्न किया है। उपाध्ये ने 'देशीनाममाला' में आये हुए कई शब्दों को 'कन्नड' भाषा से सम्बन्धित बताया है। इसी तरह के प्रयत्न और भी अनेकों विद्वानों ने किये हैं परन्तु द्रविड भाषाओं या अन्य आर्येतर भाषाओं में इन शब्दों का पाया जाना यह बिल्कुल नहीं सिद्ध कर पाता कि ये शब्द उन्हीं से लिये गये हैं। हो सकता है आर्येतर जातियों ने ये शब्द आर्यों से ही ग्रहण किये हों। आधुनिक खोजों के आधार पर यह सिद्ध होता जा रहा है कि 'देशीनाममाला' में आये हुए अनेकों शब्द और हेमचन्द्र द्वारा घात्वादेश के रूप में पठित देशी घातुएँ आ० भा० आ० भाषाओं की प्रान्तीय बोलियों में अब भी प्रचलित हैं। पी० एल० वैद्य³ ने ऐसे ही अनेकों शब्दों को 'मरहठी' भाषा में प्रचलित बताया है। इसी प्रकार के तथ्य का उद्धाटन प्रस्तुत पक्तियों के लेखक⁴ ने अपनी विभागीय शोध संस्था के तत्वावधान में पढ़े गये शोधपत्र में भी किया है। लगभग 150 'देशी' शब्दों को 'अवधी' आदि हिन्दी की बोलियों में उसी रूप और अर्थ में प्रयुक्त होते दिखाया गया है जिस रूप और अर्थ में वे 'देशीनाममाला' में संकलित किये गये हैं।

इन तथ्यों को देखते हुए जार्ज ग्रियर्सन का यह मत कि इन देशी शब्दों में अधिकतर शब्द आर्यों की ही प्रारम्भिक बोलियों से लिये गये हैं ठीक लगता है। इनमें कुछ शब्द निश्चित रूप से मुण्डा और द्रविड भाषाओं के हैं जिन्हें आर्येतर प्रभाव के रूप में देखा जा सकता है। परन्तु अधिकतर शब्द निश्चित ही आर्यों द्वारा अनादिकाल से व्यवहृत होती आयी जनभाषा से लिये गये होंगे। आ० भा० आ० भाषाओं में इनका विकास इसी तथ्य की ओर संकेत करता है। अन्त में पाइथसद्मण्यवों⁵ के उपोद्घात में दिये गये 'देशी' शब्द के विवेचन को उद्धृत कर देना भी

1. ए एन उपाध्ये 'कन्नडीज वर्ड्स इन देशी लेक्सिकन्स'-एनेल्स आफ भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट जिल्द 12, पृ. 171-72
2. पी० एल० वैद्य 'आब्जर्वेशन्स आन हेमचन्द्राज देशीनाममाला' एनेल्स आफ भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट, जिल्द 8, पृ. 63-71
3. वही, पी० एल० वैद्य।
4. 'शोध संस्थान' हिन्दी-विभाग प्रयाग विश्वविद्यालय के तत्वावधान में 17 मार्च 1969 को पढाया गया 'हिन्दी और उसकी बोलियों में कुछ देशीशब्द' शोधपत्र।
5. 'पाइथसद्मण्यवों' उपोद्घात-प्रथम-संस्करण, पृ. 21-22।

उपयुक्त होगा ।

... वैदिक और लौकिक संस्कृत भाषा पञ्जाब और मध्यदेश में प्रचलित वैदिक काल की प्राकृत भाषा में उत्पन्न हुई है । पञ्जाब और मध्यदेश के बाहर के अन्य प्रदेशों में उस समय आर्य लोगों की जो प्रादेशिक भाषाएँ प्रचलित थीं उन्हीं में ये 'देशी' शब्द गृहीत हुए हैं । यही कारण है कि वैदिक और संस्कृत साहित्य में देशी शब्दों के अनुरूप कोई शब्द (प्रतिशब्द) नहीं पाया जाता है ।

प्राचीनकाल में भिन्न-भिन्न प्राकृत भाषाएँ प्रचलित थीं, इस बात का प्रमाण व्यास के महाभारत, भरत के नाट्य शास्त्र और वात्स्यायन के कामसूत्र आदि प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में और जैनो के ज्ञाताधर्मकथा विपाकश्रुत-श्रीपपातिकसूत्र, तथा राजप्रज्ञीय आदि प्राचीन प्राकृत ग्रन्थों में मिलता है ।¹ इन ग्रन्थों में "नाना भाषा, 'देशभाषा' या 'देशी भाषा' शब्द का प्रयोग प्रादेशिक प्राकृत के ही अर्थ में किया गया है । चंड ने अपने प्राकृत व्याकरण में जहाँ देशी प्रसिद्ध² प्राकृत का उल्लेख किया है वहाँ भी देशी शब्द का अर्थ 'देशीभाषा' ही है । ये सब देशी या प्रादेशिक भाषाएँ भिन्न-भिन्न प्रदेशों के निवासी आर्य लोगों की कथ्य भाषाएँ थीं । इन भाषाओं का पञ्जाब और मध्यदेश की कथ्य भाषा के साथ अनेकों अंशों में जैसे सादृश्य या वैसे किसी अंश में भेद भी था । जिस-जिस अंश में इन भाषाओं का पञ्जाब और मध्यदेश की प्राकृत भाषा के साथ मतभेद था उसमें से जिन भिन्न-भिन्न नामों ने और वानुश्लो ने प्राकृत साहित्य में स्थान पाया है वे ही हैं प्राकृत के देशी या देश्य शब्द ।

1 'नानाचममिरान्ठना नानाभाषाश्च भान्ति कुणवादेशभाषासु जन्मन्तोऽन्योन्यप्रसीदन् ।
महाभारत अ प , 46, 103 ॥

अनन्तं प्रवक्ष्यामि देशभाषा विवक्षितम् ।'

अथवा छन्द कार्या देशभाषा प्रदोक्ष्युमि ।' ना शा 17:24:46

नायत सन्धुतदेव नारुत देशभाषया । कथा गोष्ठीयु नयवन्ताके बहुमतो भवेत् ।

कामसूत्र 114:50)

'तत्र न मे भेदे क्यारे अट्टारमविशिष्टगार देसीभाषा विभाग्ये शब्दा ।' 'तत्र न
उपाय नयरीए देवदत्तानाम गणिया पण्डितड अट्टा-अट्टारम देसीभाषा विभाग्ये ।'

॥ ज्ञाताधर्मकथामसूत्र-पत्र 38, 92 ॥

नन्व न वागिय गामे कामज्जयाणाम गणिया ह्तेव्या.... अट्टारस देसीभाषा विभाग्ये ।'

—॥ विपाकश्रुत पत्र 21-22 ॥

'तत्र न दट्टण्णे दारण् अट्टारमदेसीभाषा विभाग्ये ।' —श्रीपपातिक सूत्र पत्र 109 ॥

'तत्र न उ दट्टण्णे दारण् अट्टारमविशिष्टगार भाषा विभाग्ये ।'

राजप्रज्ञीय-पत्र, 148 ।

2 मिथ प्रसिद्ध प्राकृत वेधा विप्रकार भवति-सन्धुतयानि 'सन्धुतमय देशीप्रसिद्ध तत्त्वे-
वृषिद-वृषिद (प्राकृत मक्षण)

प्राकृत-वैयाकरणों ने इन समस्त 'देश्य' शब्दों में अनेक नाम और धातुओं को संस्कृत नामों और धातुओं के स्थान में आदेश द्वारा सिद्ध करके तद्भव विभाग के अन्तर्गत किया है।¹ यही कारण है कि आचार्य हेमचन्द्र ने अपनी "देशीनामा-माला" में केवल देशी नामों का ही संग्रह किया है और देशी धातुओं का अपने प्राकृत व्याकरण में संस्कृत धातुओं के आदेश रूप में उल्लेख किया है, यद्यपि आचार्य हेमचन्द्र के पूर्ववर्ती कई वैयाकरणों ने इनकी गणना देशी धातुओं में की है।² ये सब नाम और धातु संस्कृत के नाम और धातुओं के आदेश रूप में निष्पन्न करने पर भी तद्भव नहीं कहे जा सकते क्योंकि संस्कृत के साथ इनका कुछ भी सादृश्य नहीं है। कोई-कोई पाश्चात्य भाषा तत्त्वज्ञ का यह मत है कि उक्त देशी शब्द और धातु भिन्न-भिन्न देशों की द्रविड मुण्डा आदि अनार्य भाषाओं से लिये गये हैं। यहां पर कहा जा सकता है कि यदि आधुनिक आर्य भाषाओं में इन देशी शब्दों और धातुओं का प्रयोग उपलब्ध हो तो यह अनुमान करना असंगत नहीं है। किन्तु जब तक यह प्रमाणित न हो कि ये देशी शब्द और धातु वर्तमान आर्य भाषाओं में प्रचलित हैं, "तब तक ये शब्द और धातु प्रादेशिक आर्य भाषाओं से गृहीत हुए हैं" यह कहना ही अधिक संगत प्रतीत होता है। "इन आर्य भाषाओं में दो एक देश्य शब्द और धातु प्रचलित होने पर भी" वे अनार्य भाषाओं से प्राकृत में लिये गये हैं" यह अनुमान न कर 'प्राकृत भाषाओं से ही वे देश्य शब्द और धातु अनार्य भाषाओं में गये हैं' यह अनुमान किया जा सकता है। हा जहां ऐसा अनुमान करना असम्भव हो वहां हम यह स्वीकार करने के लिये बाध्य होंगे कि 'ये देश्य शब्द और धातु अनार्य भाषाओं से ही प्राकृत में लिये गये हैं, क्योंकि आर्य और अनार्य ये उभयजातियां जब एक स्थान में मिश्रित हो गयी हैं तब कोई-कोई अनार्य शब्द और धातु का आर्य भाषाओं में प्रवेश करना असंभव नहीं है।'³

इस प्रकार आधुनिक भाषा वैज्ञानिकों की दृष्टि में मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं में प्रचलित 'देशी' शब्द अनादिकाल से सामान्य जन जीवन के बीच व्यवहृत होने वाले शब्द हैं। आधुनिक आर्य भाषाओं की ग्रामीण बोलियों में इनका बहुतायत से पाया जाना यह सिद्ध करता है कि ये भिन्न-भिन्न प्रान्तों की जनसाधारण

1. हेमचन्द्र कृत प्रा व्या के द्वि पा के 127, 129, 134, 136, 138, 141, 174 वगैरह सूत्र तथा चतुर्थपाद के 2, 3, 4 5, 10 11, 12 प्रभृति सूत्र ।'

2. एते चान्येर्देशीषूपठिता अपि अस्माद्धिर्घात्वादेशीकृता (हे प्रा 4, 2) अर्थात् अन्य विद्वानों ने वज्रर, पजर उफाल प्रभृति धातुओं का पाठ देशी में किया है तो भी हमने संस्कृत धातु के आदेश रूप से ही बताये हैं। —पाइअसहमहणवो उपोद्घात, पृ 21-22 की पादटि

3 'पाइअसहमहणवो' प्रथम संस्करण-उपोद्घात, पृ 21-22 ।

के व्यवहार की भाषा के शब्द रहे होंगे। साहित्यिक भाषा का यह स्वभाव होता है कि वह अपने से प्रायः 'ग्रामीण तत्त्वों' को दूर रखती है जैसा कि संस्कृत में देखा जा सकता है। परन्तु ऐसी भाषा बहुत दिन तक नहीं चल पाती वह स्थिर होकर रह जाती है। उभी समय फिर कोई लोक भाषा ऊपर उठकर साहित्यिक भाषा का स्थान ग्रहण करती है। ऐसी ही लोक सम्मत भाषायें प्राकृतें थीं जिनमें अधिकांशतः ग्रामीण तत्व पाये जाते हैं। आ० आ० भाषाओं में इन शब्दों के प्रचलित रूप और वातावरण को देखकर यही निश्चित होता है कि ये अवश्य ही भिन्न-भिन्न प्रान्तों की स्थानीय जातियों के शब्द रहे होंगे। जहाँ तक इनमें आर्योत्तर तत्त्वों के मिश्रण का प्रश्न है यह अत्यन्त विवादास्पद है। इसकी विस्तृत चर्चा एक अलग अध्याय में की जायेगी।

देशी शब्दों का उद्भव और विकास :

'देशी' शब्दों के स्वरूप विवेचन को लेकर अनेक भारतीय और विदेशी विद्वानों के मतमतान्तरों की विस्तृत चर्चा की जा चुकी है। जहाँ तक इनके उद्भव और विकास का प्रश्न है इसे हम दो मोटे कारणों में विभाजित कर सकते हैं—

(1) भाषा वैज्ञानिक कारण

(2) सांस्कृतिक कारण

(1) भाषावैज्ञानिक कारण :

इन्हीं दो भागों में विकसित किया जा सकता है—

(अ) देशी शब्दों का विभिन्न प्रान्तीय बोलिया से उद्भव

(व) देशी शब्दों का आर्योत्तर भाषाओं से उद्भव।

(अ) देशी शब्दों का विभिन्न प्रान्तीय बोलियों से उद्भव .

"देशी" शब्दों का प्राकृत भाषा से घनिष्ठतम सम्बन्ध है। यह ऊपर प्रतिपादित किया जा चुका है। निष्कर्ष रूप में यह भी प्रतिपादित किया जा चुका है कि संस्कृत और साहित्यिक प्राकृतें दोनों ही एक अत्यन्त प्राचीन काल से प्रचलित प्राकृत से निकली हैं। इसे ही ग्रियर्सन प्रभृति विद्वानों ने प्रथम प्राकृत कहा है। यह वेदों की भाषा के निर्माण के पहले से ही प्रचलित जन भाषा रही होगी। इस सिद्धान्त की पुष्टि निम्नलिखित भाषा वैज्ञानिक तथ्यों के आधार पर भी हो जाती है—

(1) साहित्यिक भाषाएँ मदैव ही किसी न किसी बोलचाल की भाषा से विकसित होती हैं और आगे चलकर जब इनका व्याकरण निमित्त हो जाता है

नव ये रुट हो जाती है और इनका विकास रुक जाता है । यहा बोलचाल की भाषा की तुलना किमी लगातार प्रवाहित होने वाली नदी की धारा से की जा सकती है जो निरन्तर अपने प्रवाह को परिवर्तित करती तथा अनेक धाराओं को अपने साथ ले समेटती हुई नवन प्रवाहमान रहती है । दूसरी ओर साहित्यिक भाषा की तुलना कूलमन से की जा सकती है जो एक ही क्षेत्र में स्थिर होकर रह जाता है । उस पर अन्य किमी प्रवाहमानधारा का प्रभाव नहीं पड़ता । इस प्रकार कुए के जल के समान एक निश्चित सीमा क्षेत्र में बद्ध साहित्यिक भाषाओं रूपी जलधारा निरन्तर रुद्ध और गणन्विनित होने के कारण आगे नहीं बढ़ पाती । परन्तु उन्मुक्त नदी की जलधारा के रूप में बोलचाल की भाषा निरन्तर विकास के पथ पर बढ़ती रहती है । इस तरह एक के निश्चित स्थान पर अवरोद्ध रहने तथा दूसरे के नवन विकसमान रहने के कारण दोनों की दूरी बढ़ती जाती है और एक समय ऐसा आ जाता है जबकि दोनों का आपस में कोई सम्बन्ध ही नहीं दिनायी पड़ता । सामान्य भाषाभाषी साहित्यिक भाषा को न समझ पाने के कारण किमी अन्य भाषा के निर्माण में रुत हो जाता है और फिर कोई लोक भाषा आगे आकर साहित्यिक भाषा का रूप धारण कर लेती है और पहले की साहित्यिक भाषा मृतप्राय हो जाती है । भाषा विकास के सिद्धान्त का यह चक्र निरन्तर चलता रहता है ।

भारतीय आर्य भाषाओं संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा आधुनिक प्रादेशिक भाषाओं के विकास में भी भाषा विकास का यही सिद्धान्त कार्य करता है । भिन्न-भिन्न युगों में विकसित होने वाली भारतीय आर्य भाषाएँ एक ही मूल स्रोत (प्रारम्भिक प्राकृत) से विकसित हुई हैं । साहित्यिक भाषाएँ संस्कृत, पालि, अर्ध-मागधी, नाटको की प्राकृत, साहित्यिक अपभ्रंश तथा आ. भा आ भाषाएँ सभी क्रम में अपने युगों में विभिन्न प्रान्तों में बोली जाने वाली प्राकृतों का प्रभाव ग्रहण कर विकसित हुई । भाषाओं के इस प्रकार के तुलनात्मक अध्ययन को देखते हुए वाक्पतिराज¹ और नमिसाधु² के सैकड़ों वर्ष पहले व्यक्त किये गये इस विचार की पुष्टि हो जाती है कि बोलचाल की प्राकृते ही साहित्यिक भाषाओं का मूल आधार है ।

2 वेदों में प्राकृत रूपों की प्राप्ति से भी इस बात की पुष्टि हो जाती है कि इनकी भाषा किसी न किसी बोलचाल की भाषा से विकसित हुई है । जनभाषा

1 मयलाओ इम वाया विसति एत्तो य णेति वायाओ ।

ए ति समुद् चियणेति सायराओच्चिय जलाइ ॥ वाक्पतिराज ॥ गउडवहो ॥93॥

2. काव्यालंकार 2।12 की टीका - 'प्राकृतेतिसकलजगज्जान्तूनाम् ... ॥

या प्राकृत के अनेको रूप वेदों में खोजे जा सकते हैं जो आगे साहित्यिक मस्कृत में परिष्कृत कर दिये गये । कुछ उदाहरण लिये जा सकते हैं—

(1) प्राकृत में संस्कृत ऋ की जगह उ प्राप्त होता है । ऋग्वेद में भी प्राकृतों के अनुरूप ही शब्द मिलते हैं — जैसे कृत कुट (ऋ 1 46।4)

(2) प्राकृत में सयुक्त वर्ण वाले शब्दों में एक व्यंजन का लोप होकर पूर्व का ह्रस्व स्वर दीर्घ हो जाता है जैसे दुर्लभ दूलभ, विश्राम वीमाम । इसी तरह के रूप वेदों में भी देखे जा सकते हैं—

दुर्लभ-दूलभ (ऋ-9-8), दुर्गाश-दूणाश (शु य प्राति 3।43)

(3) संस्कृत के व्यञ्जनान्त शब्दों का प्राकृतों में अन्त्य व्यंजन लोप हो गया है जैसे-तावत् — ताव, यणस्-जस । वैदिक साहित्य में भी यह प्रवृत्ति बहु-तायत में देखी जा सकती है — पञ्चात् पञ्चा (अथ. 10-4-11) उच्चात्-उच्चा (तैत्ति स 2।3।14), नीचात्-नीचा (तैत्ति स 1।2।14)

(4) प्राकृत में सयुक्त य और र का लोप हो जाता है — जैसे प्रगल्भ-पगल्भ ज्यामा-मामा । ये विशेषताएँ वैदिक शब्दों में भी देखी जा सकती हैं । यथा अ-प्रगल्भ-अपगल्भ (तै स 4-5-61) अचत्रिच (शत ब्रा 1।3।3 33) ।

(5) प्राकृत में सयुक्त वर्णों के पूर्व का स्वर ह्रस्व होता है । पात्र पत्र, रात्रि-रनि वेद में भी-रोदमीप्रा-रोदमिप्रा (ऋ 10-88-10), अमात्र-अमत्र (ऋ-3।36।64)

(6) जज्ञा संस्कृत में 'द' ध्वनि होती है, वहा प्राकृतों में अनेको जगह 'ड' ध्वनि पायी जाती है — दण्ड-डट, दोना-डोला । वेदों में भी यह विशेषता खोजी जा सकती है — यया — दुर्लभ-दूडभ (वाज. स 3-36) पुगेदाम पुरोटाश (यज. प्रति 3-44)

(7) प्राकृत में व का ह होता है वधिर-वहिर, व्याव-वाह । वैदिक भाषा में भी यथा प्रतिमहाय-प्रतिमघाय (गो ब्रा 2,4) ऐसा ही है ।

(8) प्राकृत में स्वरानुगम की प्रक्रिया अत्यन्त सामान्य है — क्लिष्ट-क्लिष्ट, न्व मुव । वैदिक भाषा में भी ऐसा देखा जाता है — स्वर्ग-मुवर्ग (तै स 4।2।3), तन्व — तनुवः (तैत्ति आर 7।22।1) स्व-मुव (तैत्तिरीय आरण्यक-6।2।7)

(9) प्राकृत की तरह वैदिक भाषा में भी चतुर्थी के स्थान पर पष्ठी विभक्ति होती है ।¹

1 'चतुर्थ्ये नहुनम् छन्दसि' (अष्टाध्यायी 2।3।62)

(10) प्राकृत पचमी ए. व मे देवा, वच्छा, जिणा आदि रूप होते हैं। वेद मे भी इसी प्रकार उच्चा, नीचा, पश्चा आदि रूप होते हैं।

(11) प्राकृत मे द्वि. व के स्थान पर व. व होता है — वैदिक भाषा मे इस तरह के प्रयोगो की भरमार है यथा इन्द्रावरुणी-इन्द्रावरुणा इसी तरह मित्रावरुणा 'यौ सुरथौ रथितमौ दिविस्पृशावश्विनौ'—“या सुरथा रथीतमा दिविस्पृशा अश्विना। इन सारी समानताओ का देखते हुए यह निश्चित हो जाता है कि सस्कृत और वैदिक सस्कृत दोनो के विकास के मूल मे प्राकृत थी। इस तरह सस्कृत व्याकरणकारो और आलकारिको द्वारा प्राकृत की परिभाषा मे आया हुआ 'तत्' शब्द अलग अर्थ मे लिया गया। यहा तत् का अर्थ सस्कृत न होकर यही 'प्राकृत' है जिससे वैदिक सस्कृत विकसित हुई थी। इस प्रकार प्राकृत (तद्भव) तथा सस्कृत दोनो ही शब्दो का मूल वैदिक कालीन बोलचाल की प्राकृत मे जा पडता है। 'ग्रियर्सन' ने 'देश्य' शब्दो को भी इसी आधार पर 'तद्भव' कहा है। इसका भी मूल स्रोत इन्ही प्राकृतो मे खोजा जा सकता है।

3 प्राकृत की सस्कृत से उत्पत्ति भाषातत्त्व के सिद्धान्त के आधार पर भी ठीक नहीं क्योंकि वैदिक सस्कृत और लौकिक सस्कृत ये दोनो ही अच्छी तरह परिष्कृत और माजित साहित्यिक भाषाए हैं। यह भाषा अशिक्षितो, बालको तथा नारियो को बोधगम्य भी नहीं थी अत इन लोगो की एक अलग ही कथ्य भाषा प्रचलित रही होगी। शिक्षित वर्ग के लोग भी अशिक्षितो से बातचीत करने मे इसी भाषा का प्रयोग करते रहे होंगे। इस आधार पर देखने से पता चलता है कि वैदिक काल मे भी एक या कई कथ्य भाषाए प्रचलित रही होगी। सस्कृत के युग मे तो यह बात नाटको के पात्रो की भाषा देखकर और भी स्पष्ट हो जाती है।

पाणिनि ने अपनी भाषा को लौकिक¹ भाषा कहा है और पतञ्जलि ने इसे शिष्ट भाषा कहा है अर्थात् यह उम समय शिक्षित लोगो की सम्पर्क भाषा थी और शिक्षितो से अलग अशिक्षितो की भी एक भाषा थी — जो उनकी बोलचाल की भाषा रही होगी। इन अशिक्षितो के बीच अपने मन्तव्यो का प्रचार करने के लिए सस्कृत के पण्डित अवश्य ही इनके शब्दो का ग्रहण करते रहे होंगे। कभी कभी इन बोल-चाल के शब्दो को साहित्य मे भी ग्रहण किया जाता रहा

1. पाणिनि द्वारा व्यवहृत 'लोक' शब्द से जनभाषा का भी ग्रहण किया जा सकता है। उनका 'लौकिकाः वैदिकाश्च' कथन प्रचलित जन भाषा तथा शिष्ट वैदिक भाषा दोनो की ओर संकेत करता है। आगे चलकर पण्डितों ने 'लौकिक'का अर्थ साहित्यिक सस्कृत लगा लिया।

होगा परन्तु वहा जाकर वे व्याकरण सम्मत बना लिये गये होंगे। इस कथन की पुष्टि पाणिनि के 'उणादि' प्रकरण के अनेको प्रत्ययों के स्वरूप तथा उनके वातु-पाठ में देशी वातुओं के संस्कृतीकरण को देखकर स्वयं ही हो जानी है। इस प्रकार बहुत प्राचीन काल में ही साहित्यिक भाषाएँ अनेको जनभाषा के शब्दों को ग्रहण करती चली आयी हैं।¹ इतना ही नहीं यदि यह भी कहा जाये कि भिन्न-भिन्न युगों में साहित्यिक भाषाओं का स्वरूप निर्माण इन जन भाषाओं के आचार पर होता आया है तो कोई अत्युक्ति न होगी। यह पहले ही प्रतिपादित किया जा चुका है कि देशी "शब्द और वातुएँ" इन्हीं भिन्न-भिन्न कथ्य भाषाओं में उद्भूत हुई हैं। निष्कर्ष रूप में 'पाइग्रमहमहण्यो' की भूमिका में आया यह कथन उल्लेखनीय है—

"जिन प्रादेशिक देशी भाषाओं में ये सब देशी शब्द प्राकृत साहित्य में गृहीत हुए हैं वे प्रथम स्तर की प्राकृत भाषाओं के अन्तर्गत और उनकी समसामयिक हैं। ख्रिस्त-पूर्व पष्ठ शताब्दी के पहले ये सब देशीभाषाएँ प्रचलित थी, इससे ये 'देश्य' शब्द अर्वाचीन नहीं हैं किन्तु उतने ही प्राचीन हैं जितने वैदिक शब्द।"² इस निष्कर्ष में इतने सशोबन की आवश्यकता है कि अनेक देशी शब्द वैदिक भाषा के समकक्ष हो सकने हैं और तदनन्तर बाहर में आने वाली विभिन्न जातियों के साथ आगत भाषाओं में भी समय-समय पर इन शब्दों की मख्या बढ़ाई है।

(ब) 'देशी' शब्दों का आर्येतर भाषाओं से उद्भव —

आधुनिक भाषा वैज्ञानिकों में अधिकतर यह मानते हैं कि "देशी" शब्दों का उद्भव आर्येतर जातियों की शब्दावली के ग्रहण के कारण हुआ होगा। यह लगभग सर्वमान्य मत है कि आर्यजाति भारत में आक्रमक जाति के रूप में आयी।³ यहाँ आकर इसका सम्पर्क पहले से रहने वाली जातियों से पड़ा होगा। इस सम्पर्क के बीच भाषागत आदान-प्रदान होना सर्वथा संभव है। अतः इन 'देशी' शब्दों में अधिकतर शब्द कोल, मयाल, मुण्डा, निपाद, द्रविड आदि जातियों की भाषा में लिये गये होंगे। ये जानिया आर्यों के भारत आने के पहले ही में यहाँ निवास कर रही थीं। अब हमें आधुनिक प्राच्यविद्याविचारदो के द्वारा व्यक्त किये गये विचारों को देखना है।

प्राकृत और देशी शब्दों के उद्भव के विषय में आर. काल्डवेल³ ने विस्तार-

1 'पाइग्रमहमहण्यो' प्रथम सम्करण—उपोद्धान, पृ. 22

2 भारत का भाषा सर्वेक्षण, खण्ड 1 भाग 1 हिन्दी अनुवाद, डा. उदयनागयण निवारण मूल लेखक सर जार्ज ग्रियसन के पृष्ठ 223 की पाद टिप्पणी नंबर 1।

3 'आर. काल्डवेल' कम्पेण्डिय ग्रामर ऑफ द्रवीडियनलैंग्वेजेज' (लन्डन 1856)

पूर्वक विचार किया है। उनका मत है कि उत्तर भारतीय भाषाएँ सीथियन और द्रविड भाषाओं से प्रभावित हैं। संस्कृत में अनेको शब्द ऐसे पाये जाते हैं जो निश्चित रूप से द्रविड और सीथियन भाषाओं के शब्द हैं। अपने इस सिद्धान्त की पुष्टि में वे तर्क देते हैं कि उत्तर भारतीय भाषाओं के बोलचाल के शब्दों की व्याकरणिक संरचना प्रारम्भ से लेकर अब तक सीथियन प्रभाव से ग्रस्त है। इसमें जो परिवर्तन हुए भी तो तब हुए जब आर्यों की विजय के बाद भाषाओं पर संस्कृत का प्रभुत्व छाता गया। लेकिन यह परिवर्तन शब्दों तक ही सीमित रहा। बोलचाल की भाषा के स्वरूप और उसके व्याकरण पर संस्कृत का विशेष प्रभाव न पड़ सका। आर० कार्लडवेल केवल उत्तरी भारत की बोलचाल की भाषाओं पर ही द्रविड भाषाओं का प्रभाव नहीं देखते, उन्होंने साहित्यिक संस्कृत में भी अनेको द्रविड शब्दों का उल्लेख किया है।¹ उन्होंने कई शब्दों और धातुओं की एक तालिका देकर यह सिद्ध किया है कि ये शब्द निश्चित ही संस्कृत में द्रविड भाषाओं से आये हैं। परन्तु कार्लडवेल का यह कहना कि ये सभी शब्द और धातुएँ द्रविड भाषाओं की हैं एक खुला प्रश्न है। इसके विपरीत जब तक प्राचीन संस्कृत के स्रोतों को खोज कर यह निश्चित नहीं हो जाता कि ये तत्त्व आर्यों के हैं कुछ कहा नहीं जा सकता। ये तत्त्व हो सकता है संस्कृत से ही द्रविड भाषाओं ने ग्रहण किया हो।

आर० कार्लडवेल की इस स्थापना का खण्डन जान वीम्स ने अपने 'कम्पेरेटिव ग्रामर आफ माडर्न आर्यन लैंग्वेजेज' (1872) में किया है। वीम्स का कहना है कि कार्लडवेल² और उनके शिष्यों की यह स्थापना कि भारतीय आर्य भाषाएँ द्रविड प्रभाव से ग्रस्त हैं, भौगोलिक, ऐतिहासिक तथा भाषा वैज्ञानिक तीनों ही दृष्टियों से ठीक नहीं है। यदि भौगोलिक दृष्टि से देखा जाये तो आर्य और द्रविड की जातियों के बीच में मुण्डा जाति की स्थिति है। अतः आर्यों का प्रथम सम्पर्क और उन पर प्रभाव मुण्डा जाति का पड़ना चाहिए न कि द्रविड जाति का, जो कि उनसे काफी दूर थी। जहाँ तक ऐतिहासिक दृष्टि का सम्बन्ध है सबसे पहले यह निश्चय करना होगा कि आर्यों और द्रविडों का सम्पर्क किस समय हुआ। क्या यह सम्पर्क वैदिक युग में हुआ था? या बहुत आगे चलकर मुसलमानों की विजय के बाद? यदि यह सम्पर्क वैदिक युग में हुआ था तो इसकी परम्परा में विकसित पालि, जैनो के धार्मिक साहित्य की भाषा तथा अशोक के अभिलेखों आदि की भाषा सयोगात्मक क्यों रह

1 आर कार्लडवेल 'कम्पेरेटिव ग्रामर आफ द्रविडियन लैंग्वेजेज' (लागमेन्स, लदन,) पृ. 44 भूमिका। 1856।

2 जे वीम्स 'कम्पेरेटिव ग्रामर आफ माडर्न आर्यन लैंग्वेजेज, पृ. 29

गयी। काल्डवेल का कहना है कि आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं पर द्रविड़ भाषाओं का प्रभाव है। आधुनिक आर्य भाषाएँ विश्लेषणात्मक हैं और यह विश्लेषणात्मकता काल्डवेल के अनुसार द्रविड़ प्रभाव है तो यह प्रभाव वैदिक तथा उसकी परम्परा की अन्य मध्यकालीन आर्य भाषाओं पर भी क्यों नहीं पड़ा ? काल्डवेल की यह परिकल्पना भाषा वैज्ञानिक दृष्टि में भी ठीक नहीं लगती। सभी द्रविड़ भाषाएँ संश्लेषणात्मक हैं जबकि आ० आ० भाषाएँ विश्लेषणात्मक प्रवृत्ति से युक्त होते हुए भी संस्कृत की सयोगात्मकता से युक्त हैं। इसमें कुछ निश्चित कारक पर मर्गों का विकास हो गया है लेकिन मूल रूप में ये संस्कृत-परम्परा का ही निर्वाह करती चल रही हैं। कुल मिलाकर आधुनिक आर्य भाषाएँ प्राकृतों की परम्परा में विकसित हैं और प्राकृत भाषा के सयोगात्मक और वियोगात्मक दोनों ही प्रभावों से युक्त हैं। अतः आधुनिक आर्यभाषाओं की संस्कृत से अलग स्वरूपगत और व्याकरणगत विशेषताएँ हैं। आर्य जाति की भाषा प्राकृतों की परम्परा में हैं न कि सीथियन और द्रविड़ भाषाओं की परम्परा में। सयोगात्मकता से वियोगात्मकता की ओर यह विकास कोई नया उदाहरण नहीं, लेकिन (सयोगात्मक) में विकसित इटैलियन, फ्रेंच, स्पेनिश, पोर्चुगीज आदि वियोगात्मक भाषाएँ उदाहरण के रूप में देखी जा सकती हैं। अन्त में यह कहा जा सकता है कि डा० काल्डवेल के मत में वैदिक और लौकिक संस्कृत में अनेकों शब्द द्राविड़ीय भाषाओं से ग्रहण किये गये हैं ठीक नहीं है। क्योंकि द्राविड़ीय भाषा के जिस साहित्य में ये शब्द पाये जाते हैं वह वैदिक साहित्य से प्राचीन नहीं है। हो सकता है ये शब्द आर्य भाषा में द्रविड़ भाषा-भाषियों ने ग्रहण किये हों।

आधुनिक भाषाविदों में कुछ लोगों ने भाषा में पाये जाने वाले 'देशी' शब्दों का सम्बन्ध आर्येतर भाषाओं से बनाया है परन्तु इस ओर बहुत कम ही प्रयास हुआ है। जितने लोगों ने भी थोड़े बहुत शब्दों को आर्येतर भाषाओं से सम्बन्धित करने का प्रयास किया है, उनका प्रयास अब भी मद्दिम बना हुआ है। शब्दों का सादृश्य मात्र दिखा देना पर्याप्त नहीं है। उसके लिए पर्याप्त ऐतिहासिक भौगोलिक तथा भाषा वैज्ञानिक आदानों की आवश्यकता है। भारतीय आर्यों की संस्कृति मिश्रण प्रधान संस्कृति है। जब से यहाँ आर्य आये तब से लेकर अब तक उनका सम्पर्क किसी न किसी नयी जाति में होना रहा है। इस सम्पर्क के बीच आदान-प्रदान सर्वथा सम्भव तथ्य है। भारतीय आर्य भाषाओं ने भी इसी प्रक्रिया से आर्येतर जातियों में बहुत कुछ ग्रहण किया होगा। लेकिन इस प्रक्रिया में इन पर जो भी प्रभाव पड़ा वह अत्यन्त सूक्ष्म है। आर्यों की भाषा प्रारम्भ से ही आर्येतर जातियों की भाषा में मग्न रही है। जो भी प्रभाव उसने दूसरों से ग्रहण किया अपने ढंग से। जहाँ तक 'देशी' शब्दों का सम्बन्ध है सम्भव है कुछ शब्द आर्येतर जातियों से लिये गये हों पर उनके लोगों का ठीक ठीक निर्वाण कर पाना सर्वथा असम्भव है।

“देशीनाममाला” में आये हुए देशी शब्दों में लगभग 800 शब्द आयेतर भाषाओं विशेषतः द्रविड भाषाओं से आये हुए बताये गये हैं। रामानुजन् ने “देशीनाममाला” के अन्त में दिये गये शब्द कोश में द्रविड भाषाओं से मिलते जुलते देशी शब्दों की ओर संकेत कर दिया है। इसी प्रकार ए. एन. उपाध्ये¹ महोदय ने कुछ देशी शब्दों की तुलना कन्नड भाषा के शब्दों से की है। इन अध्ययनों का यह अर्थ विल्कुल ही नहीं है कि ये शब्द तमिल, तेलगु या कन्नड या इसी तरह की अन्य आर्येतर भाषाओं से लिये गये हैं। इन भाषाओं में प्रचलित ये शब्द ही हो सकता है आर्य भाषा-भाषियों से आर्येतर भाषा-भाषियों ने ग्रहण किये हों। उसके विपरीत यदि इन “देशी” शब्दों को आधुनिक भिन्न-भिन्न प्रान्तों में बोली जाने वाली आर्य भाषाओं की बोलियों में ढूँढा जाये तो ये ज्यों के त्यों वहाँ उसी अर्थ में थोड़े रूप परिवर्तन के साथ मिल जाते हैं। इन शब्दों की वास्तविक स्थिति प्रो० विल्सन के निम्न कथन से स्पष्ट हो जाती है —

“A Portion of a primitive, unpolished and scanty speech. the relics of a period prior of civilization, has been calculated amount to one tenth of the whole ”²

इस प्रकार प्रो० विल्सन के अनुसार साहित्यिक भाषाओं में प्रचलित शब्दों का लगभग 1-10 भाग बहुत प्राचीनकाल से आदिम अवस्था के निवासियों में प्रचलित ऊबड़-खाबड़ तथा कर्कश बोलचाल की भाषा का अवशेष है। समय समय पर साहित्यिक भाषाओं में इन अवशेषों का परिष्कार होता रहा है। ऐसे शब्दों का स्रोत कोई भी साहित्यिक भाषा नहीं हो सकती। लोक में प्रचलित परम्पराओं, रीति-रिवाजों तथा सदियों से चली आ रही सामाजिक मान्यताओं से इन शब्दों को संदर्भित किया जा सकता है। देशीनाममाला में प्राप्त होने वाले विशुद्ध “देशी” शब्दों में अविकाश शब्द ‘मराठी’ भाषा की बोलियों से संदर्भित किये गये हैं।³ इसी प्रकार यदि अन्य प्रान्तीय भाषाओं की बोलियों में इन शब्दों को खोजा जाये तो अत्यन्त सुगमतापूर्वक प्राप्त हो जायेंगे। एक बात यहाँ और भी ध्यान देने की है। आचार्य हेमचन्द्र ने अपने देशीकोश का संकलन करते समय प्राकृत की साहित्यिक रचनाओं के अतिरिक्त भिन्न-भिन्न प्रान्तीय बोलियों के आकड़ों को अवश्य

1 A N Upadhye ‘cannaries words in Desi laxeons’ A B O. I R. V XII

2 आर. काल्हेल ‘कम्पेरेटिव ग्रामर ऑफ द्रवीडियन लैंग्वेजेज’ पृ 53 से उद्धृत।

3 पी. एल. वैद्य, आब्जर्वेशन्स ऑन देशीनाममाला एन्स आफ भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट खण्ड 8 पृ 63-71।

रखा होगा। यही कारण है कि इसके कुछ शब्द साहित्यिक प्राकृतों में नहीं प्रयुक्त हुए हैं। ऐसे शब्द अवश्य ही प्रचलित प्रान्तीय बोलियों से लेकर संग्रहीत किये गये होंगे। इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुए विद्वानों द्वारा दिया गया यह तर्क कि “देशी” शब्दों में आर्योत्तर तत्त्व मिले हुए हैं तर्क की कमीटी पर खरा नहीं उतरता। हमारी ओर आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं की बोलियों में इन शब्दों की खोज में यह निश्चित होना जा रहा है कि ये शब्द प्राचीनकाल से जनमाधारण की बोलचाल की भाषा में प्रचलित थे और आज भी उसी वर्ग के लोगों में प्रचलित देखे जा सकते हैं। उदाहरण सहित इस बात का विवेचन प्रस्तुत शोधप्रबन्ध के एक अलग अध्याय में किया जायेगा।

देशी शब्दों के उद्भव और विकास का सांस्कृतिक आधार .

यह पहले ही बताया जा चुका है कि “देशी” शब्द बहुत प्राचीन काल से ही प्रचलित सामान्य बोलचाल की भाषा के रूप में हैं। इन शब्दों के उद्भव और विकास की कहानी मनुष्य सस्कृति के विकास की कहानी है। देशी शब्दों के उद्भव का मूल आर्यों के यहाँ आकर बसने तथा उनका विभिन्न भाषा भाषियों से सम्पर्क होने में निहित है। आर्य सस्कृति बहुत प्रारम्भ से ही ग्राम्य सस्कृति रही है। ‘देशी’ शब्दों का बहुत कुछ सम्बन्ध ग्राम्य सस्कृति से ही है। ये शब्द युग-युगों से सामाजिक आदान-प्रदानों तथा विविध धार्मिक तथा सांस्कृतिक आन्दोलनों के बीच में गुजरते हुए आज की भाषाओं में भी अपने वास्तविक स्वरूप को सजोये हुए हैं।

भारतीय आर्यों की सस्कृति का निर्माण मिश्रण से हुआ है। आर्यों के यहाँ आने के पहले यहाँ प्रमुख रूप में तीन चार आर्योत्तर जातियों का प्रभाव इन पर पड़ा था वे जातियाँ कोल, किरात, मुण्डा और द्रविड़ थीं। निपाद कही जाने वाली आस्ट्रिक जाति भी इन्हीं में शामिल की जा सकती है। इन जातियों से सम्पर्क होते ही आर्यों की सस्कृति में इनकी सस्कृति के अनेकों तत्त्व मिश्रित हो गये। आर्यों के पास एक मजबूत भाषा थी उन्होंने इन आर्योत्तर जातियों के सामाजिक प्रभावों का ग्रहण अपनी भाषा में करने के साथ ही आर्योत्तर जातियों को अपनी भाषा से भी अवगत कराया। धीरे-धीरे आर्योत्तर जातियाँ भी आर्य भाषा भाषी बनती गयीं। उनके अनेकों सामाजिक उपादान आर्य भाषाओं का सहारा लेकर आर्य सस्कृति के बीच समाहित होते गये। यह आपसी आदान-प्रदान धीरे-धीरे अपना वास्तविक रूप आर्य-भाषाओं के अन्तर्गत छिपाता गया। यह काल ‘छान्दम्’ काल रहा होगा। इस समय प्रचलित भिन्न भिन्न स्थानीय बोलियों में आर्य आर्योत्तर तत्त्व एकाकार हो चुके गये होंगे।

‘देशी’ शब्दों के उद्भव के मूल में यही सांस्कृतिक आदान-प्रदान की प्रक्रिया देखी जा सकती है। ‘देशीनाममाला’ में अनेकों शब्द ‘अनुकार शब्द’ (onomatopoeic) हैं। द्राविड तथा निपाद दोनों भाषाओं के अनुकार शब्द उनके एक बहुत महत्वपूर्ण भाग हैं। इसी प्रकार प्रतिध्वनि वाले शब्द भी बहुत कुछ आर्योत्तर ही कहे जा सकते हैं। ये सभी तत्त्व ग्रामीण आर्यों और आर्योत्तर जातियों के सम्पर्क के दृढतर होने के साथ ही दोनों की बोलियों में स्थान पाते गये। जिस वातावरण और जिस अवस्था के लोगो में इन शब्दों का उद्भव हुआ था उसी वातावरण और उन्हीं अवस्थाओं में रहने वाले लोगो के बीच इनका विकास भी आधुनिक आर्य भाषाओं में देखा जा सकता है।

ऊपर बताया गया तथ्य ये सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है कि ‘देशी’ शब्द प्रचुर मात्रा में आर्योत्तर संस्कृति से सम्बन्धित होते हुए भी स्वरूप की दृष्टि से आर्यों की भिन्न भिन्न प्रान्तीय बोलियों के शब्द हैं। ये बोलियाँ आर्य और आर्योत्तर दोनों ही वर्ग के लोगो में प्रचलित रही होगी। इन्हीं बोलियों को ‘प्राथमिक प्राकृत’ कहा गया है। इसी की एक बोली वैदिक ‘छान्दस्’ भाषा के रूप में विकसित हुई थी। वैदिक साहित्य में इन्हीं भिन्न-भिन्न बोलियों के बोलने वाले लोगो को ब्राह्मण, असुर, दस्यु आदि कहा गया है। जब वैदिक भाषा मध्यदेश की साहित्यिक भाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो गयी और वह सामान्य बोलियों से दूर हटती गयी, फिर इन बोलियों ने सिर उठाना प्रारम्भ किया और साहित्यिक भाषा से अलग हटकर ग्रामीण तत्त्वों से युक्त पालि का विकास हुआ। इसी परम्परा में मध्यकालीन प्राकृतों और नव्य भारतीय आर्य भाषाओं का भी विकास हुआ। ये सारी भाषाएँ संस्कृत के प्रभाव से इतनी ग्रस्त रही कि आगे चलकर इन्हे संस्कृत से ही उद्भूत मान लिया गया। लेकिन यह अवस्था केवल साहित्यिक प्राकृतों की थी। प्रत्येक साहित्यिक भाषा के युग में सामान्य बोलचाल की स्थानीय भाषाएँ अपने मूल स्रोत प्राथमिक प्राकृत से जुड़ी रही। आधुनिक आर्य-भाषाओं के सदर्भ में भी यही बात देखी जा सकती है। इन साहित्यिक भाषाओं की बोलियाँ आज भी अपने आप में अनादि काल से चले आ रहे प्राकृत के शब्दों को सजोये हुए हैं। सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या के शब्दों में—

“नव्य भारतीय आर्य भाषाओं तथा बोलियों में ऐसे कई सौ शब्द हैं जिनकी व्युत्पत्ति भारतीय आर्य उद्गमों से नहीं मिलती” हा उनसे प्राकृत पूर्व रूपों का अवश्य सरलतया पुनर्निर्माण किया जा सकता है।”¹

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि 'देशी' शब्द बहुत अनादिकाल से साहित्यिक भाषाओं में प्रविष्ट होकर विकसित होते चले आये हैं। ये अपने अन्तराल में अनेको सांस्कृतिक उथल-पुथल छिपाये आज की भाषाओं में भी विकास प्राप्त कर रहे हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से इन शब्दों का अध्ययन एक रोचक सांस्कृतिक तथ्य का उद्घाटन करता है। वैदिक युग से लेकर साहित्यिक संस्कृत, उसके बाद पालि और साहित्यिक प्राकृतों में, इन्हें बराबर स्थान मिलता रहा है। इन शब्दों में चिरकाल से संचित आर्यों की मिश्रित संस्कृति का इतिहास सुगमतापूर्वक खोजा जा सकता है।



मानक हिन्दी तथा उसकी प्रमुख बोलियों में विकसित देश्य शब्द

आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के मूल में विद्यमान प्राकृत भाषाओं की शब्द सम्पत्ति को वैयाकरणों ने तीन भागों में विभाजित किया है—(1) तत्सम (2) तद्भव तथा (3) देशज। इनमें प्रथम दो वर्ग के शब्दों का विकास व्याकरण सम्मत और सीधे संस्कृत से जुड़ा हुआ है। तृतीय वर्ग के 'देश्य' शब्द सम्पूर्ण भारतीय आर्य भाषाओं की विविध विकासात्मक अवस्थाओं की अनोखी कहानी प्रस्तुत करने वाले हैं। प्राकृतों में आयी हुई, अव्युत्पाद्य 'देश्य' शब्दावली का सम्बन्ध, यहाँ आर्यों से भी पहले रहने वाली जातियों से जोड़ा जा सकता है। ऋग्वेद से लेकर भारतीय आर्य परम्परा की जितनी भी कृतियाँ लिखी गयी या जितनी भाषाएँ बनी, सभी पर 'देश्य' शब्दावली की अमिट छाप है। इसी परिपाटी से आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं प्रमुखतः हिन्दी तथा उसकी प्रमुख बोलियों में भी 'देश्य' शब्दों का व्यवहार होता आ रहा है, यही सिद्ध करना इस अध्याय का प्रमुख विषय है। भारत की राष्ट्रभाषा हिन्दी की तत्सम और तद्भव शब्दावली के अध्ययन के अनेकों प्रयास हो चुके हैं, परन्तु इसमें युग-युगों से व्यवहृत होते आये 'देश्य' शब्दों के अध्ययन के प्रयास लगभग नहीं के बराबर हुए हैं।

आचार्य हेमचन्द्र के 'देशज-कोश' 'देशीनामनाला' के प्रकाशित होने के बाद से ही विद्वानों ने इसमें सकलित शब्दावली का अध्ययन भिन्न-भिन्न दृष्टियों से प्रारम्भ किया। विदेशी विद्वानों में पिशेल, टर्नर आदि ने इन शब्दों का अध्ययन अनार्य भाषाओं के सन्दर्भ में प्रस्तुत किया है। इन देश्य शब्दों में लगभग 700 शब्द

निष्चित रूप से उसी अर्थ में द्रविड तथा अनाय कोल, मुण्डा, सयाल आदि भाषाओं में खोजे जा सकते हैं। इस और प्रयास भी हुए हैं, परन्तु इन शब्दों के विकास को भाषाओं में खोजने का प्रयास कम ही हुआ है। मानक हिन्दी तथा उमकी बोलियों में भी ये शब्द अपना रूप बदल कर या फिर उसी रूप में व्यवहृत हुए हैं यहाँ यहाँ देखना अभीष्ट है।

आज की भाषाओं में 'देशी' शब्दों का विकास दिखाने के पूर्व ऐसे शब्दों की सर्वथा पूर्वसिद्ध प्राचीनता पर विचार कर लेना असंगत न होगा। 'देशी' शब्द अत्यन्त प्राचीनकाल से ही असम्य और अशिक्षित वर्ग के बीच प्रयुक्त होते रहे हैं। स्वयं ऋग्वेद, जो आर्यों का प्राचीनतम प्रामाणिक ग्रन्थ है — उसे देखने से स्पष्ट हो जाता है कि दो तरह की भाषाएँ उस युग में भी थीं। ऋग्वेद प्रथम मण्डल तथा दशम मण्डल की भाषा द्वितीय से अष्टम मण्डल तक की भाषा से सर्वथा अलग रूप में देखी जा सकती है। प्रो० विल्सन ने अपनी "एन ओरिजन ऑफ़ इण्डिया" नामक पुस्तक में एक स्थान पर लिखा है कि भारत में आर्य सम्यता के उदय से पहले ही जो भाषाएँ, यहाँ विद्यमान थी उनका लगभग 10 वा भाग वाद की सभी भाषाओं में प्राप्त होता है।'

प्रो० विल्सन के इस तथ्य पूर्ण कथन को ध्यान में रखते हुए यदि हम महर्षि पाणिनि के लौकिक तथा वैदिक भाषा के व्याकरण-ग्रन्थ 'अष्टाध्यायी' को देखें तो कुछ स्पष्ट तथ्य नज़र भी मिलेंगे। पाणिनि के समय में भी शिक्षितों की भाषा में अलग हटकर कुछ भाषाएँ थी जिन्हें अधिकारी विद्वानों ने 'प्राकृत' (अशिक्षित लोगों की) भाषा कहा है। इस बात का समर्थन पतञ्जलि और भरत भी करते हैं। पाणिनि के वातुपाठ में कई वातुएँ ऐसी आयी हैं जिनका प्रयोग उनके पूर्व की साहित्यिक भाषा में नहीं मिलता। इन वातुओं का विकास आश्चर्यजनक रूप से आधुनिक आर्य-भाषाओं विशेषतया हिन्दी में मिलता है, परन्तु साहित्यिक सस्कृत में इनका प्रयोग कम ही हुआ है। कुछ वातुएँ द्रष्टव्य हैं—

(1) अङ्-अभियोगे-सिद्धान्त कौमुदी 11371—हिन्दी में 'अङना' क्रिया पद।

(2) कङ् कार्कण्ये — मि. को 11372 हिन्दी में 'कड़ा' विशेषण पद।

1 "A Portion of a primitive unpolished and scanty speech, the relics of a period prior to civilization had been calculated to amount one tenth of the speech on the whole."

(3) कुट् शब्दे सि को-6173 हिन्दी 'कुट्-कुट करना' - यह घातु नेपाली और कुमायु नी क्वीरा और क्वीडा (वात) के मूल में आज भी है।

(4) घृणि-ग्रहणे¹, सि को 11461 - प्राकृत में गेण्हइ, घेण्हइ आदि रूप इसी से विकसित हैं।

(5) घृण-भ्रमणे - सि की. 1 464 - हिन्दी 'धूमना' क्रिया इसी से।

(6) चक् तृप्तो - सि को 1193 - हिन्दी के 'छकना' तथा 'चकाचक' आदि पद इसी से आए होंगे।

(7) चप् मान्त्वने - सि. को 11426 - हिन्दी 'चुप' पद का मूल

(8) जमु अदने - सि की 11426 - हिन्दी जमना (जमकर खाना) या जीमना आदि

(9) चुण्ट छेदने - वही, 81347 - हिन्दी का 'च्यूटी' पद।

(10) जुडा बन्वने - वही 6137 - 'जुडा' 'जोड़ना' आदि क्रिया पद।

(11) टङ्क - बन्धर्थे - वही 10197 - हिन्दी के टाँका लगाना 'टाँकना' आदि पद।

(12) टङ्ग, गत्यर्थे - वही 11887 - 'टांग' या 'टाँगना' पद।

(13) घीर्-गतिचातुर्ये - वही 11585 - हिन्दी 'दीडना' अवधी 'घोड़ना' क्रियापद इसी से विकसित होंगे।

(14) पेल् गतौ - सि को 11574 - हिन्दी - 'पेलना', रेल, पेल, इत्यादि पद।

(15) वाड आप्लावे - वही 11306 - हिन्दी 'वाढ' पद।

(16) मस्क् गत्यर्थे - वही - 11102 - 'मसकना' (अवधी) (टससे) मस।

(17) हिङ् गत्यर्थे - वही 11287 - बगला-हाटा तथा कुमायु नी 'हिङ्णो' आदि के मूल में।

(18) जिमु अदने - वही-11500 - जेवना (अवधी तथा ब्रज, मारवाडी-जेवणे सथाली-जाम। कुर्कू-जोम। जुआग-जिम। सवर-जम।

1. घृणि - घृणि ग्रहणे-क्रमशः सि को. - 11462 - 11463।

ऊपर गिनाये गये ये कुछ आख्यात पद सस्कृत में न के बराबर प्रयुक्त होते हैं । आगे लोक भाषाओं के सहारे विकसित होने वाली प्राकृत तथा उसकी अन्य सह-चारिणी भाषाओं में ये धातुएं प्रयुक्त होती रही और कालक्रम से आधुनिक आर्य भाषा में अपने उसी अर्थ में प्रचलित हैं । महर्षि पाणिनि की अष्टाध्यायी में प्रयुक्त होने मात्र से ये शब्द सस्कृत-योनि नहीं होंगे, फिर पाणिनि तो स्वयं ही 'लौकिक' एवं वैदिक भाषा का व्याकरण रचने की प्रतिज्ञा करते हैं । बाद में यदि 'लौकिक' का अर्थ 'साहित्यिक सस्कृत भाषा' हो गया तो इसमें पाणिनि का दोष नहीं । आधुनिक भाषा वैज्ञानिकों में यह मान्यता जड़ पकड़ती जा रही है कि सस्कृत ऐसी भाषा है जिसको सस्कार (सुवार) कर उसे खूब ठोका-पीटा गया है । इस कार्य में पाणिनि ने सबसे अधिक योग दिया । इसी प्रक्रिया के बीच कितने ही लोक भाषाओं के शब्दों पर सस्कृत की मुहर लगायी गयी ।

इसी तथ्य को दूसरे रूप में भी देखा जा सकता है । महर्षि पाणिनि के पहले तथा बाद की भाषा में कुछ विलक्षणताएं स्पष्ट ही परिलक्षित की जा सकती हैं । सस्कृत-भाषा की लम्बी परम्परा में कुछ शब्द ऐसे आते हैं जो व्यवहृत तो एक ही अर्थ में हुए हैं, परन्तु उनकी स्थिति स्पष्ट रूप से अलग-अलग है । सस्कृत में 'घोडे' के लिए घोटक और 'अश्व' दो शब्द मिलते हैं । तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर पता चलता है कि 'घोटक' शब्द आर्यतर भाषाओं से सम्बद्ध है — तमिल में 'कुदिरै', कन्नड़ में 'कुदरे' तथा 'कोटा' में भी 'कुदरे' मिलता है । इन भाषाओं में प्राप्त होने के कारण यह स्पष्ट ही आर्यतर भाषा (द्रविड भाषा) से लिया गया है । दोनों शब्द 'घोटक' और 'अश्व' साथ-साथ व्यवहृत होते रहे । स्थिति के अनुसार प्रथम लोक-भाषा में आया हुआ शब्द रहा होगा और द्वितीय शिक्षितों की भाषा का शब्द रहा होगा । शिक्षितों का 'अश्व' शब्द आज हिन्दी में भी उसी वर्ग के लोगों का शब्द है — जब कि 'घोटक' ७ घोडअ ७ घोडा आदि रूपों में परिवर्तित होता हुआ सामान्यजनों द्वारा व्यवहृत होना है । इसी प्रकार कुत्ते के लिए 'कुक्कुर' और 'श्वान' दो शब्द हैं । विल्ली के लिए 'विलाड' और 'मार्जारी' दो शब्द व्यवहृत होते रहे हैं । यदि इन साथ-साथ चलने वाले शब्दों का विकासक्रम लक्षित किया जाये तो देखने में आयेगा कि वैदिक युग में चलने वाले प्राकृत जनो द्वारा व्यवहृत अनेको पद बहुत थोड़े ध्वनि परिवर्तन या रूप परिवर्तन के साथ आज भी चल रहे हैं । आचार्य त्रेमचन्द्र की 'देशीनाममाला' में ऐसे अनेको पद हैं जिनका आधुनिक आर्य-भाषाओं विशेषतः मानक हिन्दी में विकास, एक अनोखी भाषा-शास्त्रीय कहानी उपनिप्त करता है । मानक हिन्दी का शब्द भण्डार विविध भाषाओं के मेल से बना

है। इसमें निहित विदेशी तत्त्वों को पहिचान लेना सरल है, परन्तु परम्परा से चली आती हुई 'देश्य' शब्दावली को पहिचान पाना एक अत्यन्त दुरूह कार्य है। हिन्दी में कितने ही ऐसे 'देशज' शब्द हैं — जिन्हें भ्रान्तिवश सस्कृत से उद्भूत और तद्भव मान लिया जाता है। मानक हिन्दी के ऐसे ही कुछ शब्दों पर प्रकाश डाला जायेगा जो युग युगों से भारतीय आर्य भाषाओं की सम्पत्ति रहे और आज भी भाषा के शब्द भण्डार को समृद्ध बना रहे हैं। जिन शब्दों का यहाँ उल्लेख किया जायेगा उन्हें आचार्य हेमचन्द्र ने 'देश्य' मान कर अपने कोश ग्रन्थ 'देशीनाम-माला' में नकनित किया है।

१. अघ्राणो — विशेषण पद) — दे० ना० मा० १-१९ यह शब्द हिन्दी में 'अघाना अवधी में अघान ब्रजभाषा में 'अघाना' 'अघानो' आदि क्रिया पदों के रूप में विकसित है। आचार्य हेमचन्द्र इस शब्द को देश्य मानते हैं। परन्तु शब्द की स्थिति और रूपात्मक विकास दोनों अलग कहानी कहते हैं। जहाँ तक इस शब्द की स्थिति का प्रश्न है वह लोक भाषा का शब्द है। साहित्यिक हिन्दी में 'अघाना' क्रिया का प्रयोग लगभग नहीं ही होता है। इसके स्थान पर 'तृप्त होना' आदि पर व्यवहृत होते हैं। लोक भाषाओं और बोलियों में 'देशी' शब्द प्रचुर-मात्रा में है यह बात सिद्ध हो चुकी है। यह तो एक पक्ष हुआ। दूसरी ओर यदि इस शब्द को 'मस्कृत' के 'आघ्राण' पद में व्युत्पन्न माना जाये तो खीचतान करनी पड़ेगी। 'आघ्राण' का अर्थ है — 'नाक तक भरकर' इसका लाक्षणिक अर्थ ही तुष्टिवाचक होगा। ऐसी स्थिति में इस शब्द के सांस्कृतिक परिवेश के ही आधार पर इसकी बोटि का निर्धारण किया जाना चाहिए। इस कसौटी पर यह 'देश्य' ही ठहरता है। 'अघ्राण' शब्द से 'अघाना' क्रिया का विकास रूपात्मक विकास की दृष्टि में भी सही दिशा में है — अवधी में — 'अघाइ के खावा' 'अघान अहै' आदि रूपों में इसका व्यवहार देखा जा सकता है।

उपर्युक्त शब्द विवेचन के बीच एक बात विज्ञानों को खटक सकती है, वह यह कि यदि कोई शब्द सस्कृत भाषा में विद्यमान है तो उसे 'देश्य' बताने का आग्रह हम क्यों करें? इस प्रश्न पर विचार करते समय इस तथ्य को ध्यान में रखना होगा कि कोई भी साहित्यिक भाषा लोक भाषा के स्तर से ऊँच कर ही साहित्यिक भाषा बनती है — ऐसी स्थिति सस्कृत की भी रही है। स्वयं महर्षि पाणिनि ने व्याकरण ग्रन्थ अष्टाध्यायी में कितने ही शब्द ऐसे आये हैं — जिनका उद्गम लोक-भाषाओं में खोजा जा सकता है। पाणिनि के धातुपाठ में 'देश्य' तत्त्वों की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। अष्टाध्यायी के उणादि प्रत्यय भी बहुत कुछ इसी तथ्य की

योग नकेत करते हैं। संस्कृत एक ऐसी भाषा है जिसका पाणिनि जैसे वैयाकरणों ने सस्कार किया। इस क्रिया में कितनी ही 'देय्य' शब्दावली संस्कृत हो उठी। इसका मकेन पहले भी किया गया है।

(2) अंगालिभ्रं — (सजा पद) डलु ण्ड — दे. ना मा 1-28 — ड गाली -1-79-ये दोनों शब्द — डलु के ऊपरी भाग-जिसमें उसकी पत्तियाँ आदि रहती हैं, के अर्थ में व्यवहृत हुए हैं। अवधी का 'अगोरी' या 'अगौरी' पद तथा ब्रजभाषा और भोजपुरी में 'अंगोला' पद इन्हीं शब्दों के विकसित रूप हैं। इस शब्द का संस्कृत के 'अग्र' शब्द से भी व्युत्पन्न किया जा सकता है, परन्तु ऊपर कही गयी बातों को ध्यान में रखते हुए यह उपयुक्त नहीं होगा।

(3) अच्छं (विशेषण) — अत्यर्थ दे. ना मा 1-49 — हिन्दी का 'अच्छा' विशेषण पद जो कि 'मुन्दर' का अर्थ देता है तथा बोलने में जो भिन्न-भिन्न मनोभावों के घोटन के लिए प्रयुक्त होता है, इसी पद का विकसित रूप होगा।

(4) अच्छिद्विअच्छी (संज्ञा) — परस्परमाङ्गप्रेराम्-दे. ना मा.-1141 — यह एक ऐसे खेल का अर्थ देने वाला शब्द है जिसमें खेलने वाले परस्पर एक दूसरे को चींचते हैं। हिन्दी में प्रचलित बच्चों के खेल का अर्थ देने वाले 'आव-मिचौनी' पद को इसका विकसित रूप माना जा सकता है क्योंकि दोनों शब्द खेल वाचक हैं। खेल की प्राचीन प्रक्रिया और आज की प्रक्रिया में भेद हो सकता है पर है दोनों एक ही।

(5) अजराउर — (संज्ञापद) उणाम् दे. ना मा - 1 45 — अवधी में जाड़े में प्रयुक्त होने वाली गर्म और मोटे कपड़े को 'जडावर' कहा जाता है। 'जडावर' शब्द निश्चित रूप से 'अजराउर' शब्द का ही विकसित रूप होगा। समय की लम्बी यात्रा के बीच उणातावाचक यह पद गर्म कपड़ों के लिए प्रयुक्त होने लगा होगा। अन्यात्मक परिवर्तन की दृष्टि में आदि स्वर का लुप्त हो जाना या 'र' का 'ड' हो जाना लोक भाषाओं की स्वयम् क्रिया है।

(6) अत्यर्घं तथा अत्याह — अगाध (विशेषण) — दे. ना मा 1-54 — हिन्दी तथा उसकी सभी बोलियों में यह शब्द — थोड़े परिवर्तन के साथ 'अयाह' पद के रूप में जानी की न नापी जा सकने वाली गहराई के अर्थ में प्रयुक्त होता है। संस्कृत के 'अगाध' शब्द से 'अयाह' पद का विकास मानना, वनिपरिवर्तन की दृष्टि में उचित नहीं होगा।

(7) अल्लट-पल्लट — 'अल्लट परिवर्तन' (संज्ञापद) दे. ना मा 1-48-यह शब्द थोड़े विकार के साथ हिन्दी में अलट-पलट या उलट-गुलट तथा अवधी में

‘उलुटु-पुलुट’ के रूप में व्यवहृत हो रहा है। अवध के कुछ ग्रामीण क्षेत्रों में इसका प्रयोग ‘उलाट-पुलाट’ के रूप में भी होता है।

(8) अवपुसिओ — सघटित (विशेषण) दे ना मा 1-48 — यह हिन्दी में ‘आपस’ तथा अवधी में ‘आपुस’ के रूप में विकसित होकर प्रयुक्त हो रहा है। ध्वनि परिवर्तन की दृष्टि से अवधी का ‘आपुस’ इसके अधिक समीप है। अब 7 आ। अवधी में ‘प्’ का ‘उ’ स्वर सुरक्षित है जब कि हिन्दी में इसका सस्कार किया गया और ‘देशी’ प्रकृति हटाने के लिए प् के ‘उ’ का ‘अ’ कर दिया गया है।

(9) असियं¹—दात्रम् (सज्ञापद) दे ना मा 1-14—फल शब्द आदि की कटाई के लिए लोहे का बना हुआ धारदार औजार विशेष। हिन्दी तथा अवधी में ‘हँसिया ब्रजभाषा ‘असि’ आदि पद इसी के विकसित रूप होंगे। अवधी में प्रायः स्वरों का महाप्राणीकरण देखा जाता है — जैसे ‘अइसन’ और ‘हइसन’ दोनों ही पदों का व्यवहार होना है। हेमचन्द्र द्वारा दिये गये अर्थ से भी इसकी पर्याप्त समानता है।

(10) आऊरुं — अतिशय (अधिकतावाची) (सर्वनामपद) दे ना मा 1176 — यह शब्द हिन्दी में ‘और’ अवधी में ‘अउर’ आदि रूपों में विकसित है। हिन्दी तथा इसकी अन्य बोलियों में इस शब्द का प्रयोग दो अर्थों में होता है — एक अधिकतावाचक सर्वनाम के रूप में जैसे और दीजिए, दूसरा सम्बन्ध बोधक अव्यय के रूप में जहाँ पर इसे अंग्रेजी के ‘एण्ड’ (And) का स्थानीय समझा जा सकता है। हमें अधिकतावाची सर्वनाम पद ‘और’ को ही लेना है। हिन्दी का ‘और’ तथा अवधी का ‘अउर’ दोनों ही पद ‘आऊर’ के विकास होंगे। अर्थ की दृष्टि से अंग्रेजी के एण्ड (And) का स्थानवाची सवधवाचक अव्ययपद ‘और’ संस्कृत ‘अपर’ शब्द का विकृत या तद्भव रूप है।

(11) आहु-उलूक सज्ञा पद) दे ना. मा 1-61 — हिन्दी तथा उसकी लगभग सभी ग्रामीण बोलियों में व्यवहृत होने वाला ‘हौवा’ या ‘हउआ’ शब्द इसी से विकसित माना जा सकता है। इसका व्यवहार प्रायः ‘डरावना’ जीव के अर्थ में होता है। उल्लू नामक पक्षी स्वभाव से भीरु होते हुए भी आकृति से बहुत अधिक डरावना होता है। ‘आहु’ से ‘हौवा’ या ‘हउआ’ शब्द का विकास-भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से ‘वर्णविपर्यय’ के अन्तर्गत रखा जा सकता है।

¹ 1 संस्कृत के ‘असि’ (तलवार) तथा ‘असित’ (काला या अपवित्र) शब्दों से भी इसे व्युत्पन्न किया जा सकता है। इसके विपरीत यह भी सम्भावना है कि यह लोक भाषा का शब्द रहा हो और बाद में साहित्यिक संस्कृत में प्रयुक्त होने लगा हो।

(12) उक्कामिआ—उत्थित—(विशेषण पद) दे. ना. मा. 1-114 हिन्दी 'उकमाना' ब्रजभाषा 'उकमन' 'उकमनि' तथा अवधी 'उमकाना' या 'हुसकाना' आदि पद इसी में विकसित हुए होंगे। विक्राम की इस प्रक्रिया के अन्तराल में अर्थ साम्य और ध्वनि-साम्य दोनों ही परिलक्षित किया जा सकता है। उक्कामि-उक्काम-उकस 'ना' हिन्दी का क्रियावाची प्रत्यय - उकमाना। अवधी में वर्ण विपर्यय से उकमाना-उसकाना-हुसकाना।

(13) उक्खली — पिठर (मजापद) दे. ना. मा. 1188 — अवधी में 'ओखरी', राजस्थानी ब्रजभाषा और भोजपुरी में 'ओखरी' 'उखली' 'ओखरी' और 'ओखड़ी' तथा बुन्देली में 'उखरी' शब्द 'उक्खली' शब्द के ही विकसित रूप हैं।

(14) उक्कुडो — मत्त (मजापद) दे. ना. मा. 1-91 — हेमचन्द्र ने उमका अर्थ मदमत्त या घमण्डी बताया है। हिन्दी तथा उमकी सभी बोलियों में व्यवहृत 'गुण्डा'¹ शब्द इस शब्द का विकसित रूप कहा जा सकता है। क् का गु में परिवर्तन तथा प्रारम्भिक स्वर का लोप सव्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं के लिए सामान्य बातें हैं। उक्कुड तथा उमके विकसित रूप 'गुण्डा' दोनों का ही सम्बन्ध यहाँ बहुत प्राचीन काल में रहने वाली वंश एव स्वेच्छाचारिणी 'गोड' जाति से जोड़ा जा सकता है। हेमचन्द्र ने इसी आशय का एक अन्य शब्द 'गुन्दा' (दे. ना. मा. 2-110) अवम या नीच के अर्थ में दिया है। अवधी में 'गोन्द' या 'गुन्द' शब्द मिपाही के अर्थ में आया है। राजवराने के मिपाहियों का स्वेच्छाचार और उनकी दुष्टता सर्वविदित है। हो सकता है बाद में अत्याचारी मिपाहियों के समान ही आचरण करने वाले व्यक्ति का नाम भी 'गोद' या इसी का विकसित रूप 'गुण्डा' पड़ गया हो। मेरी दृष्टि में 'गोड' जाति में इसका सम्बन्ध दिखाना उचित होगा।

(15) उच्छटो, उच्छटो — वृत्चोयम्, चोर (मजापद) दे. ना. मा. 1-101 ये दोनों शब्द चोरी करने में अत्यन्त पटु व्यक्ति के अर्थ में आये हैं। हिन्दी का 'छेड़ा' शब्द — (जैमं) छेड़ा हुआ वदमाण) स्पष्ट ही इन दोनों शब्दों में विकसित हुआ होगा।

(16) उच्छुअं — भयचोयम् (मजापद) दे. ना. मा. 1195 — चोरी करने समय भयभीत रहने वाले व्यक्ति का अर्थ देने वाला यह शब्द 'ओचा' पद के

1 ब्रजभाषा गुरुकोष, पृ. 400 पर 'गुण्डा' शब्द को संस्कृत के 'गुण्डक' (मत्त) शब्द से व्युत्पन्न बताया गया है। 'गुण्डा' शब्द की यह व्युत्पत्ति केवल व्युत्पत्ति दिखाने के लिए ही दी गयी उगती है। संस्कृत का 'गुण्डर' शब्द भी 'दण्ड' प्रकृति का है। इस शब्द को भी टोंक पोटकर संस्कार युक्त किया गया होगा। मूल रूप से यह शब्द 'दण्ड' है तद्भव नहीं।

रूप में हिन्दी तथा उसकी लगभग सभी बोलियों में प्रचलित है। यद्यपि इसका अर्थ दुष्ट, धोखेबाज आदि हो गया है, फिर भी इस शब्द के अन्तराल में निहित कायरता का आभास इसे 'उच्छुअ' के अर्थ से बहुत दूर नहीं ले जाता। ध्वन्यात्मक विकास भी सही दिशा में है। उच्छुअ 7 ओच्छह□ (उद्भोति) ओछा।

(17) उच्छवियं — शयनीयम् (सज्ञापद) दे ना. मा. 1-103 — विस्तर का अर्थ देने वाला यह शब्द अवधी में बिछौना, ब्रजभाषा में बिछौन तथा बिछौना एवं हिन्दी की अन्य बोलियों में भी इन्हीं रूपों में विकसित देखा जा सकता है।

(18) उज्जडं — उद्गमम् (विशेषण पद) दे ना. मा. 1-96 हिन्दी में 'उजाड़' 'ऊजड़' अवधी में ऊजर, ब्रजभाषा में 'उजार' आदि रूपों में इस शब्द का विकास देखा जा सकता है। हेमचन्द्र ने इसका प्रयोग 'सुनसान स्थान' के अर्थ में किया है। हिन्दी तथा उसकी बोलियों में भी इसका यह अर्थ सुरक्षित है। भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से उ का र् या ड में परिवर्तन हिन्दी तथा उसकी बोलियों में बहुतायत से देखा जाता है।

(19) उज्जमणं — पलायनम् — (सज्ञापद) दे ना. मा. 1-103 — हिन्दी तथा उसकी बोलियों में व्यवहृत होने वाला त्वरावाचक 'भ्रम' शब्द इसी शब्द से विकसित होगा। जैसे 'भ्रम से उठा लिया', 'भ्रम से भागा' 'भ्रमकि भरोके भाकि' आदि।

(20) उडिदो — मापघान्यम् — (सज्ञापद) दे ना. मा. 1-98 — यह शब्द खड़ी बोली तथा ब्रजभाषा से 'उडद', अवधी और भोजपुरी से 'उरिद' बुन्देली में 'उरदन' गुजराती में 'अडद' तथा राजस्थानी में 'उडिद' या 'उडद' के रूप में विकसित है। यह अपनी प्रारम्भिक अवस्था से दो दाल वाले बीज विशेष का वाचक रहा है और आज भी उसी अर्थ में प्रचलित है।

(21) उड्डसो — मत्कुरा (सज्ञापद) दे ना. मा. 1-96 — भोजपुरी में 'उडिस' या 'उडीस', वगला और मैथिली में 'उडीस' के रूप में विकसित यह शब्द आज भी 'खटमल' का वाचक है।

(22) उत्थल्लपत्थल्ला (सज्ञापद) — (ओत्थल्लपत्थल्ला)¹ पार्श्वद्वयेन परिवर्तनम् दे ना. मा. 1।122 हिन्दी में 'उथल-पुथल' शब्द इसी का विकसित रूप है। गुजराती में यह शब्द 'उथल-पाथल' के रूप में प्रचलित है।²

1 'उत्तओति' से।

2 हेमचन्द्र द्वारा दिया गया 'उत्थल्लपत्थल्ला' शब्द एक स्थूल क्रिया 'इधर-उधर बार-बार उलटना' का द्योतक है। हिन्दी में यह 'उथल पुथल' के रूप में 'हलचल' वाची होकर सूक्ष्म अर्थ देने लगा है। शब्दों के इस अर्थविकास के अन्तराल में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण तथ्य निहित है। पहले अशिक्षित वर्ग में प्रचलित 'देशी' शब्द स्थूल क्रियाओं का ही अर्थ देते रहे होंगे परन्तु सभ्यता और शिक्षा के विकास के साथ ही उन्हीं शब्दों में अर्थ गौरव आया। अभिधा के बाद लक्षणा फिर व्यञ्जना और ध्वनि जैसी शब्द शक्तियाँ सभ्य सुशिक्षित मनुष्य का विकास लगती हैं। आदि युग का मानव और उसकी भाषा दोनों ही अभिधावादी रहे होंगे।

(22क) उव्वुक्क-प्रलपित — (सज्ञापद) दे ना मा 1-128 — हिन्दी तथा उसकी सभी बोलियों में प्रचलित 'बुक्का' शब्द जैसे 'बुक्का फाड़कर रोना,' इसी शब्द से सम्बन्धित है ।

(23) उम्मडा — (मज्ञा) बलात्कार — दे ना मा. 1-97 — हिन्दी तथा उसकी सभी बोलियों में प्रचलित 'समड' विशेषण पद या 'उमडना' क्रिया पद इसी से विकसित होंगे । जैसे 'समड-घुमड' कर बरसना 'नदी खूब उमड कर बह रही है' आदि । इन दोनों ही प्रयोगों के कारण अन्तराल में 'बलात्कारेण कार्य सम्पन्न होने की भावना निहित देखी जा सकती है ।

(24) उव्वाओ-खिन्नार्थः—दे ना मा -1-102-ब्रजभाषा और अवधी की 'ऊवना' क्रिया भोजपुरी की 'उवना' क्रिया या ऊवना इसी शब्द से विकसित होगी । अवधी कोश में इस क्रिया को 'ओवा' नामक बीमारी से सम्बद्ध बताया गया है । 'ओवा' नामक बीमारी से भी लोग बहुत अधिक घबरा उठते हैं, फिर भी इससे 'ऊवना' क्रिया का सम्बन्ध बनाना उपयुक्त नहीं है । 'ओवा' पद आज भी अवधी और भोजपुरी में 'ओवा' (भयानक आपत्ति जो एकाएक आती है) के रूप में प्रचलित है । अतः 'ओवा' से 'ऊवना' क्रिया का सम्बन्ध जोड़ना ठीक नहीं । दूसरी ओर यदि इसे तद्भव मानकर संस्कृत के 'उदस' शब्द से व्युत्पन्न बताया जाये तो भी अनेकों कठिनाइयाँ आयेंगी । हिन्दी का 'ऊवना' या 'उवाऊ' शब्द 'दिश्य' 'उव्वाओ' के अधिक समीप है ।

(25) ओच्छिन्नः—केशविचरणम् दे ना मा -1-150-ब्रजभाषा में ओछना तथा अवधी में 'ओडछना' क्रिया पदों के रूप में इसका विकास देखा जा सकता है । ब्रजभाषा में इसका मूल अर्थ 'वाल-भाड़ना' सुरक्षित है — मूल्दाम ने 'ओछन गुहन' आदि रूपों में इसका प्रयोग किया है । अवधी में इसका थोड़ा अर्थ विकास हो गया है — जैसे 'गइया कोएर ओडछ लइ गइ ।' यहाँ ओडछना पद 'कोई वस्तु भटके से खींच लेने' का अर्थ देता है । वाल भी खींच और भटक कर ही माफ किये जाते हैं । क्रिया वही है मात्र अर्थ विकास से विशिष्ट न रह कर सामान्य बन गयी है । अब फिर प्रश्न उठता है कि यह शब्द 'दिशज' कैसे है — य में भी 'उछि' — (मि को 1-230) — क्रिया विद्यमान है । उसका भी अर्थ 'पोछना' या 'माफ करना है', फिर इस शब्द को इसी धातु से व्युत्पन्न क्यों न किया जाय । इस विवाद को मिटाने के लिए हमें अन्य आर्य पूर्व भारतीय भाषाओं की ओर जाना पड़ेगा । यह शब्द तमिल में उरिञ्जु (साफ करना, मिटाना) कन्नड में 'उञ्जु' के रूप में मिलता है । संस्कृत के पहले की भाषाओं के

इस शब्द की विद्यमानता यह सिद्ध करती है कि यह शब्द संस्कृत शब्द भण्डार की अपनी वस्तु न होकर अप्रहृत है। इसका प्रमाण इसी अध्याय में पहले भी दिया जा चुका है। ऐसी स्थिति में इसे तद्भव न मानकर 'देशज' मानना ही अधिक उपयुक्त होगा।

(26) ओज्झरी (सज्ञापद) - दे ना मा. 1-157 - हेमचन्द्र ने इस शब्द का प्रयोग 'गर्भाशय तो ढके रहनी वाली पतली फिल्ली' के अर्थ में किया है। अवधी, भोजपुरी तथा 'ब्रजभाषा' तथा हिन्दी की अन्य सभी ग्रामीण बोलियों में यह शब्द 'ओझरी' के रूप में थोड़े ध्वनि विकार के साथ ज्यों का त्यों प्रचलित है अर्थ भी वही है जो हेमचन्द्र ने दिया है। 'ओझर' या 'ओझल' शब्द जो छिपने के अर्थ में चलने हैं उनका भी सम्बन्ध इस शब्द से जोड़ा जा सकता है।

(27) ओढ्ढणं — उत्तरीयम् - दे ना मा. 1-155 - ब्रजभाषा-ओढ्ढनि, ओढ्ढनी अवधी 'ओढ्ढनी' तथा 'ओढ्ढना, इसी शब्द के विकसित रूप होंगे। ब्रजभाषा में यह दुपट्टा (उत्तरीयवाची) ही है। अवधी में यह सज्ञा (ओढ्ढनी=वस्त्र) तथा क्रिया (ओढ्ढना) दोनों ही रूपों में प्रचलित है। ग्रामीण बोलियों में इसकी अवस्थिति स्वयं इस शब्द के 'देशीयन' को व्यक्त करती है।

(28) ओलुगो — सेवक - दे ना मा 1-164 - ब्रजभाषा का 'लगुवा' और अवधी का 'लगुआ' ये दोनों ही इसी शब्द से विकसित होंगे। यह शब्द ऐसे नौकर के अर्थ में चलता है जो केवल अपने स्वामी का ही काम करता है। प्रायः यह शब्द काष्ठकारों का पुष्ट-दर पुष्ट हल जोतने वाले मजदूरों के अर्थ में आता है। संस्कृत 'लग्न' शब्द से इसे व्युत्पन्न करने में पर्याप्त खीच-तान करनी पड़ेगी।

(29) ओलुंकी — छन्नरमणम् - दे ना मा 1-153 - ब्रजभाषा लुकना, लुकनो, अवधी 'लुका-लुकी' या लुकी-लुका' आदि पद इसी से विकसित हैं। 'लुकी-लुका' या लुका-छिपी' का खेल ग्रामीण बालकों का अत्यन्त प्रिय खेल है।

(30) ओल्लरिओ — सुप्त - दे ना मा - 1-163 - अवधी का 'ओलरना' क्रियापद, ब्रजभाषा का ओलरन (सज्ञा) तथा 'ओलराना' (प्रेरणार्थक क्रियापद) आदि पद इसी से विकसित होंगे। स्वरूपगत विकास तो लगभग ठीक दिशा में है पर अर्थ में थोड़ा भेद है। प्राकृत का 'ओल्लरिओ' पद 'सोता हुआ' अर्थ देता है परन्तु अवधी और ब्रजभाषा में विकसित ओलरना या 'ओलराना' न सोते हुए भी 'लेटने' के वाचक है। ये शब्द 'विश्राम करने के लिए लेटने तथा 'सोने' दोनों ही क्रियाओं के वाचक हैं।

(31) ओमरिष्रं — अलिन्द — दे ना मा 1-161 — घर के दरवाजे के सामने बनी हुई कुल बरसाती के अर्थ में यह शब्द आया है। ब्रजभाषा में ओसारा¹ श्रवची में 'ओमार' या 'ओसरिया' शब्द इसी के विकसित रूप हैं। सूर ब्रजभाषा कोश (पृ. 183) में 'ओसारा' शब्द की व्युत्पत्ति 'उपशाला' शब्द से दी गयी है। परन्तु प्रत्येक शब्द को घसीट कर सस्कृत की सीमा में ले जाना एक स्वस्थ मनोवृत्ति नहीं है।

(32) ओसा — निशाजलम् — दे ना मा 1-164 — मानक हिन्दी तथा उसकी सभी बोलियों में प्रचलित 'ओस' शब्द रात्रि में स्वतः वर्षित जल के अर्थ में प्रचलित है। यह शब्द 'ओसा' का ही एक विकसित रूप है। ऋग्वेद में भी एक स्थान पर 'अवज्याय' शब्द 'ओस' के अर्थ में आया है। इसका यह अर्थ नहीं कि मूल रूप में यह वैदिक सस्कृत का शब्द है। ऋग्वेद में कितने ही शब्द ऐसे हैं जो आर्यों ने अनार्यों से लिये और उन पर अपनी सम्प्रदाय, मुशिक्षा और अपने ढंग के उच्चारण की मुहर लगा ली। ऋग्वेद में जगह-जगह आर्यों (देवों) और अनार्यों (असुरों) के बीच होने वाले मघर्ष की चर्चा है। यह रचना आर्यों ने ऐसे समय में की जब वे धीरे-धीरे अनार्यों का प्रभाव ग्रहण करने लग गये थे। ऐसे कितने ही शब्द ऋग्वेद या इतरवेदों में अनार्यों में ग्रहण किये गये होंगे अनार्य या भारत के आदिवासियों का कोई लिखित साहित्यिक प्रमाण न मिलने के कारण ही यह भ्रान्त धारणा चल पड़ी कि जितने शब्द वेद — कम से कम ऋग्वेद में आये, वे आर्यों के हैं, परन्तु आधुनिक खोजों से यह स्पष्ट होता जा रहा है कि आर्यों ने अनार्यों में बहुत कुछ लिया है।

(33) ओसाओ — प्रहार पीडा — दे ना.मा — 1-152 — ब्रजभाषा और श्रवची दोनों बोलियों का 'ओमाना' क्रिया-पद जो कि 'भेलने' या 'महन करने' का अर्थ देता है — इसी से विकसित होगा। अपने मूल रूप में प्रहार की पीडा का बोधक यह शब्द अर्थ-विकास के आधारे पर 'पीडा सहन करने या भेलने' का वाचक बन गया है। इसे सस्कृत की 'मह' धातु से व्युत्पन्न करना उपयुक्त नहीं होगा।

(34) ओहडणी — फलहकारगला (सजापद) दे ना मा. — 1-160 — श्रवची या 'ओडघनी' या 'ओडघनी' पद इसी में विकसित है। 'ओडघनी' का तात्पर्य

1 दे ना मा 1-49 में 'ओनार' शब्द भी आया है जिसका अर्थ गोवाट अर्थात् गायों का डेडा दिया गया है। गावों में घर के सामने बने हुए ओनार में बरसा या जाड़े के दिनों में जानवरों का बाध दिया जाना अतिशयोक्ति की बात है।

काठ की ऐसी लकड़ी है जिसे दरवाजा घुन्द करने में साकल की जगह प्रयोग किया जाता है । भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से भी यह विकास उपयुक्त दिशा में है । ह् और ड् का वर्ण विपर्यय तथा ह् के घ् में परिवर्तन हो जाने से — ओहड़णी 7 ओडघनी रूप में विकसित हो गया । प्राकृत शब्दों में पाया जाने वाला अन्त्य ण्, हिन्दी में न् में परिवर्तित हो जाता है ।

(35) ओहरिसो — घ्रात (विशेषणपद) — हेमचन्द्र ने इस शब्द का प्रयोग 'वासी' 'महकी' हुई वस्तु के विशेषण रूप में किया है । अवधि में 'ओहरना' क्रिया 'वासी पड़ने' के अर्थ में ही व्यवहृत होती है । स्पष्ट है कि इसका विकास 'ओहरिसो' शब्द से हुआ होगा ।

(36) कट्टारी — क्षुरिका (सज्ञापद) — दे ना मा - 2-4 — हिन्दी तथा उसकी सभी बोलियों में प्रचलित 'कटारी' शब्द इसी से विकसित होगा । संस्कृत के 'कर्तरी' शब्द से भी इसे व्युत्पन्न किया जा सकता है, परन्तु संस्कृत का यह शब्द स्वयं ही प्राकृत शब्दों की प्रकृति का द्योतन करने वाला है ।

(37) कडच्छ — अयोद्वी (सज्ञापद) दे ना. मा 2-7 — हिन्दी तथा उसकी सभी बोलियों में प्रचलित 'कडछुल' 'करछी' 'करछुल' या 'कलछुल' पद इसी के विकसित रूप हैं । हेमचन्द्र ने 'कडच्छ' का अर्थ पाचन क्रिया में काम आने वाले लोहे की बनी हुई वस्तु विशेष दिया है । इस शब्द के विकसित रूप करछी आदि भी इसी अर्थ के द्योतक हैं । अन्तर इतना ही है कि हेमचन्द्र द्वारा प्रयुक्त मात्र लोहे की 'करछुल' का वाचक है जबकि इसके विकसित रूप किसी भी धातु से बनी हुई करछुल के लिए आते हैं ।

(38) कन्दो — मूलशाकम् (सज्ञापद) — दे ना मा 2-1 — संस्कृत हिन्दी, बंगला, तथा मैथिली आदि में प्रचलित 'कन्द' शब्द इसी शब्द से सम्बद्ध होगा । निश्चित ही 'कन्द' जैसी वस्तु का प्रचलन आर्यों के आने के पहले ही से रहा होगा ।

(39) कंडो — क्षीण — दे ना मा 2-51 — हिन्दी तथा लगभग उसकी सभी बोलियों में प्रचलित 'कडा' शब्द इसी का विकास माना जा सकता है । 'कडा' का अर्थ सूखा हुआ (विशेषतया) गोबर होता है । 'कडो' शब्द का अन्य अर्थ 'मृत' भी है । इस अर्थ में भी 'कडा' पद का व्यवहार होता है — जैसे 'वह कडा हो गया' अर्थात् मर गया । यहा शब्द के स्वरूपगत विकास के साथ ही उसमें थोड़ा सा अर्थगत विकास भी निहित है ।

(40) कतवारो तथा कयारो — तृणाशुत्कर . (सज्ञापद) दे ना मा 2-11 - हिन्दी तथा उमकी सभी बोलियों में प्रचलित 'कतवार' तथा 'कवाड' पद इन्हीं दोनों शब्दों से विकसित होंगे । हेमचन्द्र इनका अर्थ 'तृणमूह' देते हैं—विकसित रूप में 'कतवार' तथा 'कवाड' पद भी 'घास तथा कूड़े कचरे के ढेर' का अर्थ देते हैं । 'कतवार' शब्द तो ज्यों का त्यों बिना किसी ध्वन्यात्मक परिवर्तन के प्रचलित है, परन्तु 'कयार' पद अपनी विकसित अवस्था तक कुछ ध्वन्यात्मक परिवर्तनों से युक्त होकर पहुँचा है । 'कयार' के 'य' का 'व' फिर 'व' का 'व' तथा 'र' का 'ड' होकर 'कवाड' पद बना है । प्राकृतों से हिन्दी में विकसित शब्दों में ये ध्वनि परिवर्तन अति सामान्य हैं ।

(41) करिल्लं — वशाडकुरम्—(सज्ञापद) दे ना मा 2-10 - हिन्दी भाषा-भाषी गावों में आज भी वास के फूटते हुए अकुर को 'करैल' या 'करइल' (अवधी) कहा जाता है । यह शब्द 'करिल्ल' का ही विकसित रूप है ।

(42) कल्ला¹— मद्यम्, (सज्ञापद) दे ना. मा - 2-2 - 'हिन्दी तथा उमकी बोलियों में प्रचलित जाति विशेष का बोधक 'कलार' या 'कलवार' पद इसी शब्द से मयद्ध माना जा सकता है । ऐसी प्रसिद्धि है कि 'कलवार' नाम की एक जाति विशेष पहले मदिरा बनाती और उसका व्यवसाय भी करती थी । कल्ला (मदिरा) के व्यवसाय के आधार पर ही इस जाति का नाम 'कलार' या 'कलवार' पड़ा होगा ।

(43) कल्होडी — वत्सतरी - (सज्ञापद) दे ना मा 2-9 - हिन्दी तथा उमकी लगभग सभी बोलियों में गाय की वछिया के अर्थ में 'कलोर्' या 'कलोरी' पद का व्यवहार होता है । ये पद उपर्युक्त 'देश्य' शब्द 'कल्होडी' के ही विकसित रूप होंगे ।

(44) काहारो — जलादिवाही कर्मकर (सज्ञापद) दे ना मा -2-27- मानक हिन्दी ब्रजभाषा-अवधी तथा अन्य बोलियों में भी 'काहार'² शब्दों उत्सवों या

1 'कल्ला' पद देश्य न होकर तदभव है और मस्कृत 'कल्या' शब्द का विकृत रूप है । यह भी कुछ विद्वानों का मत है । हेमचन्द्र स्वयं भी लिखते हैं—“कल्ला शब्द कल्या शब्द भवोऽप्यस्ति । मतं कवीनां नास्ति प्रसिद्ध ।” वे इस शब्द को मस्कृत में होते हुए भी कवियों में प्रसिद्ध न होने के कारण 'देश्य' मानते हैं । यह तो कामचलाक तर्क हुआ । मेरी दृष्टि में यह शब्द 'देश्य' ही है क्योंकि 'तमिल' में भी 'कल्' शब्द मदिरा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । इस प्रकार हमें अधिकतर तत्त्व माना जाना चाहिए ।

2 मूल ब्रजभाषा कोष में 'काहार' शब्द को तदभव माना गया है और उमकी दो व्युत्पत्तियाँ दी गयी हैं (1) स्कंधमार (2) क - जन, हार - लाने वाला । जहाँ तक काहार शब्द की 'ग्य'प्रसार' शब्द से व्युत्पन्न करने की बात है वह किसी हद तक ठीक भी मानी जा सकती है - इसका सम्बन्ध कर्ष पर पानकी डोने वाले नौकरों से दिखाया जा सकता है । परन्तु दूसरी व्युत्पत्ति तो अत्यन्त शम्भ्यास्पद है । प्रत्येक शब्द को संस्कृत तक घसीट ले जाने का विद्वानों का यह मोह पता नहीं कब छूटेगा ।

सामान्य दिनो मे भी पानी ढोकर लाने वाले 'नौकर' का वाचक है। पालकी आदि ढोकर ले जाने वाले नौकर को भी 'कहार' ही कहते हैं। यही शब्द आगे चल कर कर्म के आधार पर निर्मित एक जाति विशेष का वाचक बन गया।

(45) कुक्कुसो-घान्यादितुष (सज्ञापद) दे ना. मा. 2-36 - हिन्दी 'कन-कूकम' मुहावरे का 'कूकस' शब्द 'कुक्कस' का ही विकसित रूप है। अवधी मे यह शब्द 'कुक्कुस' या 'कूकुस' दोनो ही रूपो मे प्रचलित है।

(46) कुदम्रो - कृण (विशेषण पद) दे ना मा 2-37 - हिन्दी मे यह शब्द 'कुद' रूप मे ज्यो का त्यो प्रचलित है। अर्थ भी लगभग वही है - जैसे कुन्द बुद्धि-वान्ना (मन्द या कमजोर बुद्धि) व्यक्ति।

(47) कुल्हड — लघुभाण्डम् (सज्ञापद) दे ना मा 2-63 - हिन्दी तथा उसकी बोलियो मे व्यवहृत होने वाला 'कुल्हड' शब्द इसी से विकसित है। यह शब्द 'मिट्टी के छोटे बर्तन' का अर्थ देता है। अवधी के कुछ ग्रामीण क्षेत्रो मे 'कोहला' शब्द भी चलता है।

(48) कोइला¹ — काष्ठाङ्गार — (सज्ञापद) दे. ना मा 2 49 - मानक हिन्दी मे 'कोयला' अवधी मे 'कोइला' आदि रूपो मे यह शब्द आज भी प्रचलित है। हिन्दी मे इ का य् (यण विधान) हो गया है, परन्तु अवधी मे यह शब्द ज्यो का त्यो 'ओ' के उच्चारण को हलका कर 'कोइला' के रूप मे चलता है।

(49) कोल्हुओ² — इक्षुनिपीडनयत्रम् (सज्ञा) दे ना मा. 2-65 - हिन्दी तथा इसकी सभी बोलियो मे प्रचलित 'कोल्हू' शब्द इसी से सवद्ध है। 'कोल्हू' एक यत्र विशेष है जिमसे ईख और तेल की पेराई की जाती है। पहले यह पत्थर का बना हुआ होता था।

(50) खट्ट — तीमनम् - (विशेषणपद) दे ना मा - 2-67 - हिन्दी तथा उसकी सभी बोलियो मे व्यवहृत 'खट्टा' विशेषणपद इसी का विकसित रूप है। सू.ब्र भा को पृष्ठ 320 पर 'खट्टा' पद की व्युत्पत्ति संस्कृत के 'कट्ट' शब्द से दी गयी

- 1 यूरोपीय भाषाओ की प्रतिनिधि भाषा अंग्रेजी मे भी ' ' शब्द का मिलना यह संकेतित करता है कि यह मूलभारोपीय भाषा का शब्द होगा। सू. व भा को पृ 300 पर इस शब्द को तद्भव मानकर 'कोकिल' शब्द से इसकी अतिहास्यास्पद व्युत्पत्ति दी गयी है।
2. तमिल मे 'कोल' क्रिया पद जान से मार डालने के अर्थ मे मिलता है। प्राचीन काल मे अपराधियो को पत्थर के कोल्हुओ मे पेरवाकर मरवा डालने की अनेको कथाए मिलती हैं। इस तथ्य को दृष्टि रखते हुए तमिल के 'कोल' क्रिया पद से इसका सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है।

है। यह व्युत्पत्ति न तो ध्वन्यात्मक विक्रम की दृष्टि से और न ही अर्थगत विकास की दृष्टि से उपयुक्त है। कटु से कड़वा शब्द बना है। अर्थ भी वही है पर कटु से 'खट्टा' शब्द किसी भी प्रकार व्युत्पन्न नहीं किया जा सकता। दोनों में अर्थगत भेद भी है।

(51) खट्टिको — शौनिक (सज्ञापद) दे ना. मा. 2-70 — हिन्दी का जातिवाची 'खटिक' पद इसी से विकसित है। अन्तर केवल इतना है कि इसका अर्थ थोड़ा परिवर्तित हो गया है। कहीं-कहीं तो यह 'वधिक' का ही अर्थ देता है परन्तु कृष्ट स्थानों पर यह शाक सब्जी का व्यापार करने वाली जाति का बोधक है। द्रविड कुल की तेलगु भाषा में भी 'कटिक' (Katik) शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में हुआ है। अतः आर्येतर भाषा का शब्द होने से इसे 'देश्य' मान लेना उपयुक्त एवं तर्क-संगत होगा।

(52) खड्डा — खानि. (सज्ञापद) दे ना मा - 2-66 — मानक हिन्दी तथा उसकी सभी बोलियों में 'खड्डा' 'खड्ड' 'गड्डा' 'गड्डा' आदि पद व्यवहृत होते हैं। ये सभी शब्द स्पष्ट ही 'खड्डा' के ही विविध विकसित रूप हैं। इन पदों को संस्कृत 'खात'¹ पद से व्युत्पन्न मानना उपयुक्त नहीं है।

(53) खली — तिलपिण्डिका — (सज्ञापद) — दे ना. मा 2 66 — हिन्दी 'खली' शब्द तथा ब्रजभाषा 'खरी, 'खनी' के रूप में ये शब्द ज्यों का त्यों विकसित हैं। संस्कृत में भी 'खलि' शब्द इसी अर्थ में आया है पर इसे संस्कृत का ही नहीं माना जा सकता। द्रविड कुल की कई भाषाओं में यह शब्द मिलता है। तमिल कलनु-कन्नड कल (Kala) पुर्जी कली, कुयी-कलाइ। इन सभी भाषाओं में वर्गीय महाप्राण ध्वनियाँ नहीं हैं। अतः इनका उच्चारण त०-खलनु, क०-खल, पर्जी — 'खली' कुयी- 'खलाइ' भी किया जा सकता है। इन प्रमाणों के आधार पर निश्चय ही 'खली' शब्द आर्येतर भाषाओं की देन है। पर्जी में तो यह उच्चारण भेद के साथ ज्यों का त्यों विद्यमान है।

(54) खाइया — परिखा — (सज्ञापद) दे. ना मा - 2-73 — हिन्दी तथा उसकी प्रायः सभी बोलियों में प्रचलित 'खाई' या खाई पद इसी से विकसित होंगे। अर्थ भी एक ही है—'किले या खेत के चारों ओर सुरक्षा के लिए बना हुआ घेरा।'।

1. सू अ मा की, पृ 321 पर 'खड्डा' शब्द को संस्कृत 'खात' से व्युत्पन्न मानकर तदभव को कोटि में रखा गया है।

(55) खुट्टःऋटितम् (विशेषण पद) दे ना मा - 2-14 - हिन्दी में प्रचलित ध्वनिवाची 'खुट' शब्द जैसे 'खुट' से टूट जाना या 'खट' शब्द - जैसे 'खट' से गिरना (इसमें भी टूटकर गिरने का भाव निहित है), इसी प्रकार ब्रजभाषा में प्रयुक्त 'खुटकना' (तोड़ना) तथा अवधी में 'कुटुकना' (तोड़ना) क्रियापद, ये सभी उपयुक्त शब्द से ही विकसित हुए होंगे। ग्रामीण बोलियों में इनका प्रयोग बाहुल्य ही उनके 'देशीत्व' को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है। बालको द्वारा व्यवहृत 'खुट्टी' (करना) शब्द भी इसी से सम्बद्ध किया जा सकता है।

(56) खोट्टी -- दासी - सज्ञापद) दे. ना मा. 2-77 - हिन्दी तथा उसकी बोलियों में व्यवहृत 'खोट' 'खोटी' 'खोटा' आदि पद इसी शब्द से विकसित कहे जा सकते हैं। हेमचन्द्र ने 'खोट्टी' शब्द का प्रयोग 'दासी' के अर्थ में किया है। दासियों में निहित वेईमानी तथा दुष्टता की भावना के कारण आगे चलकर यह सज्ञापद लक्षण या विशेषण के रूप में व्यवहृत होने लगा होगा। ब्र. भा. सू. के, पृ. 352 पर इस शब्द को संस्कृत 'खोट' से निष्पन्न मानकर तद्भव की कोटि में रखा गया है, परन्तु 'खोट' शब्द का संस्कृत शब्द भण्डार से सम्बद्ध होना भी सदिग्धता से रहित नहीं है। पाइअसद्महण्व में भी इस शब्द को 'देश्य' ही माना गया है।

(57) खोसलओ -- दन्तुर (विशेषण पद) दे ना. मा. 2-77 - हिन्दी में 'खूसट' तथा अवधी में 'खोसडा' शब्द इसी के विकसित रूप होंगे। ये शब्द 'असभ्य' या 'भद्देपन' का अर्थ देते हैं। कहीं-कहीं आक्रोश में कहे जाने पर इनसे नपुंसक का अर्थ भी ध्वनित होता है। हेमचन्द्र 'खोसलओ' का अर्थ बड़े दाँत वाला या भद्दा व्यक्ति देते हैं। आगे चलकर हिन्दी में इसका अर्थ-विकास हो गया और यह 'भद्देपन' या 'बुद्धूपन' के अर्थ में चलने लगा।

(58) गड्डरी-छागी (सज्ञापद) दे ना मा. 2-84 - हिन्दी गडरिया 'ब्रज तथा अवधी' गडेरिया जातिवाची पद इसी शब्द से सबद्ध किये जा सकते हैं। 'गड्डरी' (भेड़ या बकरी) का पालन करने के कारण ही बाद में व्यवसाय के आधार पर एक जाति का नाम ही 'गडरिया' पड़ गया।

(59) गड्डी -- गन्त्री (सज्ञापद) दे ना मा. 2-81 - हिन्दी तथा लगभग उसकी सभी बोलियों में 'गाडी' शब्द 'वाहन' के अर्थ में प्रचलित है। पंजाबी में तो यह ज्यों का त्यों प्रचलित है। संस्कृत 'शकट' या 'गन्त्री' शब्दों से इसकी व्युत्पत्ति सम्भव नहीं है। इसके विपरीत कन्नड में 'गाडि' शब्द इसी अर्थ में मिलता है अतः बहुत कुछ सम्भावना है कि यह आर्येतर भाषाओं की सम्पत्ति हो।

(60) गोच्छा — मज्जी (सज्ञापद) दे. ना मा 2-15 — हिन्दी तथा उसकी सभी बोलियों में 'गुच्छा' शब्द व्यवहृत होता है। संस्कृत में भी 'गुच्छा' शब्द इसी अर्थ में मिलता है। अतः इस शब्द की स्थिति सिद्ध है। भारत की आर्यतर भाषाओं में प्रमुख तमिल में 'कोत्त' ¹ शब्द इसी अर्थ में आया है। खीच-तान कर इसमें इस शब्द को व्युत्पन्न किया जा सकता है परन्तु इस शब्द को तद्भव ही मानना अधिक उपयुक्त लगता है। -

(61) गोला—मखी (मज्ञापद) दे. ना मा 2-104—राजस्थानी का दासी-वाचक 'गोली' शब्द इसी से विकसित होगा।

(62) गोवर—करीपम् (सज्ञापद) दे. ना मा 2-96 हिन्दी तथा उसकी सभी बोलियों का 'गोवर' पद इसी से विकसित है अन्तर केवल इतना ही है कि हेमचन्द्र ने इसका प्रयोग मूखे हुए गोवर (कड़े या उपले) के अर्थ में किया है जब कि इसका विकसित अर्थ जानवरो द्वारा विमर्जित मल मात्र का वाचक है।

(63) गंडीरी—इक्षुखण्डम् (सज्ञापद) दे. ना मा 2-82—हिन्दी तथा उसकी सभी बोलियों में व्यवहृत होने वाले 'गँडेली' 'गंडेरी' तथा 'गँडरी' पद इसी शब्द के विकसित रूप हैं। इनका अर्थ भी एक ही है।

(64) घाघरा—जघनस्थवस्त्रभेद. (सज्ञापद) दे. ना मा 2-107—हिन्दी 'घाघरा' अवधी ब्रज 'घघरा' 'घघरी' तथा राजस्थानी 'घाघरा' ये सभी पद उपर्युक्त शब्द के ही विकसित रूप हैं। इनमें अर्थगत साम्य तो है ही। इनका ध्वन्यात्मक विकास भी व्याकरण सम्मत है।

(65) घल्ली—अनुरक्तः (विशेषण पद) दे. ना मा 2-105—हिन्दी में 'घायल' अवधी तथा ब्रजभाषा में 'घाडल' पद 'मोहित या चोट खाया हुआ' के अर्थ में प्रचलित है। ये 'घल्ली' शब्द के ही विकसित रूप होंगे। ²

1 तमिः 'कात्त' सम्भृत (उच्चारण गोष्ठ भी) से हिन्दी की बोलियों में व्यवहृत होने वाले 'घोट' या 'घोटा' शब्द को संबद्ध किया जा सकता है—जैसे आम का घोट या बादा (गुच्छा)।

2 'घल्ली' शब्द में 'घायल' या 'घाडल' पद का विकास ध्वन्यात्मक दृष्टि में उपयुक्त नहीं है परन्तु ऐसे स्थानों पर एक तथ्य को ध्यान में रखना आवश्यक है। देशी शब्दों के ध्वनि विकास की कोई परम्परा नहीं है। बहुत दिनों तक बोल-चाल में रहने के कारण ग्रांथ मनमाने ढंग से इनका प्रयोग करते रहे हैं। अतः विकास की एक परम्परा निश्चित कर पाना संभव कठिन ही नहीं असम्भव तथा वास्तविक भी होगा।

(66) घट्टो-नदीतीर्थम्—(सज्ञापद दे ना. मा 2-111—हिन्दी का 'घाट' शब्द उसी से विकसित है। सस्कृत में भी 'घाट' शब्द मिलता है परन्तु बहुत कुछ सम्भावना है कि यह शब्द सस्कृत में प्राकृत से आया है।

(67) घुघुस्नय—साशकभणितम् (सज्ञापद) दे. ना. मा -2-109—हिन्दी में प्रयुक्त 'घिंघी' शब्द जैसे—घिंघी बघ जाना (डर के मारे बोल न पाना) इसी से विकसित माना जा सकता है।

(68) घुघुरडो—उत्तरः (सज्ञा) दे ना. मा 2-109—हिन्दी तथा उसकी सभी बोलियों में 'घूर' शब्द कूडे का ढेर लगाये जाने वाले स्थान के अर्थ में प्रचलित है। उन्ना विमान स्पष्ट ही 'घुघुरडो' शब्द में हुआ होगा।

(69) चगचार (विशेषण) दे ना मा 3-1—हिन्दी, ब्रज तथा अवधी सभी में प्रचलित 'चगा' (अच्छा, भला सुन्दर) शब्द का विकास इसी शब्द से हुआ है।

(70) चट्टू दाखस्त. (सज्ञा) दे ना मा 3-1—हिन्दी तथा उसकी प्रायः सभी बोलियों में 'चट्टू' शब्द ज्यो का ल्यो प्रचलित है। यह लकड़ी का बनता है और करटी या तरछुल की तरह इसका प्रयोग होता है। अवधी में इसे ही 'दबिला' भी कहते हैं।

(71) चाउला-तण्डुला (सज्ञा) दे ना मा 3-8—हिन्दी में 'चावल' तथा अवधी में 'चाउर' शब्द इसी शब्द से विकसित है।

(72) चिल्लरी—मशक (सज्ञा) दे ना. मा 3-11—हिन्दी की सभी बोलियों में कपटे में पड़ने वाले गन्दे कीड़ों के लिए 'चीलर' या 'चिल्लर' शब्द का प्रयोग होता है।

(73) चिल्लो-वालक (सज्ञा) दे ना मा 3-10—हिन्दी तथा उसकी सभी बोलियों में 'चेला' शब्द शिष्य के अर्थ में प्रयुक्त होता है। इस शब्द का सम्बन्ध 'चिल्लो' शब्द से ही होना चाहिए। सूर ब्रजभाषा कोश पृ० 526 पर चेला शब्द को सस्कृत 'चेटक' से व्युत्पन्न माना गया है (स० चेटक 7 प्रा० चेडअ 7 चेडा 7 चेला) परन्तु यह उपयुक्त नहीं है। वालकवाची 'चिल्लो' शब्द ही 'चेला' पद के मूल में है, वालको को वचन में ही दीक्षा देकर शिष्य बना लिया जाता था। अतः दोनों में अर्थगत दूरी भी नहीं है। इसके अतिरिक्त पिथोरगढी-कुमायुनी भाषा में 'चेला' शब्द वालक या लडके का ही वाचक है—जैसे—'चेलो षडाल लडके को सुला। अवधी में यह शब्द 'चेरा' तथा 'च्याला' आदि रूपों में प्रचलित है।

(74) चोट्टी-चूडा-शिखा (सज्ञा) दे ना मा.—3 1—हिन्दी तथा उसकी सभी बोलियों में 'चोटी' 'चोटइया' 'चुटई' आदि पद शिखा के अर्थ में व्यवहृत होते हैं। ये सभी उपर्युक्त शब्दों के ही विकसित रूप हैं। इन शब्दों को संस्कृत 'चूडा'¹ से व्युत्पन्न मानना उपर्युक्त नहीं है क्योंकि संस्कृत में 'चूडा' शब्द की स्वयं की स्थिति ही सदिग्ध है। द्रविड कुल की लगभग सभी प्रसिद्ध भाषाओं तमिल-कन्नड तथा मलयालम आदि में इस शब्द की उपस्थिति यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि यह आर्य भाषा का शब्द नहीं है। तमिल में 'चोटी' के लिए 'चुटु' (इसे शुद्ध भी पढ़ा जा सकता है) कन्नड में सुटु तथा मलयालम में 'चुटुक' शब्द मिलते हैं। ऐसी स्थिति में हिन्दी का 'चोटी' शब्द निश्चित रूप से तद्भव न होकर आर्योत्तर भाषाओं से प्राप्त तथा युग युगों में व्यवहृत होने वाला 'देश्य' पद है।

(75) छल्लो, छल्लो-विदग्ध दे. ना. मा.—3-24—हिन्दी तथा उसकी सभी बोलियों में प्रचलित 'छैला' तथा 'छलिया' पद इन्हीं दोनों शब्दों से विकसित होंगे। ब्र. भा. सू. कोष में छैला² शब्द की व्युत्पत्ति स छवि+ऐला (प्रत्यय) से दी गयी है। इसी तरह 'छलिया'³ शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत छल+ड्या (प्रत्यय) से दी गयी है। परन्तु ये दोनों ही व्युत्पत्तियाँ पूर्वाग्रहग्रस्त हैं। इन शब्दों के प्रयोग का वातावरण ही यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि ये दोनों 'देश्य' शब्द हैं।

(76) छल्ली⁴—स्वक् (सज्ञा) दे ना. मा. 3-24—हिन्दी तथा अवधी में 'छाल' पद इसी से विकसित होंगे। व्रजभाषा में तो यह शब्द ज्यो का त्यो 'छल्ली' रूप में चलता है। 'छल्ली' शब्द संस्कृत में भी है, परन्तु वहाँ यह निश्चित ही प्राकृत से गया होगा।

(77) छिछोली—लघुजलप्रवाहः (सज्ञा) दे ना मा. 3-27—हिन्दी में प्रचलित 'छिछला' शब्द इसी से विकसित होगा। दोनों का अर्थ भी लगभग एक ही है। लक्षणाया इसी शब्द से छिछोर, छिछोड़ (छल्का, दुष्ट) आदि पदों को भी निष्पन्न किया जा सकता है।

1 ब्र भा सू को पृ 528

2 पृ. 263

3. सू ब्र भा को, पृ 544

4 दे ना मा 2 66 में 'छल्ली' शब्द चर्म के अर्थ में आया है। हिन्दी तथा उसकी बोलियों में प्रचलित 'छाल' (चमड़ा) शब्द इसी शब्द का विकसित रूप है।

(78) छिण्णाली छिण्णालो—जार (विशेषण) दे ना मा. 3-27—हिन्दी तथा उसकी बोलियों में चरित्र भ्रष्ट तथा कामी स्त्री-पुरुषों के लिए प्रयुक्त होने वाले 'छिनाल 'छिनार' (अवधी) छिनरा आदि पद इन्हीं शब्दों से विकसित होंगे । संस्कृत 'छिन्नलाज' से इन्हें व्युत्पन्न करना उपयुक्त न होगा ।

(79) छेंडी—लघुरथ्या (सज्ञा) दे. ना. मा. 3-31—ब्रजभाषा में 'छेंडी' शब्द सकरे एवं छोटे रास्ते के लिए प्रयुक्त होता है । यह स्पष्ट ही 'छेंडी' शब्द का विकसित रूप है ।

(80) जगा—गोचर भूमि (सज्ञा) दे ना. मा. 3-40—हिन्दी—'जगल' शब्द को इससे विकसित माना जा सकता है । ब्रजभाषा में 'जगल' शब्द जल रहित भूमि के अर्थ में भी प्रचलित है ।

(81) जोण्णलिआ—धान्यम् (सज्ञा) दे ना मा. 3-50 ब्रजभाषा जुणरी, जुनरी, अवधी जोन्हरी भोजपुरी जनरी, राजस्थानी में जोणारी या जुणारी तथा कुछ बोलियों में जोणारा या जनेरा शब्द एक धान्य विशेष के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं । ये सभी शब्द उपर्युक्त देश्य शब्द के ही विकसित रूप हैं ।

(82) जाडी—गुल्मम् (सज्ञा) दे ना मा. 3-15—हिन्दी 'भाडी' शब्द इसी का विकसित रूप है ।

(83) भाडं—लतागहनम् (सज्ञा) दे ना मा. 3-57—हिन्दी का 'भाड' शब्द इसी का विकसित रूप होगा । संस्कृत 'भाट' शब्द भी प्राकृत का शब्द होना चाहिए ।

(84) भक्किअं—यत्तनीयम् (चुप्पा) (विशेषण) दे. ना मा. 3-55—हिन्दी का भक्की शब्द इसी से विकसित होगा । इसमें अल्प ध्वन्यात्मक विकास के साथ ही थोड़ी मात्रा में अर्थगत विकास भी दृष्टिगोचर होता है ।

(85) भखरो—शुष्कतरु (सज्ञा) दे ना मा. 3-54—हिन्दी 'भखाड' अवधी, 'भाखर' आदि शब्द इसी के विकसित रूप हैं । यहाँ थोड़ा सा अर्थविकास हुआ है । हेमचन्द्र 'भखर' शब्द का प्रयोग 'सूखे वृक्ष' के अर्थ में करते हैं—जब कि हिन्दी में 'भंखाड' या अवधी में 'भाखर' पदों का प्रयोग पेड़ को काट कर डाल दी गयी सूखी डालियों के समूह तथा अन्य कटीली भाड़ियों आदि के अर्थ में होता है ।

(86) भंखो—तुष्ट (विशेषण) दे. ना. मा. 3-53 हिन्दी तथा उसकी बोलियों में प्रचलित भखना (परेशान होना, तरसना) क्रियापद का सम्बन्ध इस शब्द से जोड़ा जा सकता है। परन्तु अपनी विकमावस्था में इसका अर्थ विल्कुल उलट गया है। शब्दों के अर्थ विकाम में यह कोई नवीन घटना नहीं है। अब बुद्धिमत्ता और ज्ञान का वाचक 'बुद्ध' शब्द अपनी लवी यात्रा के बाद 'बुद्धू' के रूप में एकदम विपरीत अर्थ देने लगा, तो सतुष्टि वाचक (भव) शब्द लम्बे अन्तराल के बाद उलट कर असतुष्टि वाचक बन गया तो इसमें आश्चर्य नहीं होना चाहिए।

(87) भडी—निरन्तर वृष्टि (सज्ञा) दे. ना. मा. 3-53—हिन्दी में 'भडी' तथा अवधी में 'भरी' आदि रूपों में इसी शब्द का विकास हुआ है। यह शब्द ज्यों का त्यों तमिल में भी मिलता है। वहाँ 'जडि' शब्द आता है। वर्गीय महा-प्राण ध्वनियों के अभाव में इसका उच्चारण 'भडि' भी किया जा सकता है।

(88) भमाला—इन्द्रजालम्—(सज्ञा) दे. ना. मा. 3-53—हिन्दी तथा उसकी सभी बोलियों में 'भमेला' पद व्यावहृत होता है। यह शब्द समझ में न आने वाले कृत्य या भ्रमट का वाचक है। ध्वनिगत और अर्थगत समीपता को देखते हुए इसका सम्बन्ध उपर्युक्त शब्द से जोड़ा जा सकता है।

(89) भलुसिअ—दग्धम् (विशेषण) दे. ना. मा. 3-56—हिन्दी 'भूलसना' ब्रजभाषा तथा अवधी 'भोसना' 'भडसना' क्रिया पद इसी शब्द से विकसित होंगे। 'भानना' और 'भडसना' तो इसके और भी समीप हैं 'भूलसना' भी मात्र 'उ' कार परिवर्तन से समीप ही है। संस्कृत 'ज्वल' या 'भल' पदों से इसकी व्युत्पत्ति क्यों न होगी।

(90) भसो—अयण (विशेषण) दे. ना. मा. 3-60—अवधी में 'भाँस' शब्द दुष्ट और वेईमान व्यक्ति के विशेषण के रूप में प्रयुक्त होता है—यह शब्द स्पष्ट ही 'भसो' का विकसित रूप है।

(91) भूद्वं—अलीकम् (सज्ञा) दे. ना. मा. 3-58—हिन्दी तथा उसकी सभी बोलियों में (भूठ) शब्द व्यवहृत होता है वह इसी पद का विकसित रूप है।

(92) भूर—कुटिलम् (विशेषण) दे. ना. मा. 3-59—अवधी में 'भूर' शब्द सूत्रा हुआ का अर्थ देता है। दुष्ट व्यक्ति भी अत्यन्त रूढ़ ही होता है। अतः पहले कृत्लिता का वाचक यह शब्द अर्थ विकास परम्परा में लक्षणाया 'रूढ़ता' (सूत्रेण) का बोधक हो गया होगा।

(93) टिक्कं टिप्पी-तिनकम् (सज्ञा) दे. ना. मा. 4-3—हिन्दी 'टीका' टिपकी या 'टिप्पी' शब्द इन्ही शब्दों के विकसन हैं। संस्कृत का 'टीका' शब्द प्राकृत से लिया गया होना चाहिए।

(94) टेक्करं—म्यल (कड़ी जमीन) (सज्ञा) दे. ना. मा. 4-3—अवधी में 'ठेकार' या 'ठोकर' शब्द कड़ी व पथरीली भूमि के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। हिन्दी के 'ठोकर' शब्द के मूल में भी ये ही शब्द हैं। इन शब्दों का सम्बन्ध 'टेक्कर' से जोड़ा जा सकता है।

(95) टट्टइआ—तिरस्करिणी (पदी) (सज्ञा) दे. ना. मा. 4-1—हिन्दी 'टट्टी' अवधी तथा ब्रज 'टटिया' शब्द इसी के विकसित रूप हैं अन्तर केवल इतना ही है कि हेमचन्द्र ने इसका प्रयोग कपड़े के बने पर्दों के अर्थ में किया है जब कि इसके विकसित रूप घास-फूस के बने हुए ओट करने के साधन विशेष के वाचक हैं।

(96) ठल्लो—निर्धन • (विशेषण) दे. ना. मा. 4-5—हिन्दी में 'ठल्ला' 'निठल्ला' आदि पद इसी के विकसित रूप हैं। अवधी के 'उठल्लू' शब्द का सम्बन्ध भी इसी से जोड़ा जा सकता है। हेमचन्द्र ने इसका प्रयोग निर्धन या दरिद्र के अर्थ में किया है। हिन्दी में यह शब्द अकर्मण्यता असमर्थता तथा आलस्य आदि का वाचक होकर विस्तृत अर्थ धारण करने वाला बन गया है, फिर भी इसके अन्तराल में मूल अर्थ निहित देखा जा सकता है।

(97) ठिक्क—शिशनम् (सज्ञा) दे. ना. मा. 4-5—हिन्दी की ग्रामीण बोलियों में प्रचलित 'ठेगा' शब्द इसी शब्द का विकसित रूप है। मूल में अश्लीलता होने के कारण शिशन के स्वरूप गत साम्य के आधार पर 'ठेगा' शब्द 'अगूठे' का वाचक हो गया है। परन्तु यह सभ्य समाज द्वारा आरोपित अर्थ है, गावों में इस शब्द का अर्थ अब भी शिशन ही है।

(98) डलो—लोण्ट • (सज्ञा) दे. ना. मा. 4-7—हिन्दी में 'डला' या 'डली' शब्द तथा अवधी में 'ढेला' शब्द मिट्टी के पिण्डीकृत मिट्टी के टुकड़ों के वाचक हैं। ये सभी शब्द 'डलो' के ही विकसित रूप होने चाहिए।

(99) डंडओ—डडी—मार्ग (सज्ञा) दे. ना. मा. 4-8—हिन्दी तथा उसकी सभी बोलियों में डडी (जैसे पगडडी) शब्द ज्यों का त्यों छोटे एवं सकरे मार्ग के लिये प्रचलित है। 'डडओ' पद अवधी में 'डाड' (खेतों पर बनाये गये मेड़, जो

पानी रोकने के साथ ही रास्ते का काम भी देते हैं) शब्द के रूप में विकसित देखा जा सकता है ।

(100) डाली— शाखा (सज्ञा) दे. ना. मा 4-9 — हिन्दी 'डाली' 'डाल' आदि पद इसी से सवद्ध हैं । अवधी में 'डार' के रूप में इसमें थोड़ा ध्वनि परिवर्तन हुआ है । संस्कृत के 'दल' शब्द से इसकी व्युत्पत्ति प्रायः असम्भव सी है ।

(101) डुंघो— श्वपच : (सज्ञा) दे ना मा 4-11 — हिन्दी में 'डोम' शब्द एक अस्पृश्य जाति विशेष के अर्थ में प्रचलित देखा जा सकता है ।

(102) डोला— शिविका (सज्ञा) दे ना मा 4-11 — हिन्दी में तथा लगभग उसकी सभी बोलियों में 'डोला' या 'डोली' शब्द पालकी (एक वाहन विशेष) के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं । संस्कृत 'दोला' शब्द में भी इसे व्युत्पन्न किया जा सकता है ।

(103) ढंकरणी— पिधानिका — (सज्ञा) दे ना मा 4-14 — हिन्दी 'ढक्कन' 'ढकनी' — अवधी तथा ब्रज 'ढँकना' 'ढँकनी' आदि पद ढंकरणी' के ही विकसित रूप हैं । इस शब्द के विकसित रूप (जैसे ढकना) सज्ञा और क्रिया दोनों ही रूपों में प्रचलित हैं ।

(104) ढेंकी— बलाका (धान आदि कूटने का उपकरण) (सज्ञा) दे ना मा 4-15-ढेंकी— शब्द अपने प्राचीन अर्थ में ही आज भी हिन्दी तथा उसकी अन्य बोलियों में प्रचलित है ।

(105) ढेंका— कूपतुला (सज्ञा) दे ना मा 4-17 — हिन्दी 'ढेंका' 'ढेंकुल' या 'ढेंकुली' कुए से पानी निकालने वाली चर्खी के अर्थ में प्रचलित है ।

(106) एक्को— घ्राणम् (सज्ञा) दे ना मा 4-46 — हिन्दी 'नाक' शब्द इसी का विकसित रूप है इसे संस्कृत 'नासिका' से व्युत्पन्न करने में पर्याप्त खींचतान करनी पड़ेगी ।

(107) एत्था— नासारज्जु (सज्ञा) दे. ना मा 4-17 — हिन्दी 'नाथ' 'नाथा' या 'नथान' शब्द इसी के विकसित रूप हैं । नाक छेद कर पहने जाने वाले आभूषण विशेष 'नथ' या 'नथुनी' (नथनी भी) का सम्बन्ध भी इसी शब्द से जोड़ा जा सकता है ।

(108) तगं— सूत्रं (सज्ञा) दे ना मा. 5-1 — हिन्दी 'तागा' (सूत्र) शब्द इसी शब्द का विकसित रूप है ।

(109) तडफडिअ — परितश्चलितम् (विशेषण) दे ना मा 5-9 — हिन्दी 'तडफड़ाना' क्रियापद या त्वरावाची तडफड' विशेषण पद इसी शब्द के विकास है ।

(110) तहरी— पकिला सुरा (सज्ञा) दे. ना मा 5-2 — अवधी में 'तहरी' शब्द थोड़े अर्थ परिवर्तन के साथ प्रचलित है । यहाँ इसका अर्थ देर तक आग पर चढ़ाया गया वर्तन है । शराब चू कि बहुत देर तक आग पर वर्तन चढ़ा कर निकाली जाती है इसीलिए देर तक आग पर चढ़ाये गये वर्तन को 'तहरी' कहा जाने लगा होगा ।

(111) तल्लं— पल्लव (सज्ञा) दे ना मा 5-19 — हिन्दी 'ताल' या तिलैया' शब्दों के मूल में यही शब्द है ।

(112) ताला— लाजा: (भुना हुआ अनाज) (सज्ञा) दे. ना मा 5-10 — हिन्दी तथा उसकी बोलियों में प्रचलित 'तलना' क्रियापद इसी शब्द से सबद्ध माना जा सकता है — जैसे 'तला हुआ चना' अन्तर केवल इतना ही है कि मूल 'ताला' शब्द का अर्थ 'आग में भुनी हुई वस्तु' है जब कि तलना क्रिया तेल आदि के माध्यम से भूनने की क्रिया का द्योतन करती है ।

(113) तुलसी— सुरलता — (सज्ञा) दे ना मा 5-4 हिन्दी तथा उसकी सभी बोलियों में 'तुलसी' शब्द एक पौधे के लिये प्रचलित है ।

(114) थरहरिअ— कपितम् (विशेषण) दे ना मा 5-27 — हिन्दी 'थरथर' क्रिया विशेषण (जैसे थर-थर कापना) इसी शब्द से सबद्ध किया जा सकता है ।

(115) थाहो— स्थानम् गम्भीर जलम् (सज्ञा) ना, दे, मा, 5-3 — हिन्दी 'थाह' तथा 'अथाह' दोनों ही इसी शब्द से विकसित होंगे । पानी की गहराई नापकर उसकी तलीय भूमि का पता लगाना 'थाह लेना' कहलाता है । इसी प्रकार अतल गहराई वाले जल को 'अथाह' कहते हैं, इस प्रकार दोनों ही शब्द उपर्युक्त 'देश्य' शब्द से सम्बद्ध किये जा सकते हैं ।

(116) थूहो— प्रासाद शिखरम् — वल्मीकम् (सज्ञा) ना, दे, मा, 5-32, हिन्दी तथा उसकी बोलियों में प्रचलित 'ठूह' या ढूह शब्द इसी से विकसित हुआ होगा । ऊँचे स्थान के लिए तथा दीमकों की बावी आदि के लिए भी 'ढूह' शब्द का व्यवहार होता है ।

(117) दुग्धिणिया— स्नेहस्यापनभाण्डम् (नैल का वर्तन) (सज्ञा) — दे ना मा 5-54 — अरबी का 'दुग्घी' शब्द हमने विकसित माना जा सकता है। यह शब्द अर्थ की दृष्टि में (अप्रयोगत्वात्) देशज भले ही हो स्वरूप की दृष्टि में तदभव लगता है। इसकी व्युत्पत्ति संस्कृत के समस्त पद (दुग्धभाण्ड) या 'दुग्धभाण्डिका' से दी जा सकती है।

(118) धरणी — भार्या (सज्ञा) दे ना मा. 5-62 — हिन्दी की बोलियों में पत्नी के लिए 'धना' या 'धनी' शब्द प्रचलित है। राजस्थानी में तो 'धरणी' शब्द व्यो का व्यो प्रचलित है। इस शब्द को संस्कृत के 'धन' शब्द से भी व्युत्पन्न किया जा सकता है। भारतीय समाज स्त्री को भी एक बहुमूल्य 'धन' मानता है।

(119) धरिया — भार्या (सज्ञा) दे ना मा 5-58 — हिन्दी की बोलियों में प्रचलित 'धनिया' शब्द इसी का विकसित रूप होगा।

(120) पड़्य — ग्यचक्रम् (सज्ञा) दे ना मा 6 64 — हिन्दी तथा उसकी लगभग सभी बोलियों में प्रचलित 'पहिया' शब्द इसी का विकसित रूप है। ध्वनिपरिवर्तन नाम मात्र का ह् का आगम) है।

(121) पखरा — तुरगमनाह (सज्ञा) दे. ना मा. 6-10 — घोड़े की पीठ पर डाली जाने वाली गद्दी को 'पाखर' कहा जाता है। यह शब्द 'आल्हाखण्ड' में प्रायः व्यवहृत हुआ है। अरबी के अन्य ग्रामीण क्षेत्रों में भी (बुन्देलखण्ड के अनिरिक्त) यह शब्द प्रचलित है।

(122) पलही — कपास (सज्ञा) दे ना. मा — 6-40 — ब्रजभाषा में 'पहेला' तथा 'पेला' शब्द कपास के अर्थ में ही व्यवहृत होते हैं।

(123) पंखुडी — पञ्चम् (सज्ञा) दे ना मा. — 6-8 हिन्दी 'पंखुडी' 'पखडी' तथा ब्रजभाषा 'पान्खुडी' शब्द इसी के विकसित रूप होंगे। इन सभी शब्दों को संस्कृत पञ्च शब्द से व्युत्पन्न करने में पर्याप्त खींच तान करनी पड़ेगी। इस शब्द का सम्बन्ध तमिः 'पुङ्कु (Punku) शब्द से जोड़ा जा सकता है — संस्कृत में भी 'पुङ्ख' शब्द तीर के परदार सिरे के अर्थ में आता है। इसे भी तमिल की ही देन माना जा सकता है।

(124) — पडवा — पटकुटी (सज्ञा) दे ना मा 6-6 — हिन्दी 'पडाव' शब्द इसी से विकसित माना जा सकता है। इस शब्द को अरबी या फारसी का मानना उपयुक्त नहीं है — क्योंकि हेमचन्द्र के समय तक भारत में मुसलमान आ तो

गये थे परन्तु उनकी भाषा का प्रभाव उस समय तक लगभग नहीं ही पडा था ।

(125) पत्तल — कृश (विशेषण) दे ना मा 6-14 — हिन्दी 'पतला' शब्द इसी का विकसित रूप होगा (ब्रजभाषा तथा अवधी में 'पातर' मिलता है ।

(126) पप्पीओ¹— चातक (सज्ञा) — दे ना मा 6-12, हिन्दी 'पपीहा' अवधी 'पपिहा', 'पपिहारा' ब्रजभाषा 'पपिहा', 'पपीहरा' 'पपीहा' आदि पद इसी के विकसित रूप हैं । इन सभी का अर्थ भी चातक ही है । ध्वनिपरिवर्तन की दृष्टि से केवल 'हू' का आगम और प् का लोप हुआ है ।

(127) पूणी — तूललता (सज्ञा) दे. ना मा. 6-56 — हिन्दी तथा उसकी सभी बोलियों में 'पूनी' शब्द रूई को लपेट कर बनायी हुई वस्तु विशेष के अर्थ में प्रचलित है । यह शब्द थोड़े ध्वनिपरिवर्तन (ण को न्) के साथ ज्यो का त्यो उसी अर्थ में विकसित है । इसे कहीं-कहीं 'पिउनी' भी कहा जाता है । देशीनाममाला 6-78 में 'पिउली' शब्द भी आया है । 'पिउनी' शब्द इसी से विकसित माना जा सकता है ।

(128) पीढ — इक्षुनिपीडनयत्रम् (सज्ञा) दे ना मा. — 651 — हिन्दी का 'पीढा' या 'पिढई' शब्द इसी से व्युत्पन्न माना जा सकता है । हेमचन्द्र ने 'पीढ' शब्द एक विशिष्ट अर्थ (कोल्हू) में प्रयुक्त किया है । हिन्दी में वह अर्थ न होते हुए भी मूल अर्थ से विकसित अर्थ का सम्बन्ध दिखाया जा सकता है । ईख पेरने का कोल्हू आज भी दो लकड़ी के मोटे तख्तों (जिन्हें पीढा कहा जाता है) पर आधारित रहता है । अतः कोल्हू के एक आधार भाग के अर्थ में ही यह शब्द रूढ हो गया होगा । शब्दों के अर्थ विकास की परम्परा में यह असम्भव नहीं लगता । 'पीढ' शब्द को संस्कृत 'पीठ' शब्द से भी निष्पन्न किया जा सकता है — पर यहाँ भी पीठ पीढ ∟ पीदा आदि के विकास क्रम में अर्थ सम्बन्धी खींचतान करनी पड़ेगी । संस्कृत का 'पीठ' शब्द 'स्थान' वाची है जब कि हिन्दी का पीढा शब्द लकड़ी की बनी हुई वस्तु विशेष का वाचक है ।

(129) पुफ्फा — पितृष्वसा (सज्ञा) दे ना मा 6-52 — हिन्दी की बोलियों में प्रचलित 'फुआ' या 'बुआ' (पिता की बहिन) शब्द इसी के विकसित रूप हैं । 'बुआ' शब्द कहीं-कहीं मा के लिए भी व्यवहृत होता है । 'बुआ' या 'फुआ' के पति को

1. चातक के अर्थ में बप्पीओ (दे. ना. मा 6-90) और पप्पीओ (दे ना मा 7-33) दो अन्य शब्द भी मिलते हैं ।

‘फुफ्फा’ या ‘फूफा’ कहा जाता है। यह शब्द ‘पुफ्फा’ के अविक्रि समीप है। इसका अर्थ भी अपने मूल से जुड़ा हुआ है।

(130) पूरी — तन्तुवायोपकरण (सज्ञा) — दे. ना. मा 6-6 ‘पूरी’ शब्द ज्यो का त्यो जुनाहे के उपकरण के अर्थ में ही प्रचलित है। इसका एक अन्य रूप ‘पुल्ली’ भी है। यह शब्द अंग्रेजी के ‘गेटेलकाक’ का समानार्थी है।

(131) पेल्लिअ — पीडितम् (विशेषण) दे ना मा 6 57— हिन्दी की ‘पेलना’ (बलात्कारेण व्रस्त करना) क्रिया इसी शब्द से विकसित मानी जा सकती है। यद्यपि संस्कृत में भी ‘पेलृ’ गती¹, क्रिया पद विद्यमान है फिर भी वहा उसका अर्थ ‘चलना’ है न कि व्रस्त करना। इसी प्रकार संस्कृत ‘प्रेर’ (प्र+ईर) का भी अर्थ ‘चलना’ है न कि व्रस्त करना।

(132) पोट्ट — उदर (सज्ञा) दे ना मा 6-60 हिन्दी का ‘पेट’ शब्द इसी से सम्वद्ध है। अवधी के कुछ ग्रामीण क्षेत्रों में ‘पोटा’ शब्द भी प्रचलित है। ब्रज भाषा सूर कोष, पृ० 1115 पर ‘पेट’ शब्द की व्युत्पत्ति ‘स० पेटथेला’ शब्द से दी गई है जो स्वयं में ही अति हास्यास्पद है।

(133) पोत्तयो — वृषण. (सज्ञा) दे ना. मा. 6-62— हिन्दी तथा उसकी सभी बोलियों में मानव शरीर के एक महत्वपूर्ण अंग (अण्डकोश के लिये ‘पोत्ता’ या ‘फोना’ शब्द का प्रयोग होता है। निश्चित ही यह शब्द ‘पोत्तयो’ का ही विकसित रूप है।

(134) फमण — युक्तम् (विशेषण) दे ना मा 6-87— हिन्दी ‘फसना’ क्रिया पद इससे विकसित माना जा सकता है। इसे संस्कृत ‘पाश’ शब्द से भी व्युत्पन्न किया जा सकता है— पाश फाँस 7 फँसना।

(135) फोफा — भीषयितु शब्द (सज्ञा) दे ना मा 6-86— हिन्दी के ‘फोंफों’ तथा ‘फूफू’ जैसे ध्वन्यात्मक शब्द इसी से सम्वद्ध किये जा सकते हैं। ‘फुफकार’ या ‘फूफकारना’ सभी इसी शब्द के विकसित रूप माने जा सकते हैं। देशी नाममाला की ‘देख्य’ शब्दावली में अनेको ध्वन्यात्मक शब्द भी मकलित हैं। ऐसे शब्द तो निश्चित ही माहित्य को लोकजीवन की देन हैं। डा० पूर्ण सिंह² ने तो हिन्दी की सारी ‘ध्वन्यात्मक शब्दावली को देख्य’ कोटि में रखा है।

1. निदान्णोमृदां 1-574

2. सरपि अभिनन्दन ग्रन्थ।

(136) बडल्ल— वनीवर्द : (सज्ञा) दे. ना मा 6-91— हिन्दी 'बैल' अवधी 'बडल' आदि शब्द इसी के विकसित रूप होंगे । हिन्दी शब्दार्थ पारिजात (पृ 581) में भी 'बैल' शब्द को 'देश्य' ही माना गया है— संस्कृत 'वलीवर्द' से इसकी व्युत्पत्ति देना न तो व्याकरण सम्मत ही होगा और न पारम्परिक ही ।

(137) बुलका— मुष्टि : (सज्ञा) दे. ना. मा 6-94— हिन्दी तथा उसकी सभी बोलियों में 'बूँक' शब्द इसी अर्थ में प्रचलित है— जैसे बूँक भर दाना अर्थात् मुट्ठी भर दाना ।

(138) बुलबुला¹— बुदबुद (सज्ञा) दे. ना. मा. 6-95—हिन्दी तथा उसकी सभी बोलियों में 'बुलबुला' शब्द जलबुदबुद के अर्थ में प्रयुक्त होता है । तेलगु में भी 'बुलबुला' शब्द ही है । इस शब्द को भाषा के ध्वन्यात्मक शब्दों की कोटि में भी रखा जा सकता है ।

(139) बेडो²—नी (सज्ञा) दे ना मा 6-95—हिन्दी का 'बेड़ा' शब्द इसी का विकसित रूप है । परन्तु अर्थ विस्तार की प्रक्रिया में यह शब्द केवल 'दान' का धातु न रहकर नावों के समूह का अर्थ देने लगा है ।

(140) बोहारी-बउहारी—सम्मार्जनी (भाड़ू) दे ना मा.—6-97—हिन्दी में 'बोहारी' शब्द ही प्रचलित है । 'बुहारना' क्रिया तथा 'बुहार' (भाड़-बुहार) नाम पद का सम्बन्ध भी उपर्युक्त शब्द से ही जोड़ा जा सकता है ।

(141) भल्लू—ऋक्ष* (सज्ञा) दे. ना. मा 6-99—हिन्दी 'भालू' शब्द इसी से विकसित है । यद्यपि संस्कृत में 'भल्लूक' पद है, पर उसकी स्वयं की ही स्थिति सदिग्ध है । 'भल्लूक' शब्द जनता की सामान्य बोलचाल की भाषा से ग्रहण कर 'संस्कृत' (संस्कार किया गया,) शब्द प्रतीत होता है ।

(142) भुरकु डिअ —उद्धूलित (विशेषण) दे ना. धा. 6-106—अवधी में 'भुरकु ड' शब्द 'धुलधूसरित' होने के अर्थ में ही प्रचलित है । यह विशेषण और क्रिया (भुरकु डना) दोनों ही रूपों में व्यवहृत होता है ।

1. अंग्रेजी में भी Bubble शब्द मिलता है—'बुलबुला' शब्द से इसका पर्याप्त ध्वनि साम्य है ।

2. अंग्रेजी के Boat शब्द से इसको तुलना की जा सकती है ।

(143) मट्ठो—शृगहीन (सजा) दे ना मा. 6-112—हिन्दी में 'मट्ठर' शब्द 'आलमी' 'बहानेवाज' व्यक्ति के विशेषण रूप में व्यवहृत होता है। इसे 'मट्ठो' शब्द का ही विक्रान्त रूप माना जा सकता है। अर्थ विकास की प्रक्रिया में इस शब्द के मूल अर्थ में लाक्षणिकता के कारण विकास हो गया होगा। सींग और पूँछ से रहित बैल भी 'हल में न चलने वाला' 'आलमी' 'बहानेवाज' व मट्ठर माना जाता है। आगे चलकर इस प्रकृति के मनुष्य के लिए भी यही शब्द व्यवहृत होने लगा होगा। इस शब्द का मूल स्रोत तमिल है। वहाँ 'मोट्टाड' शब्द इसी अर्थ में मिलता है। हिन्दी का ग्रामीण बोलियों में 'मोट्टाई' शब्द भी अपने परिवर्तित अर्थ (बहानेवाजी) में देखा जा सकता है। हिन्दी का 'मोटा' विशेषण-पद भी इसी से सम्बद्ध किया जा सकता है।

(144) मम्मी—मामी—मातुलानी (सजा) दे ना. मा. 6-112—हिन्दी तथा उसकी बोलियों में 'मामी' 'मामा' शब्द प्रचलित हैं। 'मम्मी' शब्द 'मामी' के रूप में उसी अर्थ में तथा 'मामा' शब्द मामी के पति के अर्थ में परिवर्तित होकर प्रचलित है। 'मम्मी' शब्द भी हिन्दी में 'मा' के अर्थ में प्रचलित है परन्तु इसे अंग्रेजी के ममी शब्द से सम्बद्ध किया जाता है। वास्तव में यह हिन्दी को अंग्रेजी की देन न होकर प्राकृतों की देन है।

(145) माहुर—शाक (सजा)—दे ना. मा. 6-13—हिन्दी तथा उसकी बोलियों में 'माहुर' शब्द 'जहर' के अर्थ में प्रचलित है। सुखी व्यक्तियों के लिए 'शाक-खाना' 'जहर खाने' के ही समान होता है। इसी कारण 'शाकवाची' 'माहुर' शब्द 'जहर' वाची बन गया होगा। इसका प्रयोग प्रायः 'जहर-माहुर' जैसे मयुक्त पद में ही होता है।

(146) मुग्ई अमती (विशेषण) दे ना मा. 6-135—ग्रामीण अवधी में 'मुग्ही' 'मुग्हा' पद क्रमशः चरित्रहीन स्त्री-पुरुषों के विशेषण के रूप में प्रयुक्त होने हैं। वैसे इन शब्दों का सम्बन्ध संस्कृत के 'मूल' (अवधी मूर) शब्द से जोड़ा जा सकता है, परन्तु मूल नक्षत्र में पैदा हुए व्यक्ति का चरित्र-भ्रष्ट होना आवश्यक नहीं है—अत्यन्त व्यष्ट शब्दों में वह दुष्ट भले ही हो पर लोक जावन में 'छिनाल' शब्द से विभूषित नहीं होगा। 'मुग्ई' शब्द सीवे-सीवे 'छिनाल' अर्थ देता है। अतः 'मुग्ही' और 'मुग्हा' दोनों पदों का सम्बन्ध इसी से जोड़ा जाना चाहिए।

1. हिंदी शब्दावली परिभाषित पृ. 629 पर 'मोटा' शब्द 'देम्य' माना गया है।

हिन्दी शब्दों का रिज्ञात¹ में इसे 'देश्य' ही माना गया है ।

(147) मेली—जनराहति (सजा) दे ना मा. 6-138—हिन्दी तथा उसकी सभी बोलियों में 'मेली' शब्द 'सगी-साधी' के अर्थ में प्रयुक्त होता है । हिन्दी का 'मैला' शब्द भी इसी का विकसित रूप माना जा सकता है । यद्यपि संस्कृत में भी 'मैलक' शब्द आया है फिर भी उसे प्राकृतों की ही देन माना जाना चाहिए ।

(148) रई—मन्यान् (मयानी) (सजा) दे ना मा 7-3 ब्रजभाषा में 'रई' शब्द मयानी के अर्थ में व्यवहृत होता है—

‘फेरत कर उतरी रई नई विलोवन हारि । बिहारी ।

ब्रजभाषा नूरकोष पृ० 1440 पर 'रई' को संस्कृत 'रय' शब्द से व्युत्पन्न माना गया है । ध्वन्यात्मक विकास की दृष्टि में यह व्युत्पत्ति भले ही ठीक हो पर भाषागत शब्दों के विकास सिद्धान्तों तथा उनके प्रयोगगत वातावरण को ध्यान में रखते हुए 'रई' शब्द को 'देश्य' ही माना जाना चाहिए । प्रत्येक शब्द का संबंध मूल में जोड़ने की मनोवृत्ति एक स्वस्थ मनोवृत्ति कदापि नहीं कही जा सकती ।

(149) रिङ्गण—भ्रमण (सजा) दे ना मा -7-6—हिन्दी की 'रेगना' क्रिया का सम्बन्ध इससे जोड़ा जा सकता है । यह क्रियापद 'पेट के बल रगड़ कर चलने' के अर्थ में हिन्दी की सभी बोलियों में भी प्रचलित है । अवधी के कुछ क्षेत्रों में यह 'मनुष्य के चलने' का भी वाचक है । ब्र० सू० को. पृ. 1482 पर इसे संस्कृत के 'रिङ्गण' पद से व्युत्पन्न किया गया है । स्वयं 'रिङ्गण' भी 'रे' और 'गम्' दो धातुओं के मेल से बना है । यहाँ एक बात स्पष्ट रूप से कह देना उपयुक्त होगा । सामान्य जनजीवन में प्रचलित शब्दावली का अधिकांश भाग व्याकरण से व्युत्पन्न नहीं किया जा सकता । किसी भी शब्द की व्युत्पत्ति देने के पहले उस शब्द के प्रयोग से सम्बन्धित वातावरण को ध्यान में रखना आवश्यक होता है । अशिक्षित समाज व्याकरण एवं साहित्य का क्रम परम्परा का अधिक अनुसरण न करता है । ऐसी स्थिति में भाषा के सभी शब्दों को व्याकरण के बने बनाये ढाँचे में फिट करने का प्रयत्न सराहनीय नहीं कहा जा सकता ।

(150) रिद्ध—पक्व (विणेषण) दे ना मा 7-6—हिन्दी 'रीघना' क्रिया पकाने के अर्थ में प्रयुक्त होती है । इसका सम्बन्ध उपर्युक्त शब्द से ही होना चाहिए । संस्कृत 'ऋद्धि' (वटती) शब्द से इसकी व्युत्पत्ति सम्भव नहीं है ।

(151) हन्दी-विपुल — (विशेषण) दे. ना मा 7-14—अवधी में 'रिन्द' पद हट्टे-कट्टे तन्दुरुस्त व्यक्ति के विशेषण रूप में व्यवहृत होता है। अत्यल्प ध्वनि-परिवर्तन (उ का इ) के साथ इस शब्द का सम्बन्ध उपर्युक्त शब्द से जोड़ा जा सकता है।

(152) रूअ-तूल (सज्ञा) दे ना मा 7-9—हिन्दी तथा उसकी सभी बोलियों में प्रचलित 'रुई' शब्द इसी का विकसित रूप माना जा सकता है।

(153) रोट्ट — तन्दुलपिष्टम् (चावल का आटा) (सज्ञा) दे ना मा 7-11 हिन्दी 'रोटी' शब्द इसी का विकसित रूप होगा। पहले चावल के आटे का वाचक यह शब्द अपनी विकसितावस्था में उससे बनी हुई 'रोटी' शब्द का वाचक हो गया होगा। अवधी के कुछ क्षेत्रों में 'रोट' शब्द भी प्रचलित है। तमलि में भी 'रोट्टि' शब्द मिलता है। पी० बी० रामानुजस्वामी¹ रोट्ट को तद्भव मानते हुए इसे संस्कृत के 'रुच्य' शब्द से व्युत्पन्न करते हैं, पर यह व्युत्पत्ति उपयुक्त नहीं है।

(154) वक्खारय-रतिगृहम् (सज्ञा) दे. ना मा. 7-45—अवधी में 'वखरी' शब्द धनी लोगों के घर के लिए प्रयुक्त होता है। यह शब्द निश्चित ही 'वक्खारय' का ही विकसित रूप है। अवधी में ही 'वखार' शब्द 'अनाज' रखने की कोठरी के अर्थ में भी आता है। इसका भी सम्बन्ध उपर्युक्त शब्द से जोड़ा जा सकता है।

(155) वड्डो-महान (विशेषण) दे ना. मा 7-29—ब्रजभाषा 'वडो' हिन्दी 'वडा' अवधी 'वड' आदि शब्द 'वड्डो' के ही विकसित रूप हैं। अर्थ भी वही है। ब्रजभाषा मूर कोप² में इसकी व्युत्पत्ति संस्कृत के 'वर्द्धन' शब्द से दी गयी है। इससे हिन्दी का 'वटना' क्रिया पद निष्पन्न किया जा सकता है (वर्द्धन 7 वड्डण = 7 वटना) पर 'वडा' पद किसी प्रकार भी नहीं बन सकता।

(156) वड्डइओ-चर्मकार (सज्ञा) दे. ना मा 7-44—हिन्दी का जातिवाची 'वडई' शब्द का विकसित रूप माना जा सकता है। यद्यपि यहा 'वडई' का अर्थ 'चर्मकार' न होकर 'लकड़ी' का कार्य करने वाली जाति विशेष है फिर भी इसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। भारत की जाति व्यवस्था प्रायः कर्म के आधार पर ही की गयी है। कर्म की उच्चता और नीचता के आधार पर ही जाति की

1. दे ना मा - गतामने, पृ 73

2. मृ अ को, पृ 1180

भी उच्चता और नीचता पर आधारित रही है। हो सकता है कि किसी समय एक ही वर्ग के लोग लकड़ी और चमड़े का काम साथ ही करते रहे हो, और आगे चलकर कार्य विशेष के आधार पर दोनों के दो वर्ग बन गये हो। भारतीय वर्ण व्यवस्था में चर्मकार और बढ़ई दोनों ही को परगणित जाति का माना गया है। इस प्रकार के शब्दों का ऐतिहासिक अध्ययन भारतीय जाति व्यवस्था पर भी अच्छा प्रकाश डाल सकता है। सू० ब्र भा० कोश¹ में 'बढ़ई' शब्द को संस्कृत के 'वर्द्धकि' शब्द से निष्पन्न किया गया है—वर्द्धकि = वर्द्ध + वृद्धि। इस दृष्टि से यह शब्द भले ही तद्भव हो, पर उसका सांस्कृतिक परिवेश इसे 'देश्य' ही सिद्ध करता है।

(157) वद्विग्रो—पण्ड (हिंजडा) (सज्ञा)-दे ना मा. 7-37-हिन्दी तथा उन्हीं अधिकतर बोलियों में हिंजडे के लिए 'बाघिया' विशेषण पद प्रयुक्त होता है। संस्कृत 'वधित' से भी इसे व्युत्पन्न किया जा सकता है।

(158) वायारो—शिशिरवात (ठण्डी हवा) (सज्ञा) दे ना मा 7-56-हिन्दी में 'वयार' शब्द ठण्डी हवा के ही अर्थ में प्रयुक्त होता है। प्रायः इसे शरबी-फारसी की देन समझा जाता रहा है। वास्तव में इसका सम्बन्ध संस्कृत 'वायु' से होना चाहिए। यही शब्द जनजीवन में 'वयार' के रूप में विकृत होकर प्रचलित हुआ होगा।

(159) विग्रारिग्रो—पूर्वाहण भोजन (सज्ञा) दे ना मा 7-71 अवधी में 'वियारी' शब्द कलेऊ के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

(160) वोङ्गग्रो—भार (सज्ञा) दे, ना मा 7-80—हिन्दी 'बोझ' या 'बोझा' पद इसी का विकसित रूप होना चाहिए।

(161) सिलग्रो—उज्झ (सज्ञा) दे ना मा 8-30—हिन्दी 'मिला' या 'मीला' शब्द कटाई के बाद खेतों में पड़े हुए अन्न के अर्थ में प्रयुक्त होता है। यह शब्द निश्चित ही 'सिलग्रो' का ही विकसित रूप है।

(162) सूरणो कन्द (सज्ञा) दे ना मा 8-41—हिन्दी तथा उसकी लगभग सभी बोलियों में 'सूरन' पद बरसात में जमीन के अन्दर उगने वाली कन्द के अर्थ में प्रयुक्त होता है। इसको कच्चा खाने पर मुह में कनकनाहट होने लगती है।

(163) हट्टमहट्टो—नीरोग (विशेषण) दे ना मा. 8-65—हिन्दी 'हट्टाकट्टा' के मूल में यह शब्द देखा जा सकता है।

(164) हड़डं—ग्रन्थि : (मजा) दे. ना. मा. 8-59 — हिन्दी 'हड्डी' या 'हाड' के रूप में इस शब्द का विकास देखा जा सकता है ।

(165) हुरियाली—दूर्वा (मजा) दे ना मा. 8-64 —हिन्दी 'हरियाली' के रूप में स्वल्प ध्वनिपरिवर्तन (अ/य) के माध्यम इस शब्द को विकसित देखा जा सकता है । संस्कृत 'हरियाली' से भी इसकी व्युत्पत्ति किया जा सकता है ।

(166) हलबोली—वाचाल . (विशेषण) दे ना, मा 8-64 —अवधी में 'हलबुलहा' शब्द जल्दी जल्दी बोलने वाले तथा शीघ्र कार्य करने वाले दोनों ही के लिए प्रयुक्त होता है । यह उपयुक्त शब्द का ही विकसित रूप कहा जा सकता है ।

(167) हिट्ठो—आकुल : (विशेष) दे ना. मा. 8-67 —अवधी (हिट्ठी) तथा हिन्दी 'हठी' के रूप में इस शब्द को विकसित देखा जा सकता है । संस्कृत 'हठ' शब्द से व्युत्पत्ति करने पर यह शब्द तद्भव होगा ।

(168) हुनिश्रं—शीघ्रम (विशेषण) दे. ना. मा 8-59 — 'अवधी में हुलना' क्रिया नेज चलने या कोई कार्य शीघ्र करने के लिए या मारने 'के अर्थ में व्यवहृत होता है । उपयुक्त शब्द में ही इसका सम्बन्ध होना चाहिए ।

निष्कर्ष—

ऊपर देशीनाममाला के कुछ शब्दों का हिन्दी तथा उसकी बोलियों में विकास प्रदर्शित किया गया । इस कोष ग्रन्थ के और भी अनेकों शब्द अन्य आधुनिक भारतीय भाषाओं और उनकी बोलियों में विकसित दिखाये जा सकते हैं । यदि इस विषय के अधिकारी विद्वान इस ओर ध्यान दें तो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथ्य सामने आ सकते हैं । हिन्दी में भी कहीं अधिक मराठी, गुजराती तथा दक्षिणी भाषाओं कन्नड़ आदि की शब्द सम्पत्ति का व्युत्पत्तिपरक अध्ययन इस कोष के शब्दों के महारे सम्बन्धपूर्ण किया जा सकता है । देशीनाममाला की देश शब्दावली का अधिष्ठाण भाग आज की प्राचीन बोलियों में विकसित होकर प्रचलित है, भूल से इसे कहीं संस्कृत में सम्मिलित देखा जा रहा है तो कहीं अन्य आगन्तुक विदेशी भाषाओं में । वास्तव में भारत में जितनी भी प्रचलित भाषाएँ हैं सभी में परम्परा से चले आये शब्दों की भरमार है । इन शब्दों की स्थिति का पता मध्यकालीन भारतीय भाषाशास्त्रियों की शब्दावली के अवगाहन से ही लग सकता है, क्योंकि कम से कम भारतीय भाषाओं के बीच मध्यकालीन आर्य भाषाएँ ही ऐसी भाषाएँ हैं जो लोक-जीवन के अधिक निकट रही हैं उन्हींमें इनकी शब्द सम्पत्ति भी पारम्परिक प्रयोगों में बनी हुई है । आचार्य हेमचन्द्र ने इस अथाह सम्पत्ति के अवगाहन का सफल प्रयास

लिखता है। उक्त विषय, अर्थात् यौन-देव्य¹ नामी प्रकार के शब्दों का विवेचन स्पष्ट रूप से किया है। इससे मालूम यदि प्रागुक्त भास्तीय आर्य भाषाओं में विकसित शब्दावली का अध्ययन किया जाये तो अनेकों महत्त्वपूर्ण तथ्य सामने आ सकते हैं। यद्यपि लिखा है कि प्रागुक्त प्रयोग अत्यन्त सीमित है। देशीनामाला के नामपदों का अध्ययन अभी भाषाओं के विद्वान् यदि समुचित रूप से करें तभी इसकी सारी सुविधा सम्भव होगी है। अब यहाँ प्रस्तुत किये गये अध्ययन में निहित दृष्टि के अन्तर्गत ही यह माना जा रहा है कि अनुपयुक्त न होगा।

लिखत प्रयोग का अध्ययन ऊपर प्रस्तुत किया गया है यदि ध्यान में देखा जाय तो यही बात सर्वपरिचित 'सत्य' ही है। इन शब्दों के अध्ययन के बीच यह देखने में आया है कि लिखत परिस्थिति और सांस्कृतिक वातावरण के बीच में अन्तर्गत करने योग्य बात रहे तो, ऐसी ही परिस्थिति और वैसे ही वातावरण में देखा भी जाय रहे है। यह बात समझे जाय कि तथ्य की ओर इंगित करती है कि प्राचीन आर्य भाषाओं में अन्त में ऐसे तत्त्व हैं जिन्हें शिष्ट साहित्य ने ग्रहण कर उनका सही निष्ठा की मुरार लगा दी और उन्हें हम देख कर भी अनदेखा कर दित है।

1. देशीनामाला में हेमचन्द्र ने मात्र 'देव्य' कह जाने वाले मन्त्रावली का ही विवरण दिया है। 'देव्य' शब्दों का विवेचन उन्होंने अपने प्राकृत व्याकरण में छात्वादेश के रूप में किया है। इस प्रकार उन्होंने प्राकृतों की समस्त 'देव्य' शब्दावली का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत कर दिया है।

देशीनाममाला का भाषाशास्त्रीय अध्ययन

देशीनाममाला में संग्रहीत शब्दावली अपनी साम्प्रतिक महत्ता की दृष्टि से जितनी विलक्षण है उतनी ही भाषा शास्त्रीय दृष्टि से भी। 'देश्य' शब्दों की प्रकृति के विषय में पिछले अध्याय में बहुत कहा जा चुका है। यहां उन शब्दों का ध्वन्यात्मक रूपात्मक एवं अर्थगत अध्ययन प्रस्तुत किया जायेगा। भाषाशास्त्रीय अध्ययन के पूर्व यहां एक बात स्पष्ट कर देनी आवश्यक है—देशीनाममाला के शब्द प्राकृत के हैं या उनकी विकमितावस्था अपभ्रंश के हैं। यह कहना अत्यन्त कठिन है। आचार्य हेमचन्द्र ने इस ग्रन्थ की रचना अपने अपभ्रंश व्याकरण के पूरक ग्रन्थ के रूप में की थी। अतः इन शब्दों को अपभ्रंश का होना चाहिए, परन्तु इनमें निहित प्राकृत भाषा की विशेषताएं इस मान्यता से परे सकेत करती हैं। इतना ही नहीं ये शब्द साहित्यिक प्राकृतों से भी अपना स्पष्ट भेद प्रदर्शित करते हैं। क्योंकि प्राकृतों में होने वाले परिवर्तनों से ये सर्वथा भिन्न हैं। ऐसी स्थिति में इन शब्दों का सम्बन्ध किसी भाषा की विशेष स्थिति से जोड़ पाना एक अत्यन्त कठिन कार्य है। देशीनाममाला की शब्दावली को अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से तीन भागों में बांटा जा सकता है—(1) तत्सम, (2) तद्भव (3) देशज। तत्सम शब्द ध्वन्यात्मक एवं रूपात्मक गठन की दृष्टि से साम्प्रतिक से मिलते-जुलते हैं, तद्भव शब्द वर्णविकार, लोप, आगम आदि नियमों से युक्त होकर प्राकृत शब्दावली के अंश हैं परन्तु देश्य उन्हें जाने वाले शब्दों की प्रकृति प्रत्यय हीनता के कारण किसी भी भाषा से जोड़ा या व्युत्पन्न नहीं किया जा सकता है। डा. नेमिचन्द्र शास्त्री¹

1. 'देश्य देशीण्ड मग्रह. स्वोपज्ञानदानुशासनाष्टमाध्यायशेषोऽस्त्यावलीनामाचार्य हेमचन्द्रेण विरचित इति भद्रम् ॥

ऐसे शब्दों को 'निपात' कहते हैं । देशीनाममाला की शब्दावली के बीच लगभग 600 शब्द ऐसे हैं जिन्हें सभी दृष्टियों से देश्य कहा जा सकता है । आगे भाषाशास्त्रीय दृष्टि से इन तीनों प्रकार के शब्दों का अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है ।

ध्वनिग्रामिक विवेचन—

आधुनिक भाषावैज्ञानिकों की दृष्टि में किसी भी भाषा में पाये जाने वाले ध्वनिग्रामों के दो विभेद होते हैं—

(1) खण्डीय ध्वनिग्राम ।

(2) खण्डेतर ध्वनिग्राम ।

खण्डीय ध्वनिग्रामों के अन्तर्गत् किसी भाषा-विशेष में प्रयुक्त स्वरों और व्यंजनो का विवेचन किया जाता है । खण्डेतर ध्वनिग्रामों में अनुस्वार विवृति, सुर, आघात, बल आदि की गणना की जाती है । इस विभाजन के आधार पर देशी नाममाला में सकलित शब्दों का ध्वन्यात्मक विवेचन निम्न प्रकार है ।

खण्डीय ध्वनिग्राम—

(1) स्वर ध्वनिग्राम—देशीनाममाला के शब्दों में कुल 8¹ स्वर ध्वनिग्राम हैं—

अ, आ
इ, ई
उ, ऊ
ए, ओ
(ए) (ओ)

ह्रस्व ए (ए.) तथा ह्रस्व ओ (ओ) को मिला देने से कुल 10 स्वर हो जाते हैं, परन्तु इन्हें अलग स्वर ध्वनिग्राम न मानकर क्रमशः 'ए' तथा 'ओ' का सस्वन माना जाना चाहिए । इनके लिए अलग से कोई लिपिचिह्न भी प्रयुक्त नहीं है ।

1. भरत ना. शा. (17-7) में प्राकृतों में प्रा. भा. आ. 14 स्वरध्वनियों के स्थान पर 8 को ही स्थिति स्वीकार करते हैं । हेमचन्द्र (8-1-1 की वृत्ति) भी यही स्वीकार करते हैं । त्रिविक्रम की 1-1-1 परवृत्ति लक्ष्मीधरकृतचन्द्रिका तथा अन्य प्राकृत व्याकरणों में भी कुल 8 स्वरों को ही स्वीकार किया गया है ।

स्वरध्वनिग्रामो के प्रयोग की दृष्टि में देशीनाममाला पूर्णरूपेण प्राकृत स्वरों का अनुसरण करती है ।

प्राप्य स्वर ध्वनिग्रामो की प्रकृति—

अ—कण्ठस्थानीय, अवृत्तमुखी, मध्य तथा विवृत स्वर है । भाषावैज्ञानिक दृष्टि से प्रधान स्वर ध्वनिग्राम 'अ' जिह्वाग्र से उच्चारित होता है अतः यह अग्रस्वर है । नन्कृत के प्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनि ने 'अ' को संवृत स्वर बताया है (अ, अ सूत्र में) । नन्कृत में यह भले ही संवृत रहा हो । म भा आ में यह विवृत हो गया और आज भी अवधी-भोजपुरी आदि बोलियों में विवृत ही है । दे. ना. मा. में भी यह 'विवृत' स्वर ही है ।

(2) जिन प्रकार प्राकृत तथा अपभ्रंश में मध्यवर्ती तथा अन्त्य 'अ' विविध स्वरों और व्यंजनो का स्थानीय होकर आया है, उन्ही प्रकार इसका प्रयोग दे. ना. मा. की शब्दावली में भी हुआ है—जैसे अक्कदो L आक्कन्द (दे. 1-15) उज्झसिअ L अव्यमित (दे 1130) अच्चभल्लो L अक्षभल्ल (दे 1137) ।

आ—कण्ठस्थानीय, स्वल्पवृत्तमुखी शिथिल, पृष्ठ तथा विवृत स्वर है । इसके उच्चारण में जिह्वापृष्ठ के प्रयोग होने के साथ ही मुख अधिक खुलता है । देशीनाममाला की शब्दावली में यह शब्द अधिकांशतः अपने मूल रूप में ही व्यवहृत हुआ है । कहीं कहीं यह 'अ' के रूप में तथा कहीं 'इ' के रूप में भी परिवर्तित मिलता है । ऐसा प्रायः इन कोश के तद्भव शब्दों में ही हुआ है, देश्य शब्दों में इसकी अपनी मही स्थिति विद्यमान देखी जा सकती है ।

इ—तालव्य, अवृत्तमुखी, अग्र तथा संवृत स्वर है । दे. ना. मा. की शब्दावली में यह स्वर ध्वनिग्राम अपने शुद्ध और परिवर्तित दोनों ही रूपों में मिलता है । शुद्ध रूप में इसकी आद्य, मध्य और अन्त्य तीनों ही स्थितियाँ मिलती हैं, विशेषकर 'दिप्र' शब्दों में । परिवर्तित रूप में कहीं यह ऐ L ई (इरावो7 ऐरावत्-दे 1-60) कहीं अ7 इ (उन्नुविअ L उन्नुगुप्फ-दे 1142), कहीं ई7 इ, (इण्हि L इदानी दे 1179) कहीं उ7 इ (पिच्छी L पुच्छ-दे 6-37) कहीं ऋ7 ई (मिग L मृज्जम् दे 6-104) आदि रूपों में मिलता है ।

उ—इसमें और 'इ' में उच्चारण की मात्रा भर का भेद है । उच्चारण में दोनों होने के अनतिरिक्त और सभी विज्ञेयताएँ 'इ' जैसी ही हैं । दे. ना. मा. के देश्य शब्दों में इनकी आद्य, मध्य और अन्त्य तीनों ही स्थितियाँ अपनी मूल विज्ञेयताओं में संयुक्त हैं तद्भव शब्दों में यह कहीं ङ7 ई (मयली L मकलित् दे. 8-11) तथा

दिवाऽत्ति८ दिवाकीति दे० 5-41 रूप में भी मिलता है ।

उ—घोष्ठ्यन्तानीय, पूर्णवृत्तगुणी पश्च तथा सवृत स्वर है । दे ना मा के शब्दों में इसका आद्य, मध्य श्रौद अन्त्य तीनों रूपों में प्रयोग हुआ है । इसकी अन्त्य स्थिति में प्रयोग बहुत थोड़े हैं, विशेष रूप से 5 देश्य शब्दों, आत, दिवन्, मज्, चीनु और हणु में ही इसकी अन्त्य स्थिति मिलती है । ओ७उ के प्रयोग बहुत मिले हैं—जैसे—कुपञ्च८ कुरोन्य (दे. 2-63) । ओ७उ (गुह८८ गोपु८ दे. 2133) ऋ७उ (उ अ अ८ ऋजु८ दे 1188) आदि प्रयोग भी सामान्य हैं ।

'उ' स्वर ध्वनिग्राम की स्थिति को देनाते हुए, दे ना मा के शब्दों का सम्बन्ध 'उत्तर बट्ठा' अपभ्रंश से जोड़ पाना सर्वथा असम्भव सा लगता है । शास्त्र में धारान्त पुल्लिङ्ग शब्दों में विसर्ग के स्थान पर प्रायः 'उ' का प्रयोग हुआ है प्राचीनों में 'ओ' का प्रयोग होता रहा है । देशीनाममाला के पुल्लिङ्ग शब्द अधिकांशतः ओत्तरान्त हैं, विसर्ग स्थानीय 'उ' का सर्वथा अभाव है । इसका विस्तृत विवेचन आगे करा स्थान किया जायेगा ।

उ—दीर्घ उच्चारण के अतिरिक्त इसकी सारी विशेषताएँ 'उ' जैसी ही हैं । दे ना मा के शब्दों में शुद्ध ऊँ का प्रयोग आदि मध्य श्रौर अन्त्य तीनों ही स्थितियों में हुआ है । तद्भव शब्दों में इसके परिवर्तित रूप भी मिलते हैं । कही ऊ८ अ (ऊतयो८ अत्वस्य. दे 1-143) कही ऊ८ आ (कृसारो८ कासारो दे 2-44) कही ऊ८ व (ऊतलिय८ उल्लसित दे 1-141) आदि ।

(ए) कण्ठनालव्य, अवृत्तमुखी शिथिल, अग्र, अर्धविवृत स्वर है । म का भा आर्यभाषाओं में इस स्वर ध्वनिग्राम की स्थिति लगभग सभी विद्वानों ने स्वीकार की है । इसमें लिए कोई अलग लिपि चिह्न न तो पहले ही था और न आज ही है । इसे 'ए' स्वर ध्वनिग्राम का ही एक सस्वन (ए) कहा जा सकता है । दे. ना मा के शब्दों में ऐसे किसी भी स्वर ध्वनिग्राम का उल्लेख नहीं मिलता फिर भी सयुक्ताक्षरों के पहले का 'ए' स्वरग्राम (ए) के रूप में उच्चरित होता है¹—जैसे—

1 विशेष ने सकेत किया है कि प्राकृत काल में ह्रस्व ए, ओ ध्वनिया थी (प्रा व्या 84:119) इन ए ओ का विकास ऐ, औ इ, उ, कई स्रोतों से हुआ देखा जाता है तथा सयुक्त व्यंजन ध्वनि के पूर्व ह्रस्व ए, ओ नियत रूप से ह्रस्व (विवृत) उच्चरित होते हैं । डा. टंगारे ने भी अपभ्रंशकाल में ह्रस्व ए ओ की सत्ता मानी है । (पृ 39) तथा इस बात का भी सकेत किया है कि उत्तरी हस्तलेखों में प्रायः इन्हे 'इ' 'उ' के रूप में लिखा जाता है । डा. याकोवी ने भी इसका उल्लेख 'भविष्यत्त कहा' की भूमिका में किया है ।

एकधरिल्लो (एकधरिल्लो (दे 1-146) । दे. ना मा. के शब्दों में आदिम स्थिति में (ए) मस्वन का प्रयोग 8 शब्दों में हुआ है । इसके मध्यस्थिति वाले प्रयोग तो अनेक हैं, हा अन्त्य प्रयोगों का सर्वथा अभाव है । इन अभाव का सबसे बड़ा कारण यह है कि दे. ना. मा. के शब्द निर्विभक्तिक रूप में सकलित हैं ।

ए—कण्ठतालव्य अवृत्तमुखी, शिथिल, अग्र, अर्ध संवृत स्वर हैं । दे. ना. मा. के शब्दों में इसका प्रयोग आद्य और मध्य स्थितियों में बहुधा हुआ है, अन्त्य प्रयोग केवल एक शब्द (पुडे—दे. 6-52) में मिलता है । प्रा. भा आ के 'ऐ' स्वर ध्वनिग्राम के स्थान पर भी सर्वत्र इसका व्यवहार हुआ है ।¹ कहीं-कहीं यह 'ड' के गुण स्वर के रूप में भी व्यवहृत है—जैसे एराणी, इन्द्राणी—दे. ना. 1-147 ।

(ओ)—कण्ठ्योष्ठ्य, वृत्तमुखी, शिथिल, पञ्च तथा अर्धविवृत स्वर है । यह भी 'ओ' स्वर ध्वनिग्राम के एक सस्वन (ओ) के रूप में व्यवहृत हुआ है । (ए) की भाँति इसका भी कोई लिपिचिह्न नहीं है । सयुक्ताक्षरों के पहले का 'ओ' स्वर ध्वनिग्राम ही (ओ) के रूप में उच्चरित होता है । दे. ना मा के शब्दों में यह 'मस्वन' आद्य और मध्य दो ही स्थितियों में प्रयुक्त हुआ है । अन्त्य स्थिति में यह भी प्रयुक्त नहीं है ।²

'ओ—कण्ठ्योष्ठ्य, वृत्तमुखी, शिथिल, पञ्च तथा अर्धविवृत स्वर हैं । दे. ना मा के शब्दों में इसके आद्य मध्य और अन्त्य तीनों ही स्थितियों के प्रयोग मिलते हैं । विशेषतया 'दिश्य' शब्दों में । तद्भव शब्दों में यह कहीं उ के स्थान पर (उत श्रुति से) तथा कहीं ओ के स्थान पर प्रयुक्त हुआ है ।

देवीनाममाला के शब्दों में इन्हीं (8) (ए) (ओ) की गणना कर लेने पर (10) स्वर ध्वनिग्रामों का प्रयोग हुआ है । प्राचीन भारतीय आर्यभाषा के शेष स्वर ध्वनिग्राम ऋ, लृ, ऐ, औ, अ, अ आदि का प्रयोग कहीं भी नहीं हुआ है । इन नवी का प्रयोग तो प्राकृतों की प्रारम्भिक अवस्था से ही समाप्त हो चला था । भरत

1. एलविनो [एलविनो—दे 1-148]

2. हेमचन्द्र अपने अपभ्रंश व्याकरण (4-410) में ह्रस्व 'ओ (ओ) का अपभ्रंश में प्रयोग स्वीकार करते हुए 'तनु ह्रस्वनि-जुगि दुल्लहो' उदाहरण भी देते हैं । देवीना में (ह्रस्व ओ (ओ) के अन्त में प्रयोग का न प्राप्त होना भी) इसके शब्दों को अपभ्रंश भाषा में उक्त ही स्थिति है । इस कोष के पुल्लिङ्ग शब्द प्रायः 'ओकारान्त' हैं, न तो कहीं इन शब्दों में 'ओ' का अन्य उच्चारण ह्रस्व होता है और न ही इन शब्दों के प्रयोग स्वरूपों की 'आव्यात्मक' गायार्थों में ही । ऐसी स्थिति में इन शब्दों की प्रकृति इन्हीं अपभ्रंश भाषा से प्रयुक्त दूरी पर रखी है ।

ने पाने नाट्यशास्त्र में प्राकृतों में इन सभी स्वरों के अप्रयोग की स्पष्ट चर्चा की है—

ए आ आरपरणि अ अ मारपर अ पाग्रए णत्थि ।

×

×

×

ना. शा. 17-7 ॥

यही मत हेमचन्द्र (नि. हे. 81111 की वृत्ति) त्रिविक्रम (11111 की वृत्ति) आदि का भी है। प्राचीन आर्यभाषा के इन (ऋ, लृ, ऐ, औ, अ, अ) छः स्वरों का नवतान्त्र प्राकृतों में 8 पदान्तर स्वरों (अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ओ) के अन्तर्गत हो कर निर्या गया। इन स्वरों की स्थिति किसी भी प्राकृत व्याकरणकार ने नहीं स्वीकार की। जब साहित्यिक प्राकृतों में ही इनकी स्थिति नहीं रही तो लोकजीवन की जीवन्त भाषा में व्यवहृत होने वाले देश्य शब्दों में इनकी स्थिति का प्रश्न ही नहीं उठता। प्राकृत भाषाओं के अनुकूल ही देश्य शब्दों में भी इन स्वरों का परिवर्तन स्व प्राप्त होता है। इनमें से प्रत्येक का वर्ण विकार निम्नलिखित रूपों में प्राप्त है।

—

1 ऋ 7 अ—अच्छभल्लो ऽ ऋक्षभल्ल (दे. 1-37), अवत्तय ऽ अवृत (दे. 1-34) ।

2 ऋ 7 इ—भिग ऽ भृङ्गम् (दे. 1-104), भिगारी ऽ भृगारी (दे. 1-105) । उग्रनित्तम् ऽ पुरस्कृत (दे. 1-107) ।

3 ऋ 7 उ—उग्रम् ऽ ऋजु (दे. 1-88), उड्डणो ऽ वृद्ध, (दे. 1-23) ।

4 ऋ 7 रि—रिछोली ऽ ऋक्षालि (दे. 7-7), रिद्धी ऽ ऋद्धि (दे. 7-6)

5 ऋ 7 अर—करमरी ऽ करमृदित (दे. 1-15)

6 ऋ 7 ए—यह परिवर्तन देशीनाममाला के शब्दों में बिल्कुल नहीं है ।

प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाओं में 'ऋ' के प्रयोग को लेकर विद्वानों में पर्याप्त विवाद है। 'ऋ' का उच्चारण प्राकृतों में लगभग समाप्त हो गया, इसीलिए व्याकरणकारों ने प्राकृत वर्णमाला में इसकी गणना भी नहीं की। अपभ्रंश में भी यही स्थिति रही। अपभ्रंशकाल में कहीं कहीं लोकभाषाओं में इसका उच्चारण रह गया था इसकी सूचना हेमचन्द्र ने 8141329 तणु, और सुकिदु और सुकृदु के

सदाहरणों में तथा दो अपभ्रंश दोहों में 'गृह्णइ'¹ और 'घृण'² के प्रयोग के रूप में दिया है। रामतर्कवागीश के अनुसार—सिन्धु देश की वाचड अपभ्रंश में मृत्यादिगण में अन्यत्र 'ऋ' का उच्चारण होता है।³ इन्हीं तथ्यों को ध्यान में रखते हुए पिगेल ने यह स्वीकार किया कि 'ऋ' का उच्चारण 'अपभ्रंश प्राकृत में' रह गया है। अधिकांश अपभ्रंश बोलियों में सभी प्राकृत आचार्यों का नियम है, 'ऋ' नहीं होता।⁴ निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि कुछ प्रादेशिक भाषाओं को छोड़कर जेप म. भा. आ. में 'ऋ' की स्थिति नहीं रही। ग्रामीण बोलियों में तो इसे निश्चित ही म्यान नहीं मिला। दे. ना. मा. की शब्दावली इन्हीं ग्रामीण बोलियों से सवद्ध है, अतः में 'ऋ' का सर्वथा अभाव स्वाभाविक ही है।

लृ का प्रयोग—

'लृ' स्वर का प्रयोग वैदिक काल से ही विरल रहा है। इसका प्रयोग केवल एक ही धातु 'वलृप्' में है। ऋग्वेद प्रातिशाख्य के अनुसार पद के आदि और अन्त में लृकार स्वरो में परिगणित नहीं होता।⁵ पाणिनि ने अपने माहेश्वर सूत्र में 'लृ' की गणना की है (ऋ लृ क्) परन्तु महाभाष्यकार पतञ्जलि स्वीकार करते हैं कि इसका प्रयोग क्षेत्र स्वतन्त्र है जो प्रयोग है भी वह मात्र 'वलृप्' धातु तक सीमित है।⁶ यहीं पर वे यह भी बताते हैं कि पाणिनि ने 'लृ' का प्रयोग यहच्छा अशक्तिज अनुकरण और प्लुतादि के लिए ही किया होगा। प्राकृत व्याकरणकारों ने 'लृ' का 'इलि' आदेश ही स्वीकार किया है। ऋमदीश्वर (5-16) अपभ्रंश में 'वलृप्त' का 'कत्त' रूप स्वीकार करते हैं। निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाओं में 'लृ' स्वर नहीं रहा। इसी के अनुरूप दे. ना. मा. के शब्दों में भी लृ का प्रयोग कहीं नहीं मिलता।

ऐ—ह्रस्वीकरण की प्रवृत्ति के कारण प्राकृतों में 'ऐ' का उच्चारण 'ए' या 'इ' और 'अइ' रूप में मिलता है। यही स्थिति अपभ्रंश में भी है दे. ना. मा. की शब्दावली 'ऐ' के इसी ह्रस्वीकृत रूप को स्वीकार करती है।

1. व. घा. 8:4:336

2. वही-8:4:330

3. मृ. गणपरेण र-ऋताविहत् प्रकृत्या (3:3:12)

4. प्राकृत भाषाओं का व्याकरण-पिगेल, पृ. 96

5. अ. प्रा. 1:9

6. नक्षत्राणां लृकार्ण्वं प्रयोग विषय । यस्मापि प्रयोग विषय सोऽपि वलृप्तिरस्यैव ।
म. भा. दि. आ. 11

ऐ 7 ए या 'इ'—एलविलो८ऐलविलो (दे 11148) एलविलो८नैर्लक्षः (दे 4144) 'वैमल्ल८वैकल्य (दे 8175) वेलुलिग्र८वेदूर्य (दे. 7177), सेलूसो८शैलप. (दे 8121) । इरावो८ऐरावत (दे 1180)

ऐ 7 अउ - सइरवमहो८स्वैरवृषम (दे 8121) पूरे कोश में यही एक शब्द प्राप्त है ।

औ 'ऐ' की भाँति 'औ' भी ह्रस्वीकृत रूप में 'औ' या 'उ' तथा 'अउ' के रूप में प्राप्त होता है ।

औ 7 औ या उ—कोमुई८कोमुदी (2148) कोलिओ८कीलिक (दे 2165) कुहु८कोनुक (2-33) ।

औ 7 अउ - पउढ८प्रोटम् (दे 614) । 'औ' का 'अउ' रूप में विकार इस कोश के शब्दों में नहीं प्राप्त होता । जिन शब्दों में यह विकार है भी वहाँ वह अन्य स्वरों का स्थानीय है ।

स्वर ध्वनिग्राम वितरण

ऊपर दे ना मा में प्राप्त स्वर ध्वनिग्रामों की प्रकृति का ऐतिहासिक विवेचन प्रस्तुत किया जा चुका है । अब इन खण्डीय ध्वनिग्रामों का शब्द की आदिम माध्यमिक और अन्तिम तीनों स्थितियों में प्रयोगों का विवेचन कर लेना भी समीचीन होगा । सध्वनियों सहित इनके उदाहरण निम्न प्रकार हैं ।

स्वरध्वनिग्राम सध्वनि आदिम-सन्दर्भ मध्य-सन्दर्भ अन्तिम स्थिति सन्दर्भ
अ अ अइरो (दे 1-16) कालवट्ठ (दे 2-28) ओग्गाल (दे 1-15)
ओद्दाल
अ अकेल्ली (दे 1-7) अंदसणो (दे 1-29) अद्धविषवम (1-34)

आ आ अफरो (1-63) अवयारो (1-32) आडाडा (1-64)
आमेलो (1-62) आणाई (1-64) अम्माइआ (1-22)
आ—यह सध्वनि किसी भी शब्द में नहीं मिलती ।

इ इ इत्तो (1-82) किरिइरिआ (2-61) पसडि (6-10)
इम्भो (1-79) इरिआ (1-80) सरत्ति (8-2)
इ इदमहो (1-81) उध्विव (1-27) अन्तिम स्थिति का प्रयोग किसी
इ दोवत्तो (1-81) कार्लिजणी 2-29 भी शब्दों में नहीं है । शब्दों के
निर्दिष्ट होने के कारण

कोइला (2-49) ऐसा हुआ है ।

छोइओ (3-33)

ई	ई	ईम ¹	इल्लीरं (183)	कुमारी (2-35)
		ईसओ (1-84)	गडीरी (2-82)	कुमुली (2-39)
		ईसरो	गदीगी (2-83)	कु भी (2-34)
		ईसिअ	गडीव (2-84)	कुरगी (2-40)

ई—इस सध्वनि का प्रयोग कहीं नहीं है ।

उ	उ	उडू (1-86)	कउह (2-5)	टिवह (4-3) ²
		उअरी (1-98)	कहुआलो (2-57)	हणु (8-59)
	उ	—	कोउआ (2-48)	
			पोउआ (6-61)	
	उ	उवा (1-86)	उलुउ डिअ (1-115)	मुंडुं (6-100)
		उवी (1-86)	उल्लु टिअ (1-109)	वीमु (7-73)

ऊ	ऊ	ऊरणी (1-140)	आऊर (1-176)	आऊ (1-61)
		ऊरो (1-143)	अवगूढ (1-20)	उडू (1-86)

ऊ—इस सध्वनि का प्रयोग विल्कुल नहीं है । क्योंकि शब्द निर्विभक्तिक होकर प्रायः प्रतिपादिक रूप में ही सकलित हैं ।

स्व ध्व संध्वनि आदिम — म

ए	ए	एमिणिआ (1-145)	पु डे ³ (6-52)
		एलो (1-144)	छेनअओ (3-32)
			छेली (3-31)
	ए	गेंड (2-93)	
		गेंडल्ल (2-94)	
	ए	एककगं (1-144)	कालेज्ज (2-29)
	ए	एककसिवली (1-146)	पेज्जल (6-57)

ओ	ओ	ओर (1-149)	छिवकोट्टली (3-37)	छाओ ⁴ (3-33)
		ओरल्ली (1-154)	छिवकोलिअ (3-25)	कुहडो (3-36)
	ओ	—	कोडिओ (2-48)	
			कोडुल्लू (2-49)	

1 पूरे कोश में कून चार ही शब्द हैं ।

2 पूरे कोश में उकारान्त केवल दो ही शब्द हैं ।

3 पूरे कोश में यही एक एकारान्त शब्द है ।

4 कोशमें में ओकारान्त शब्दों की भरमार है और ये सभी प्रायः पुल्लिङ्ग हैं ।

श्री श्रीत्यश्री (1-151) षोड (6-60)

श्रीच्छिग्र (1-150) मोगरो (6-139)

‘खण्डंतर स्वर ध्वनिग्राम’

अनुस्वार तथा अनुनासिक—

दे ना मा. के शब्दों में वर्गीय अनुनासिक व्यंजनो के स्थान पर सर्वत्र अनुस्वार (विन्दु) () का व्यवहार किया गया है। स्वरों के जिस क्रम में हेमचन्द्र ने इसका व्यवहार किया है उससे स्पष्ट है कि वे इसे स्वरों का ही अंग मानते हैं। इतना होते हुए भी उन्होंने अलग से इस स्वर की परिगणना नहीं की। भरत ने तो प्राकृत स्वरों की गणना में अकार को स्पष्ट ही स्थान दिया था।¹ सर्वप्राचीन प्राकृत व्याकरण वररुचि ने भी भरत की इसी मान्यता को स्वीकार करते हुए पदान्न ‘म्’ की विन्दु () सज्ञा स्वीकार की।² हेमचन्द्र ने पाणिनि की ही मान्यता ‘मोऽनुस्वार’ को ज्यो का त्यो ग्रहण कर लिया।³ त्रिविक्रम ने वररुचि की भाँति पुनः इसे विन्दु रूप में स्वीकार किया।⁴ वैदिक संस्कृत और संस्कृत में वर्गीय व्यंजनों के अतिरिक्त अन्य व्यंजनों के संयोग में पदान्न ‘म्’ का अनुस्वार हो जाता था। स्वरों के परे रहने पर अनुस्वार न होकर स्वर म् के साथ मिल जाता था। अनुस्वार की यह स्थिति उसे व्यंजन वर्ग के अन्तर्गत ही सिद्ध करती है। इसीलिए मुक्ल यजु-प्रातिशाख्य ‘व्यंजनकादि’ 1।47 सूत्र में ‘अ इत्यनुस्वार एतदन्तम्’ रूप में अनुस्वार ‘व्यंजनो के ही अन्तर्गत गिना गया। परन्तु ऋग्वेद प्रातिशाखायाँ 1।11 में ‘अनुस्वारो व्यंजनो वा स्वरों वा’ कहकर इसे स्वर और व्यंजन दोनों ही स्वीकार किया गया। इसी सूत्र की व्याख्या में अनुस्वार में कुछ व्यंजन धर्म अर्धमात्राकालता एव संयोग तथा कुछ स्वर धर्मों को भी जैसे ह्रस्व, दीर्घ आदि बताया गया।⁵ इसी ग्रन्थ में अनुस्वार और विसर्ग को पूर्व स्वर का अंग स्वीकार किया गया है। भरत ने इसी अकार पद्धति को स्वीकार कर अनुस्वार को स्वरों के अन्त में स्थापित किया गया है। वस्तुतः किसी भी स्वर के उच्चारण के अनन्तर जब जिह्वा अनुस्वार के उच्चारण में शीघ्र प्रवृत्त होती है तो नासिक विवर में श्वास ले जाने के

1. ना शा अध्याय 14

2. मो विन्दु प्रा प्र 4।12

3. मोऽनुस्वार मि हे 8।1।23

4. त्रिदल प्रा श 1।1।40

5. ‘अ’ इत्यनुस्वारो वर्ण समाम्नाये पठ्यते, स काश्चित् स्वरधर्मान्गृह्णति काश्चित् व्यंजनधर्मान् यथा ह्रस्वत्व दीर्घत्वमृदात्तत्वमनुदात्तत्व स्वरितत्वमिति स्वरधर्मा. तथा अर्धमात्राकालता स्वरवर्णोदात्तता स्वरितता संयोगश्चेति व्यंजनधर्मा. ।’

लिए अलिङ्गित (कोशा) को उठाना पड़ता है। इस स्थिति में आकर स्वर उच्चारण के समाप्त होने-होने अनुनासिक होने लगना है अतः अनुस्वार के साथ स्वर का अनुनासिकीकरण सम्बद्ध है। स्वरानुवर्त्ता अनुस्वार स्वर को प्रभावित करता है। इसका निषेध नहीं किया जा सकता। प्राकृत और अपभ्रंश में अनुस्वार के पूर्ववर्त्ती स्वर बहुधा अनुनासिक होते देखे गये हैं।¹ सरलीकरण की पद्धति में आगे चलकर प्राकृत तथा अपभ्रंश में परसवर्णविधान न होकर सर्वत्र अनुस्वार का ही प्रयोग किया जाने लगा। देशीनाममाला के शब्दों में भी इसी पद्धति में सर्वत्र अनुस्वार विधान मिलता है।¹ यह कोश केवल सज्ञा तथा विशेषण पदों का ही मकनन है। इसमें स्वरानुनासिकीकरण की प्रवृत्ति केवल दो ही रूपों में प्राप्त होती है—

- (1) पदों के अन्त में प्रायः नपुंसक लिङ्ग के द्योतन के लिए—‘अ’ का प्रयोग जैसे कदोदृ नीलोत्पलम् (दे 2-19), कडल-करीषम् (दे 2-17)।
- (2) विशेषण पदों में ‘क्त’ प्रत्यय के द्योतक ‘अ’ के रूप में—जैसे कड-तरिअ-दारितम् (दे 2-20) किलिम्मिअ-कथितम् (दे 2-32)
- (3) वर्गीय अनुनासिक व्यञ्जनों के स्थानी रूप में—जैसे ककोड (दे 2-7), कची (दे 2-1), गडो (दे. 2-99) गवलया (दे. 2-85), गुफो (दे. 2-90)

विमर्ग का प्रयोग—

देशीनाममाला के किसी भी शब्द में विमर्ग का प्रयोग नहीं है। इसमें सकलित आकारान्त पुल्लिङ्ग शब्दों में अन्त्य विमर्जनीय का सर्वत्र ‘ओ’ हो गया है। संस्कृतवाच में ही कुछ स्थितियों में विमर्जनीय को ‘ओ’ करने की प्रवृत्ति चली आ

1 दे ना मा के शब्दों की अनुस्वार प्रयोग की प्रवृत्ति के ठीक विपरीत इन शब्दों के उदाहरण मध्यम रची गयी नात्राशो में परमवर्ण की प्रवृत्ति प्रायः है कमसे कम ‘न्’ और ‘म्’ को तो सर्वत्र परमवर्ण स्वर में लिखा गया है। जैसे धम्मिअ (दे 6-9-16), णमन्ति (6-12-19)। परन्तु इस नियम का सर्वत्र बड़ाई में पालन नहीं किया गया है। इ म तो सर्वत्र अनुस्वार रूप में ही लिखे गये हैं न् और म् का अनुस्वार और परमवर्ण दोनों ही रूप प्राप्त होना है ण का सर्वत्र परमवर्ण काला रूप भी है। यह हेमचन्द्र की मान्यता के सर्वथा अनुकूल भी है उन्होंने मि हे 811.25 में छ-ण नी व्यञ्जन सूत्र में से और ज् की सर्वत्र अनुस्वार सज्ञा तथा अन्य की विकल्प से स्वीकार किया है।

हेमचन्द्र के इस सूत्र को ध्यान में रखते हुए भी दे ना मा. परमवर्ण कर के अनुनासिक व्यञ्जनों (विशेषतः न, म) को लिखने की प्रवृत्ति निषिकारों की भूल भी कही जा सकती है ‘परमवर्णित’ तथा ‘दोहा कोश’ के निषिकारों में भी ऐसी ही भ्रान्ति देखने में आती है।

रही थी । प्राक्त्वनकाल में यह रुढ़ होकर आवश्यक नियम सी बन गयी । अपभ्रंशकाल में उनका 'ओ' और 'उ' दोनों ही रूप रहा । वस्तुतः अपभ्रंश में 'उ' का ही बाहुल्य है उसमें प्रयुक्त 'ओ' प्राकृताभास कहा जा सकता है ।

सधि और स्वर संयोग

सधि — देशीनाममाला के शब्दों में स्वरों का सधिविधान बिल्कुल नहीं है । स्वरों में सध्याक्षर कहे जाने वाले 'ऐ' और 'औ' की स्थिति किसी भी शब्द में नहीं है । इनके स्थान पर सर्वत्र 'ए' और 'ओ' का ही व्यवहार हुआ है । कुछ शब्दों में 'ए' को 'अउ' और 'ओ' को 'अउ' रूप में भी व्यवहृत किया गया है । इसका विस्तृत विवेचन पीछे 'ऐ' और 'औ' का विवेचन करते समय किया जा चुका है । इन प्रकार देशीनाममाला के शब्दों में स्वरों में सधिविधान कहीं नहीं मिलता । दो स्वर नाथ-नाथ आकर भी 'पर सन्निकर्ष संहिता' के नियम से एक दूसरे से मिलकर एकाकार नहीं होते, बल्कि दोनों अपनी अलग-अलग स्थिति बनाये रखते हैं । दोनों का उच्चारण भी अलग-अलग होता है । प्रकारांतर से स्वरों की समीपस्थ न्ययि के होने हुए भी इनमें सधिकार्य नहीं होता । पूरे कोश में इस कोटि के स्वर संयोगों की भरमार है । स्वरों की यह समीपस्थता विवृति कहलाती है । ऋग्वेद में भी अन्न पद विवृति के दो उदाहरण मिलते हैं—तितउ और प्रउगम् । इन दो शब्दों में अ और उ में समीप रहते हुए भी 'गुणविधान' नहीं हुआ । लगभग सभी विद्वानों ने ऋग्वेद के इन दो शब्दों को किसी जन-भाषा की समाप्ति माना है । देशीनाममाला की शब्दावली में इस प्रकार की विवृतियों की भरमार है । ऐसे शब्दों की प्राचीनता ऋग्वेद काल तक जा पहुँचती है ।

वैदिक छान्दस् भाषा के बाद संस्कृत में समीपस्थ स्वरों का सधि-विधान अनिवार्य सा हो गया । लेकिन आगे विकसित होने वाली प्राकृतों में, भाषा की स्वाभाविक विकास प्रक्रिया में उच्चारण शैथिल्य और मुखसौकर्य के कारण सधिविधान शिथिल होता गया । प्राकृतों में मध्यवर्ती क्षीण व्यंजनो का प्रायः लोप ही हो चला ।¹ जहाँ-जहाँ क्षीण व्यंजन लुप्त होते वहाँ स्वरों की स्थिति बनी रह जाती थी । इस प्रक्रिया से एक ही शब्द में दो-दो, तीन-तीन और कहीं-कहीं चार-चार तक स्वर समीपस्थ होकर आने लगे और उनमें परस्पर सधि-प्रक्रिया का अभाव हो चला । व्यंजनों के लोप और उनके स्थान पर आने वाले स्वरों के कारण, कहीं-कहीं तो शब्दों का अर्थ करने में कठिनाई होने लगी । संस्कृत के दो

शब्द मृग और मृत प्राकृत में 'मग्र' के रूप में विकृत हो गये। ऐसे शब्दों के अर्थ निर्वाण में तरह-तरह की कठिनाइयाँ आने लगी। इतना ही नहीं एक ही शब्द में इतने स्वरों की भरमार होने लगी कि उसका उच्चारण भी कठिन होने लगा। स्वरों के उच्चारण में, मुख में श्वासवायु का गत्यवरोध नहीं होता। अतः एक स्वर के स्पष्ट उच्चारण के बाद ही दूसरा स्वर उच्चरित हो सकता है। दो, एक से स्वरों के उच्चारण में, वक्ता को पर्याप्त प्रयाम करना पड़ता है। इसी प्रकार तीन तीन और चार स्वरों का उच्चारण तो और भी कठिन है। फिर भी प्राकृतों में इस कठिनाई के विपरीत स्वर मयोगों की भरमार होती गयी। प्राकृतों की इस विशेषता का पता हमें तत्कालीन लिखित ग्रन्थों से चलता है। उस युग में बोलने वालों की प्रवृत्ति कैसी थी इसका पता लगा पाना, एक सर्वथा असम्भव कार्य है। भेरी दृष्टि में प्राकृतों का यह स्वर बाहुल्य उनकी कृत्रिमता का द्योतक है, प्राकृतों के बोलने में इतने अधिक स्वर संयोग सम्भव नहीं रहे होंगे।

देशीनाममाला की शब्दावली भी प्राकृतों के इसी मन्विच्छेद विधान का अनुसरण करती है। इसकी शब्दावली में भी विवृति प्रदान शब्दावली की भरमार है। प्राकृत भाषाओं में स्वरों की समीपता की जितनी स्थितियाँ थी, सभी का निरूपण देशीनाममाला की शब्दावली में भी किया जा सकता है। प्राकृतों में स्वर संयोग की तीन स्थितियाँ प्राप्त होती हैं—

विवृति या सधि का अभाव—

आचार्य हेमचन्द्र ने अपने प्राकृत व्याकरण में स्पष्ट विधान किया है कि उद्वृत स्वर परे रहने पर दो स्वरों में आपस में सधि नहीं होगी।¹ व्यंजनों का लोप हो जाने के बाद जो स्वर वच रहते हैं, वे उद्वृत स्वर कहलाते हैं। देशीनाममाला के तदभव शब्दों में यह नियम देखा जा सकता है। जैसे अडग्रो (संस्कृत-अण्डज.), अमग्रो (न अमृत) आडर (न आनुर), उग्रग्र (स ऋजुक) आदि।

(2) य श्रुति और व श्रुति—

एक स्वर के उच्चारण से दूसरे स्वर के उच्चारण में जाती हुई श्वासवायु के निगलने से अकस्मात् कोई हल्की ध्वनि आकर श्रोता को सुनायी देने लगती है। यही श्रुति कहलानी है। धीरे-धीरे वक्ता और श्रोता के बीच व्यवहृत होते-होते यह एक, स्पष्ट वर्ण का रूप धारण कर लेती है। देशीनाममाला की शब्दावली में यह श्रुति य और व वर्णों के रूप में विद्यमान देखी जा सकती है। यह श्रुति-विधान प्रायः उद्वृत स्वरों का स्थानी बनकर आता है।

1 स्वरप्रादेशे। हेम 8।118

इन प्रकार का श्रुतिविधान म. भा. आ के लिए कोई नवीन वस्तु नहीं है। सस्कृत में अकारान्त प्रथम बहुवचन के विसर्ग को स्वर अन्त स्थ और वर्णों के अन्तिम तीन वर्णों के परे होने पर य का आगम य श्रुति ही है। ऐसे स्थलों पर विसर्ग का अभाव हो जाता है और दोनों पदों के बीच में य श्रुति के रूप में आ जाता है। यह श्रुति विधान भी प्रायः विकल्प से होता है। बोलने में 'य' के न सुनायी पड़ने पर श्रुति विधान नहीं भी होता। उदाहरण के लिए देवा + इह को लिखा जा सकता है। य श्रुति का आगम होने पर यह देवायिहि तथा श्रुति के न सुनायी पड़ने पर देवाइह रूपों में प्रयुक्त होता है। सस्कृत का 'इयङ्' आदेश भी य श्रुति ही है। संस्कृत के बाद प्राकृतों में इस श्रुति का प्रयोग बहुतायत से होने लगा। अपभ्रंश में पश्चिमी और उत्तरी क्षेत्रों में तथा जैन लेखकों की भाषा में य श्रुति की बहुलता देखी जा सकती है, इसके विपरीत पूर्वी क्षेत्र की भाषाओं में इसका प्रयोग अपेक्षाकृत न्यून है। देशीनाममाला की शब्दावली का सम्बन्ध भी अधिकांशतः म. भा. आ से है, अतः इसमें भी य श्रुति-विधान की प्रवृत्ति स्पष्टतया लक्षित की जा सकती है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं —

अत्ययारिआ-सखी (1-16), अमयणिग्गमो-चन्द्र. (1-15), आमलय-नूपुरगृहम् (1-67), उवकय-सज्जित स उपकृत (1-119), मायन्दो-आम्र (6-128) रयणिद्वय-कुमुद स रजनीध्वजम् (7-4) लयापुरिसो स. लतापुरुषो (7-20), वयाडो-शुक सस्कृत वाचाट (7-56) आदि। इ के बाद 'ए' स्वर के संयोग में भी 'य' श्रुति सुनी जा सकती है।

व श्रुति का प्रयोग भी सस्कृत काल से ही प्रचलित रहा है। सस्कृत में 'उ' के स्थान पर 'उवङ्' आदेश व श्रुति ही है। प्राकृत और अपभ्रंशकाल में भी 'व' श्रुति का प्रयोग मिलता है, परन्तु यह य श्रुति के प्रयोग की भाँति व्यापक नहीं है। म. भा. आ में कभी-कभी औष्ठस्थानीय वर्णों की समीपता समीकरण या कभी-कभी असमीकरण में भी 'व' श्रुति के होने की पर्याप्त सम्भावना है। इसके 'ओकारान्त' शब्दों में हल्की व श्रुति सर्वत्र सुनायी पड़ती है, परन्तु प्रायः इसे स्वर 'ओ' के रूप में ही लिखा गया है। सम्पूर्णकोश में 'ओकारान्त' शब्दों की भरमार है। इन शब्दों के बोलने में निश्चित रूप से 'व' श्रुति का आगम हो जाता रहा होगा। कुछ शब्दों को व श्रुति संयुक्त कर, लिखा भी गया है, जैसे—अणुवो-बलात्कार (2-19)। परन्तु त्रिविक्रम ने इसे 'अणुओ' रूप में ही दिया है। 'उ' के बाद 'ओ' तथा 'आ' के बाद ओ स्वर के उच्चारण में हल्की 'व' श्रुति सुनी जा सकती है। यद्यपि इसे सर्वत्र 'ओ' रूप में ही लिखा गया है। व श्रुति का स्पष्ट प्रयोग कहीं-कहीं 'ओकारान्त'

पदों में हुआ है। देशीनाममाला की शब्दावली में 'व श्रुति' के कुछ उदाहरण निम्न-लिखित हैं—

आण्वो-स्वपच. (1-64), हुकुवो-अजलि: (8-71)। देशीनाममाला के शब्दों में 'व' ध्रुति की स्थिति इन्हीं दो शब्दों में, स्पष्टतया लिखित रूप में प्राप्त होती है। अन्य शब्दों में स्थित होते हुए भी यह स्वरो 'अ', 'आ' तथा 'ओ' के रूप में लिखी गयी है। कुछ ऐसे शब्द उल्लेखनीय हैं—

हुङ्ग्रो-जीर्णघट (4-11) थोग्रो-रजक. (5-32) पडोग्रो-वाल (6-9), परभाग्रो-सुरतम् (6-27), पूआ-पिजाचगृहीता (6-54), भाग्रो-ज्येष्ठभगिनीपतिः (6-102) भमुप्रा-शित्रा (6-101), भूपिपिमाग्रो-नाल (6-107) आदि अन्यानेक शब्दों के उच्चारण में व श्रुति विद्यमान देखी जा सकती है पर लिपि में इन्हे स्वरों के रूप में ही लिखा गया है।

इस प्रकार देशीनाममाला की शब्दावली सवि-विधान को तो प्रथम देती ही नहीं, य श्रुति और व श्रुति भी प्रायः तदभव और कुछ ही देशी शब्दों में मिलती है। इसमें सर्वत्र स्वरों की उद्बृत्तता ही प्रधान है। उद्बृत्तस्वरों के निम्नलिखित संयोग देशीनाममाला की शब्दावली में देखे जा सकते हैं—

अग्र-अग्र-विस्तारितम् (2-49), उग्र-वृजुम् (1.88), दग्रच्छरो-ग्राम-
वामी (5-36) वृहरी-मृग (5-34), सग्र-शिला (8-46) ।

अग्ना-मग्नाड - शिरोमाला (6-115)-पूरे कोश में यही एक उदाहरण है ।

अइ- अइण-गिगितम् (1-10), अइरो-आयुक्त (1-16), अइरजुवई-नववधू (1-48) अइहारा विद्युत् (1-34), यह स्वर संयोग बहुतायत से मिलता है ।

अई- अडरजुवई (1-148), कमई-अरण्यवारीफल (2-6) खई-असतो (2-67), रायगई-जलोका (एकधान) (7-4), वित्तई-गविन (7-91), मई-सुग (6-113) ई को 'इ' रूप में ह्रस्वकर देने की प्रवृत्ति के कारण 'अई' स्वर नयोन अधिकांश स्थलों पर 'अई' के रूप में आ गया है, जैसे एईमासय को एईमासय कर दिया गया है। दीर्घ को ह्रस्व करके बोलने की प्रवृत्ति, लोक भाषाओं की बहुत प्राचीन प्रवृत्ति है।

अ- कउप्र-प्रवानम् (2-56), कउल-करीषम् (2-7), कउह-नित्यम् (2-5),
चउग-चत्वरम् (3-2), चउकरी-कातिकेय (3-5), चउरचिधो मात-
वाहन (3-7), पउन्य-प्रोषितम् (6-66) वाउहारी-सम्मारजनी (6-97)

- अऊ- पऊढ गृहम् (6-4), मऊ-पर्वतः (6-113), वऊ-लावण्यम् (8-30) ।
कुल इतने ही शब्द हैं ।
- अए- अवएइआ-मद्य परिवेषणभाण्डम् (1-118) एएरो-गुफा का द्वार (6-67),
एएमो-पढीसी (6-3), कुल तीन ही शब्द हैं ।
- अओ- अज्जओ-गुरेटकतृणम् (1-54), अज्भओ-पढीसी (1-17), अण्हेअओ-
भ्रान्त (1-21), अवडओ-घास का घोंघ (1-20) इन्दडलओ-चन्द्रो-
त्यापनम् (1-82) आदि । यह स्वर सयोग प्रचुर मात्रा में है ।
- आअ-आअडडिअ-परवशचलितम् (1-69), आल्ली भाट भेद (1-61), आअल्लो-
रोग (1-75), ओआअओ अस्तसमय (1-162) माअलिआ-मातृष्वसा
(6-131) आदि ।
- आआ-यह स्वर-सयोग देशीनाममाला के किसी भी शब्द में नहीं है ।
- आइ- आइप्पण-पिण्डम् (-78), आइसण-उज्भत-छोडा हुआ (1-71), करा-
इणी-आत्मलितरु (2-18), पत्तपसाइआ-पुलिन्द के शिर पर रखा गया
दोना (6-2), विग्गाइआ-जोड़े में रहने वाला कीड़ा (6-93) आदि ।
- आई- जाई-सुरा (1-45), विग्गाई-जोड़े में रहने वाला कीड़ा (6-93), साई-कैसर
(8 22), इदगाई-जोड़े में रहने वाला कीड़ा (1-81) इत्यादि ।
- आउ-आउरो-सग्राम. (1-65), आउल-अरण्यम् (1-62), आउस-क्चम्
(1-65), पाउअ-हियम् (6-38), पाउग्गो-सम्यः (6-41) इत्यादि ।
- आऊ- आऊ-सलिल्म (1-61), आऊडिअ-द्यूतपणः (1-68), आऊरं-अतिशयम्
(1-76), जाऊरी-सुरा (1-45), पाऊ-विभक्त (6-75) इत्यादि ।
- आए- इस स्वर-सयोग का सर्वथा अभाव है । उदाहरण की गाथाओं में स्त्री शब्दों
में विभक्ति के प्रत्यय के रूप में इसका व्यवहार हुआ है—जैसे—अलिणाएहि,
विओअअराए आदि ।
- आओ- उव्माओ-शान्तः (1-96), ओआओ-ग्रामाधीश (1-166) छाओ-बुभुक्षित
(3-33), जहाजाओ-जड (3 41), एाओ-गर्विष्ठ (4-23), पलाओ-
चौरः (6-8) इत्यादि ।
- इअ- अविअ -उक्तम् (1-10), आरेइअ -मुकुलितम् (1-77), कइअ कसई-निकर
(1-13), कइअ को (2-13), कासिअं-सूक्ष्मवस्त्र (2-59) इत्यादि ।
- इआ- आवरेइआ-करिका (1-71) कसिआ-अरण्यचारीफलम् (2-6), कालिआ-

शरीरम् (2-58) गणगाइया-चण्डी (2-87), चु चुगिआ-टपका हुआ (3-23) रइरइआ-उत्कठा (7-18) इत्यादि ।

इइ- किरिइरिआ-वर्णोपकरणिका (2-61),

इउ- कइउल्ल स्तोकम् (2-21), कायपिउच्छा या कायपिउला-कोकिना (2-30),
गिउक्कणो वायम (4-27) गिउक्को-तूप्णीक (चुप्पा (6-27),

इऊ- विऊरिअ नष्टम् (7-72)

इए- पडिएल्लिओ-कृतार्थ (6-32) । पूरे कोश में यही एक शब्द है । उदाहरण की गाथाओं में इस विवृति का प्रयोग प्रायः हुआ । निर्विभक्तिक होने के कारण मूल शब्द में इस का व्यवहार कम हुआ है ।

इओ- कमिओ - उपमर्षित (2-3), कम्हिओ-मालिक (2-8),
कसरासिओ वलभद्र (2-23), कु डिओ-ग्रामाधिपति (2-37),
खडइओ-सकुचित (2-72), चुण्णइओ-चूर्णाहत (3-17) ।

ईअ- ओसरीअ-अघोमुखम् (1-171), वीअओ-असनवृक्ष (6-93), वीअजयणं (6-93) मीअ-समकालम् (6-133), वीअ-विधुरम् (6-93) ।

ईआ- शीआरण-वलिघटी (4-43), सरलीआ-एक कीड़ा (8-15) ।

ईड- सीडआ भंडी (8-34) ।

ईउ- वच्छीउत्तो-नापित (7-47), सीउगय-मुजातम् (8-34)

ईओ- अहिरीओ कान्तिहीन (1-27), ओगीओ-नीहार (1-149)
ओनीओ-अघोमुख (1-158), छाईओ देवी-माता (3-26),

घूमदयमहिमीओ-कृतिका (5-62), पप्पीओ-चातक (6-12) इत्यादि ।

उअ, उअअ-ऋजु (1-88), उअक्किअ पुरन्कृतम् (1-107), उअचित्तो-अपगत (1-108) उअरी-शाकिनी (1-199), उअह पश्यत् (1-198), उअहारी-दोग्धी (1-108) इत्यादि ।

उआ - उआली अवतन (1-90), उच्छुआर-छिपा हुआ (1-115), उम्मुआण-दूध का उफान (1-105), कोउआ-कडे की आग (2-48) ।

उइ- उड तगम् उत्तरीयम् (1-103), उअरइआ-उत्कठा (7-8), उण्णुइओ-हुकार (1-132) ।

उई- ओमुई-मर्वापूणिमा (2-48), उंकुई तथा उछुई-कैवाच-(3-24) ।

उउ- कुउआ-तुम्बीपात्रम् (1-112)

उऊ- कुऊल-नीवी (2-38)

उओ-ओहुओ-अभिभूतः—पराजितः (1-158), कोलुओ-ईख पेरने का कोलू (2-65), भूओ-मशक (3-54), भूँडुओ-कन्दुक (3-59), पउओ-दिनम् (6-5) ।

ऊअ- जूअओ-चातक (3-47), णिहूअ-सुरतम् (4-26), पूअं-दधि (6-56), मूअलो-मूअल्लो मूक (6-137) ।

ऊआ-ऊआ-यूक (1-139). पूआ-पिशाचगृहीता (6-54),

ऊइ- सूइओ-चाण्डाल (8-39) ।

ऊई- सूई मजरी (8-41) ।

ऊओ- चूओ-स्तनाग्र (3-18), तूओ-इधुकर्मकर (5-16), तुडूओ-जीर्णघट (5-15), दो हूआ-शव (5-49), पुरुहूओ उल्लू (6-55), फूओ-लोहकारः (6-85)

एअ- अण्हेअओ-भ्रान्त (1-21), भेअज्ज-धान्यम् (6-38), भेअरो-असहन (6-38) वेअल्लं-मृदु (6-75) ।

एआ- वेआ-रज्जु (2-44), केआरवारो-पलाश (2-45), खेआलू-असह्य (2-77) पेआल-प्रमाणम् (6-57), वेआरिआ-केश (6-95) ।

एइ- आरेइअं-मुकुलितम् (1-77), आवरेइआ-करिका (1-71) उवएइआ-मच्च-परिवेषणभाण्डम् (1-118) विब्भेइअ-सूच्याविद्धम् (7-67) ।

एउ- एउड्डो-सद्भाव (4-44),

एऊ- केऊ-कन्दः (2-44),

एओ- छेओ-अन्त (3-38), णाहिचिच्छेओ-जघनम् (4-24), परेओ-पिशाचः (6-12), सेओ-गणपति (8-42) ।

ओअ-ओअं-वार्त्ता (1-149), ओअग्गिअ-अभिभूतम् (1-72), ओअग्गिअ-घ्रातम् (1-162) ओअ को-गजितम् (1-154), ओअल्लो-पर्यस्तः—(1-165)

ओआ-ओआओ-ग्रामाधीश. (1-166), ओआली-खड्गदोष (1-151), ओआली-अल्प श्रोत (1-151), ओआवलो-बालातप (1-161) ।

ओइ ओइत्त-परिधानम् (1-155) ओइल्ल-आरूढम् (1-158), कोइला-काण्डी-गार. (2-49), जोइओ-खद्योत (3-50) ।

ग्रोई- कुड्गिलोई-गृहगोघा (2-19), घम्मोई-गंडुत्संनकतुणम् (2-106), जोई-
विद्युत (3-49)

ग्रोट- कोट्या-करीपाग्नि (2-48) ।

ग्रोप्रो-जोग्रो-चन्द्र (3-48), डोग्रो-दाहस्तः (लकड़ी का चम्मच) (6-11),
घोग्रो-रजकः (5-32), डुरालोग्रो-निमिरम् (5-46), पोग्रो-धववृक्षः
(6-81)

दो स्वरो के आपसी संयोग के अतिरिक्त देशीनाममाला की शब्दावली में तीन-तीन और कहीं-कहीं चार-चार स्वरों का एकत्र संयोग मिलता है । ऐसे शब्दों को देखकर आश्चर्य में पड़ जाता होता है । दो स्वरों का एक साथ किया गया उच्चारण ही अत्यन्त कठिन होता है फिर तीन-तीन या चार-चार स्वरों का एक साथ उच्चारण कठिन नहीं, असम्भव मा लगता है । ऐसे स्वर संयोगों को देखते हुए, एक सभावना की जा सकती है—मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं में व्यजनों के स्थान पर स्वर के उच्चारण की प्रवृत्ति जोर पकड़ती जा रही थी, इस प्रवृत्ति को लगभग सभी वैय्याकरणों ने लोक भाषा का प्रभाव बताया है । जब लोक भाषा के प्रभाव से ग्रन्थ तत्सम शब्दों में व्यजनों के उच्चारण की प्रवृत्ति नहीं रही तो स्वयं लोकभाषाओं में व्यजनों का उच्चारण बनाये रखना कहीं तक उपयुक्त होता । संभवतः प्राकृतीकरण की इसी प्रक्रिया में कुछ देशी शब्दों के व्यजन-उच्चारण को समाप्त ही कर दिया गया होगा । ऐसे शब्दों का निश्चित ही प्राकृतीकरण किया गया है, क्योंकि ऐसे शब्द सामान्य जनता के बोलचाल के शब्द नहीं हो सकते । इस कोटि के कुछ स्वर-संयोगों के उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं—

ग्रग्रग्र — मग्रग्रं-जिना (8-46)

ग्रग्रार्ड — मग्रार्ड-जिगोमाला (6-115) ।

ग्रडग्र — कडग्रंको-निकर (2-13) ।

ग्रडग्रा — पोग्रडग्रा निद्राकरीलता (6-63) ।

ग्रड्ड — कडडल्ल-स्तोत्र (2-24) ।

ग्रडग्रो — वडग्रो-पीत (6-34) ।

ग्रडग्र — कडग्र-प्रधानम् (2-56) ।

ग्रग्रग्रो — पाणाग्रग्रो-श्वपचः (6-38) ।

ग्रोटग्र — पवहाडग्र-आगे बड़ा हुआ (6-34), पाडग्रवदन विस्तार
(6-38)

आइआ — पत्तपसाइआ-पूलिद के सिर पर रखा हुआ पत्ते का ढोना (6-2) ।

आईओ — छाईओ-देवी-भाग (2-26) ।

आउअ — पाउअ-हिमम् (6-38) ।

माउआ — माउआ-सखी (6-147) ।

इअओ — आसिअओ-लोहमय. (1-67), खिलुत्तहिअओ-भ्रान्तः (7-63)

उअअ — उअअ-ऋजु (1-88) ।

उइआ — उअरुइआ-उत्कठा (6-8) ।

उइओ — उण्णुइओ-हु कार. (1-132) ।

उउओ — कुउआ-तुम्बीपात्रम् (2-12) ।

ऊअओ — जूअओ-चातक (3-47) ।

एइअ — विष्भेइअ-सूच्याविद्धम् (7-67) ।

एइआ — आवरेइआ-करिका (1-71) ।

ओअओ — तोअओ-चातक (5-18)

ओअओ — ओआओ-ग्रामाधीश. (1-166), पोआओ-प्राथप्रधानः (6-60)

ओइअ — प्होइअ-पर्याप्तम् (6-26) ।

ओइआ — पोइआ-निद्राकरीलता (6-63) ।

ओइओ — छोइओ-दास (3-33), षोइओ-हलवाई (6-61) जोइओ-जुगुनू (3-50) ।

ओउओ — पोउआ-करीषाग्नि (6 61) ।

चार स्वरो के एकत्र संयोग—

अएइआ — उवएइआ-पद्यपरिवेषणभाण्डम् (1-118) ।

ओआअओ — ओआअओ-अस्तसमय (1-162) ।

ओअइआ — पोअइआ-पोई नामक लता (6-63) ।

स्वराघात—

स्वराघात वस्तुतः किसी भाषण प्रक्रिया का अंग होता है । इसका सम्यक् निर्धारण किसी बोली जाने वाली भाषा में ही किया जा सकता है । देशीनाम-माला की शब्दावली अति प्राचीन भाषण प्रक्रिया से सम्बन्धित है । इसका व्यवहार स. भा. आ. काल में प्रायः हुआ है । इसका प्राप्त लिखित रूप इतना क्लिष्ट है कि

इसके मात्र लिखित भाषा होने की अधिक सम्भावना है। अपने लम्बे लम्बे एव अट-पटे स्वर सयोगों के कारण किसी जीवित-भाषा से इसका सम्बन्ध रहा होगा, ऐसा कह पाना संभव नहीं है। इसमें स्वराघात का निर्धारण म भा आ के अनुगमन पर किया जा सकता है। म भा आ प्राकृत और अपभ्रंश भाषाएँ बलाघात प्रधान नहीं रहीं। वैदिक भाषा का जटिल स्वर-विधान, ब्राह्मण काल तक टीना पड़ने लगा था। सन्धृत में, यह विन्कुल समाप्त ही हो गया। यही स्थिति म भा आ की भी रही। इन्हीं की परम्परा में विकसित आ भा. आ विशेषतया हिन्दी भी बलाघात प्रधान भाषा नहीं है। परन्तु जिस प्रकार हिन्दी में कुछ विशेष प्रकार के शब्दों में बलाघात निश्चित है, उसी प्रकार ध्वनि-विकारों के अध्ययन से हिन्दी की पूर्ववर्ती भाषाओं से सम्बन्धित 'देश्य' शब्दावली में भी बलाघात के नियमों को ढूँढ़ा जा सकता है।

देशीनाममाला की शब्दावली में बलाघात-निर्धारण निम्नरूपों में किया जा सकता है —

- (1) द्व्यक्षरात्मक मञ्जाओं तथा विशेषणों में स्वराघात प्रथम अक्षर पर पड़ता है— दिअ-दिवस पूअ-दधि, फूअ-लोहकारः इत्यादि।
- (2) त्र्यक्षरात्मक मञ्जाओं और विशेषणों में प्रवृत्ति प्रथमाक्षर से स्वर पर ही बलाघात टालने की है—
रिक्किअ-रिगिग, गिगिगिग इत्यादि।
- (3) चतुर्गक्षरात्मक या अष्टाक्षरात्मक शब्दों या समस्त शब्दों में, स्वराघात प्रथम स्वर पर न रहकर मध्यस्वर या उपान्त्य स्वर पर रहता है—
पडिअज्जअ, पडिअतअ, पडिअली, फोडिअय, भयवग्गामो, मयसि-वानो इत्यादि।
- (4) सयुक्त व्यंजनों के पहले के 'ए' और 'ओ' प्रायः ह्रस्वीकृत रूप में उच्चरित होते हैं और बलाघात सयुक्त व्यंजन वाले स्वरों पर होता है जैसे—

उक्कामिअ, उक्केरो, एक्कवरित्तो, एक्कसाहिल्लो, दो सयुक्त व्यंजनों के एक के बाद एक आने पर बलाघात प्रायः अन्तिम सयुक्त व्यंजन के स्वर पर होता है—
जैसे एक्केक्कम।

ऊपर कुछ बलाघात के उदाहरण दिये गये हैं। जहाँ तक देशीनाममाला की शब्दावली में बलाघात ढूँढने का प्रश्न है, पग-पग पर नवीन समस्याएं उठ खड़ी होती हैं। यहाँ संक्षेप में इस तत्त्व का भी विवेचन कर दिया गया है। मेरा तो दृढ़ मन्तव्य है कि इन शब्दों का बहुत अधिक प्राकृतीकरण किया गया है। जिस रूप में ये सामान्य जनता में बोले जाते रहे होंगे, उसी रूप में इनका सकलन नहीं किया गया है।

दे. ना मा के व्यजन ध्वनिग्राम

देशीनाममाला के शब्दों में व्यवहृत व्यजन ध्वनिग्राम पूर्ण रूपेण म भा आ. के व्यजन ध्वनिग्रामों का अनुसरण करते हैं। ऋग्वेद प्रातिशाख्य तथा यजु. प्रातिशाख्य में कुल व्यजन वर्णों की संख्या 37 मानी गयी है।¹ इनमें 25 स्पर्श, 4 अन्त स्थ तथा 8 ऊष्म व्यजन परिगणित किये गये हैं। महर्षि पाणिनि ने अपने महे-श्वर सूत्र² में कुल 33 व्यजन वर्ण माने, इनमें 25 स्पर्श, 4 अन्त स्थ और 4 ऊष्म वर्ण सम्मिलित हैं। पाणिनि ने प्रातिशाख्यों में व्यजनों के बीच गिने गये विसर्ग, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय तथा अनुस्वार को अपने प्रत्याहार सूत्र में नहीं सम्मिलित किया। पाणिनि की ही मान्यता संस्कृत में दृढ़ हो गयी। आगे चलकर भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में प्राकृतों में व्यवहृत व्यजनों पर विचार किया, उन्होंने प्राकृतों में श्, ष्, ङ्, ज् और न् का अभाव देखा अतः इन 5 को निकालकर उन्होंने प्राकृत व्यजनों में केवल 28 व्यजनों की ही गणना की, वे इस प्रकार हैं—

क् ख् ग् घ्,
च् छ् ज् झ्,
ट् ठ् ड् ढ् ए,
त थ् द ध्
प् फ् ब् भ् म्
य्, र् ल् व्, स् ह् ।

इन व्यजन ध्वनियों में 'य्' ही एक ऐसी ध्वनि है जिसका व्यवहार शब्दादि में प्रायः नहीं होता (केवल अर्धमागधी को छोड़ कर) शब्दों के मध्य में शुद्ध रूप में तथा अन्त में य श्रुति के रूप में इसका उच्चारण होता है। शब्दों के आदि में अर्धमागधी के कुछ अपवादों को छोड़कर सर्वत्र 'ज्' के रूप में उच्चरित होता है।

1. ऋ प्रा 1।10

2. 'हयवरट् लण् जमङ्गणम् क्ष भ ञ्, घढधष्, जवडदश् रवफछयचटतद् कपय् णषसर हल् ।'

नामिक्य ध्वनियो ङ्, ज् और न् का भी अस्तित्व कुछ प्रादेशिक भाषाओं और उनके ग्रन्थों¹ में मिलता है, परन्तु प्रायः इनका व्यवहार नहीं ही हुआ है।

म भा आ के उपर्युक्त व्यजन ध्वनिग्रामों का प्रयोग देशीनाममाला के शब्दों में भी हुआ है। आदिम य् का ज तथा उमका अप्रयोग ङ्, ज्, न् जैसी अनुनामिक ध्वनियों का अभाव तथा ऊष्म ञ, ण आदि का अप्रयोग म. भा आ की सारी विशेषताएँ इन शब्दों में देखी जा सकती हैं। इनमें प्रयुक्त व्यजन ध्वनिग्रामों की प्रकृति का विवेचन इस प्रकार है।

क—‘कोमलतालव्य या कण्ठ्य’ श्वाभ्योप, अल्पप्राण, निरनुनासिक स्पर्श ध्वनि है। वैदिक भाषा में यह शुद्ध कण्ठ्य ध्वनि थी। मस्कृत में इसका उच्चारण जिह्वामूल में हटकर जिह्वा के पश्च भाग और कण्ठ के अन्तिम ऊपरी भाग से होने लगा। आ भा आ. में इसका उच्चारण जिह्वापश्च और कोमलतालु से होने लगा है। यही उच्चारण म भा आ में भी रहा होगा। दे ना. मा. में व्यवहृत ‘क’ ध्वनिग्राम म भा आ. के ही उच्चारण का अनुसरण करने वाला माना जा सकता है। म भा. आ. में किसी भी व्यजन ध्वनिग्राम की शुद्ध स्थिति प्रादि और मध्य में ही मिलती है। व्यजनान्त पदों का यहाँ सर्वथा अभाव है। सभी पद स्वगन्त ही हैं, अतः व्यजन ध्वनिग्रामों की शुद्ध स्थिति अन्त में नहीं मिलती। यह विशिष्टता दे ना मा के शब्दों की भी है। प्रा भा आ का ‘क्’ ध्वनिग्राम देश्य शब्दों में सर्वथा सुरक्षित है। जैसे

कमलो-पिठर (2-54), कराली-दन्तपवनकाष्ठम् (2-12) कराइली-शात्मनितम् (2-18)।

म. भा आ में प्रा भा आ के क, बल, रुक, क्व आदि के स्थानीय ध्वनिग्राम ‘क्’ का व्यवहार हुआ है। परन्तु अज्ञात व्युत्पत्तिक ‘देश्य’ शब्दों में इस नियम की परिणति नहीं देखी जाती।

देशीनाममाला के शब्दों का मध्यवर्ती ‘क’ ध्वनिग्राम म भा आ के ‘क्’ या ‘करु’ का ही अनुसरण है जैसे—

क—अकानि पर्याप्तम् (1-8), अकारो साहाय्यम् (1-9), कवेली-अशोक-वृक्ष (2-12), ककांड (2-7)।

1. अथवा म के ग्रन्थ परमचन्द्र-कीर्तिलता आदि में अनुस्वार को परपवर्ण बनाकर ङ् ज न का जगित्व स्वीकार किया गया है। श्री भाषाणी ने पाण्डित्य के अनुस्वार को निष्कारण पनमण में पणित कर मृदित बताया है अथवा उममे ङ् ज् और न् का अस्तित्व संदेहास्पद है। कीर्तिलता आदि में परमवर्ण का स्थान मस्कृत तत्त्वों के अनुकरण पर है।”

क्क—कक्कसारो-दध्णोदन (2-14), एक्केक्कम्-अन्योन्यम् (1-145)
ओक्कणी-यूक। (जुआ) 1-159) आदि ।

शब्दों के उपान्त में 'क्' 'क्क' ध्वनिग्राम के प्रयोग के कुछ उदाहरण ये हैं—
कडअ को-निकर (2-13) अक्का-भगिनी (1-6) अक्को-दूत (1-6) ।

विशेष-देशीनाममाला में 'क्' ध्वनिग्राम से प्रारम्भ होने वाले शब्द सख्या में 312 हैं ।

ख—

कण्ठ्य या कोमलतालव्य, श्वाभ, अघोष, महाप्राण तथा निरनुनासिक, व्यजन ध्वनिग्राम है । दे ना मा की शब्दावली में इसकी भी केवल आरम्भवर्ती और मध्यवर्ती स्थिति ही मिलती है । सभी शब्दों के स्वरान्त होने के कारण इसकी अन्तिम स्थिति 'उपान्त' रूप में ही मिलती है । इस कोश में 'ख' से प्रारम्भ होने वाले शब्दों की सख्या 81 है ।

आरम्भवर्ती स्थिति में यह दो रूपों में मिलता है—

(1) म भा आ का मूल 'ख' ध्वनिग्राम—जैसे-खट्टिको-शौनिक. (2-70)
खडक्की-लघुद्धारम् (हिन्दी खिडकी) (2-71), खप्परो-रक्ष (हिन्दी खपड़ा) (2-69) ।

(2) प्रा भा आ के 'स्क' का स्थानीय ख—जैसे खड्गगी-स्कन्धाग्नि-स्थूलेन्वनाग्नि (2-70), खवममो-स्कन्धमृश या स्कन्ध-अस-बाहु. (2-71), खवयठ्ठी-स्कन्धयष्टि-बाहु (2-71), प्रा भा आ की इस कोटि के कुल तीन ही शब्द हैं ।

प्रा भा आ के 'क्ष' स्थानीय 'ख' दे ना. मा किसी भी शब्द में आरम्भवर्ती स्थिति में नहीं मिलता । केवल मध्यवर्ती स्थिति में आया है ।

मध्यवर्ती स्थिति में इस कोश के शब्दों में आया हुआ 'ख' म. भा. आ के 'ख' 'क्ख' का अनुगमन है ।

ख—भखरो-शुष्कतरु (3-54), भखो-तुष्ट (3-53) ।

क्ख—ततुक्खोडी-वायकतन्त्रोपकरण (5-7) खिक्खिरी-यष्टि (2-73),

खण्णुक्खुडिआ-घ्राणम् (2-76) ।

क्ख-क्ष—क्खुरक्खणी-लज्जा (3-7), एक्खत्तणोमि-विष्णु (4-22),

क्ख-क्षय—हइलक्ख-रति सयोग-रतिलक्ष्य (7-13) ।

क्ख-त्क्ष—हक्खुत्ता-उत्पटित-उत्क्षिप्त ।

क्वल्क—खिक्वो-चौर काञ्चनम्/निष्क (4-47) ।

विक्वभी-स्थानम्/विष्कम्म. । (7-88) ।

क्वल्स्क—पडिखवी-जलवहनम्/प्रतिस्कन्वी (6-28)

इस प्रकार मध्यवर्ती स्थिति में आया हुआ 'क्व' म भा आ का पूर्णस्वरेण अनुसरण करता है ।

ग—

यह कोमल तालव्य, नाद, घोष, अल्पप्राण, निरनुनासिक स्पर्शवर्ण है ।
दे ना मा में 'ग' से प्रारम्भ होने वाले 119 शब्द हैं । आदि, मध्य तथा उपान्त में सर्वत्र इसकी स्थिति मिलती है ।

प्रारम्भवर्ती स्थिति में इसमें म भा आ. का 'ग' तथा प्रा. भा. आ. का 'ग्र' प्रतिनिहित मिलता है—

ग— गढो-दुर्गम् (2-81), गलिग्र-स्मृत (2-81), गवत्त-घाम (2-85)

गल्ग्र—गमणी-ग्रामप्रधान/ग्रामणी (2-89), गामहण-ग्रामस्थानम्/ग्रामस्थानम् (2-90)

मध्यवर्ती स्थिति—

प्र. भा आ. ग—गामगोहो-ग्रामप्रधान (2-89), गागेज्ज-मथित (2-88), गागेज्जानवपरिणीता (2-88) ।

प्रा भा आ क 7 ग-रडगेल्ली-अभिलपित/रतिकेलि (7-3), अगञ्चो-दानव. /अकाय (1-6)

म. मा. आ गग—खगिग्रो-ग्रामेश. (2-69). थग्गया-चचु (5-26) ।

ग्र7ग—अग्गवेग्रो-नदीपूर /अग्रवेग. (1-29) ।

ग्न7ग—अग्निग्रो-इन्द्रगोपकीट /अग्निकाय (1-53), इदग्गी-तुहिन /इन्द्राग्नि (1-80) ।

दग्र7ग—उग्गहिग्र—गृहीत/उद्ग्राहितम् (1-137) ।

दग्7ग—ओग्गलो-अल्प स्रोत /उद्गार (1-151) ।

गं7ग—गग्गरी/गग्गरी (2-89), मग्गो-पश्चात्/मार्गत. (6-111) ।

घ—

यह कोमलतालव्य, नाद, घोष, महाप्राण, निरनुनासिक स्पर्श व्यजन ध्वनिग्राम है । दे ना मा में 'घ' से प्रारम्भ होने वाले शब्दों की संख्या कुल 6 है ।

आन्मवर्ती 'घ' देश्य शब्दों में अपने शुद्ध रूप में मिलता है । कुछ तद्भव शब्दों में यह 'ग' का स्थानीय है ।

प्रा भा आ 'घ'—घड़ी-गोष्ठी (2-105), घारो प्राकारः (2-108) आदि ।
मध्यवर्ती स्थिति—

घ—घघो-गृहम् (2-105). घघारो-भ्रमणशील (2-106)

ग्घ-घग्घर — जघनस्थवस्त्रभेदः (2-107), अग्घाडो—अपामार्ग (बहेडा का वृक्ष)
(1-108)

प्रा भा. आ. घ्र७ग्घ अग्घारो—तृप्तः/आघ्राणः (1-19),

द्घ७ग्घ — उग्घाओ—सघात / उद्घात (1-126), उद्घुब्-पुसित
/ उद्घुष्टम् (1-99)

'घ' का उपान्त्य प्रयोग भी कम ही है ।

चवर्गीय व्यंजन ध्वनिग्राम—

प्राचीन वैयाकरणों ने क वर्ग से लेकर पवर्ग तक के सभी व्यंजनों को स्पर्श सज्ञा दी थी —'कादमामावसाना स्पर्शाः' । स्पर्श वर्णों के उच्चारण में श्वासवायु को मुख विवर में आगमन अवरोध और स्फोटन इन तीन स्थितियों से गुजरना पड़ता है । आधुनिक भाषा वैज्ञानिक सभी वर्गीय पचम वर्णों तथा चवर्गीय व्यंजनों को स्पर्श व्यंजन नहीं स्वीकार करते । वे वर्गीय पचम वर्णों को अनुनासिक तथा चवर्गीय व्यंजनों को स्पर्श सघर्षी मानते हैं । चवर्गीय व्यंजनों के उच्चारण में श्वास-वायु को सघर्ष कर निकलना पड़ता है, अतः इन्हें स्पर्श सघर्षी ध्वनियों की कोटि में रखना ही उपयुक्त माना गया है । दे ना मा के शब्दों में स्पर्श सघर्षी ध्वनियों की प्रकृति निम्न प्रकार है—

च—

यह तालव्य, श्वास, अघोष, अल्पप्राण, निरनुनासिक, स्पर्श सघर्षी ध्वनि है । दे ना मा में 'च' से प्रारम्भ होने वाले कुल 116 शब्द हैं । देश्य शब्दों में प्रारम्भवर्ती 'ज' प्रा. भा आ के ही 'च' का अनुगमन है—जैसे—

चउक्क-चत्वरम् (3-2), चकप्पा-त्वक् (3-7), चडुला-काचनशू खलालम्बित-रत्नतिलकम् (3-8) ।

प्रा भा. आ के 'क' और 'च्चा' के स्थानीय प्रारम्भवर्ती 'च' का देश्य शब्दों में सर्वथा अभाव है ।

मध्यवर्ती और उपान्त रूप में इस कोश के शब्दों का 'च' प्रा भा आ के 'च' तथा म. भा आ के 'च्च' का अनुगमन करता है ।

च—चत्रप्पर—असत्यं (3-4), चिरिचिरा-जलाधारा (3-13)

उपान्त मे चिचा—अम्लिका (3-10), चिचिणिचिचा¹—अम्लिका (3-10) ।

च्च—उच्चारो-विमल (1-97), उच्चुचो-दृष्ट- (1-99), विच्चोअओ-उपधानम् (6-68) ।

उपान्त मे—चिच्चो-चिपिटनास (3-9), चिच्चो-हुतासन (3-10), चोकुच्चो-सस्नेह (3-15) ।

प्रा मा. आ त्य⁷च्च-कच्च-कार्य^८कृत्य (3-2), पच्चुत्य-बोया हुआ प्रत्युप्त (6-13), मच्चिलअ-सत्य^९सत्य (8-14) ।

च^७च्च—चच्चा-स्थापक चर्चा (3-19) चच्चिक्क-भण्डित^{१०}चचिका (3-4)

स्त^{११}च्च—पच्चुहिअ प्रप्नुत (हुहा हुआ) (6-25) ।

त्य^७च्च—उच्चारिअ उत्पादित (उखाड़ा हुआ) (1-14) ।

ये सभी विकार म भा आ के अनुत्प ही हैं ।

छ—

यह तालव्य, श्वास, अघोष, महाप्राण, निरनुनासिक, स्पर्श-सघर्षी ध्वनि हैं । दे ना मा मे इससे प्रारम्भ होने वाले शब्दों की संख्या 82 है । देश्य शब्दों में आरम्भवर्ती 'छ' म भा आ के 'छ' का अनुगमन है । तद्भव शब्दों में यह प्रा भा आ 'द' 'प' 'भ' का स्थानीय होकर आया है । उदाहरण निम्न है—

छ— छडलो-विदग्ध (3-24) छदी शैया (3-24),

छटा-विद्युत् (3-24) छवडी-चर्म (3-25) ।

प्रा भा आ प^७छ छप्पणो-विदग्ध पट्प्रज्ञ (3-24) ।

प^७छ—छल्ली-न्वक्^{१२}अन्य (3-24),

छमलओ^{१३}-सप्तच्छद^{१४}अलमलि (3-25) ।

ध^७छ—छुरमड्डी-छुरहस्त^{१५}अधुरमदं (नापित) (3-31)

छुरहत्यो-नापित^{१६}अधुरहस्त (3-31)

छोहो-समूह^{१७}अधोभः (3-39) ।

मध्यवर्ती स्थिति और उपान्त में यह 'छ' और 'च्छ' रूपों में मिलता है ।

1 एक ही शब्द में 3-3 या 4-4 बार एक ही ध्वनिग्राम का प्रयोग 'देश्य' शब्दों की सामान्य विशेषता है । ऐसे शब्दों का मन टटना या उन्हें किसी भाषा विशेष से सम्बद्ध कर पाना एक दृष्टि से नहीं समझना चाहिये ।

2 यह परिवर्तन मा भा आ के चि नदीन वस्तु है ।

3 मने मल्लच्छ से भी छाप न बिगा जा सकता है । म भा आ. में प्रा भा. आ स^७छ के भी उदाहरण मिलते हैं—जैसे छुहा^{१८}मुष्ठा ।

छ — छिद्यो देह (3-36) छिद्यटरमण-चक्षुस्थगनक्रीडा (3-30) ,
छिद्योली-लघुजलप्रवाह (हिन्दी छिद्यना) (3-27)

च्छ — पडिच्छग्रो-समयः (6-16), पडिच्छदो-मुखम् (6-24), पडिच्छिग्रा-
प्रतिहारी (6-21) ।

उपान्त मे' — अच्छ-अत्यर्थ (1-49), उच्छुच्छ-दृष्ट (1-99)

उच्छ-वात (1-85), उच्छुच्छ-दृष्ट (1-99) आदि ।

प्रा. भा. आ क्ष७च्छ — उच्छिवडण-निमीलनम् अक्षिपतनम् (1-39) ।

अच्छिहस्तलो-द्वेष्ट्य अक्षिहर (1-41) ।

उपान्त मे भी-काणच्छी-काणाक्षिहट्टाकाणाक्षि (2-24) ।

प्रा भा आ - त्म७च्छ-उच्छगिग्र-पुरस्कृत उत्सगित (1-107)

वच्छीउत्तो-नापित वात्मीपुत्र (7-47), (वच्छीवो-गोप वत्सीय
(7-41) ।

प्रा भा आ घ७च्छ²-पच्छेणाय पाथेय (6-24) ।

ज —

यह तालव्य नाद, घोष, अल्पप्राण निरनुनासिक स्पर्श सघर्षी ध्वनि है ।
दे. ना. मा. मे 'ज' से प्रारम्भ होने वाले 73 शब्द हैं । इनमे 13 शब्दों का 'ज'
प्रा भा आ के 'य' का तथा 8 शब्दों का 'ज' प्रा भा आ के 'छ' का स्थानीय है ।
म भा आ की ही परम्परा मे दे ना मा मे भी 'य' से किसी शब्द का प्रारम्भ
नहीं हुआ है । शब्दादि मे यह 'ज' के रूप मे आया है ।

देश्य शब्दों के प्रारम्भवर्ती 'ज' की स्थितियों के उदाहरण इस प्रकार है—

ज — जगल-पकिला मुरा (3-41) जच्चो-पुरुष (3-40) जडिग्र-खचित (3-41)

प्रा भा आ ग७ज-जखरत्ती-दीपालिका यक्षरात्रि. (343), जवग्रो-यवा-

ङ्कुर (3-42), जोव्वणणीर, जोव्वणवेग्र,

जोव्वणोवय वय परिणाम यौवन. . . (3-51) ।

प्रा. भा आ ज्य७ज-जोइक्खो दीपक ज्योतिष्क (3-49),

जोई-विद्युत ज्योति (3-49), जोइस—नक्षत्रम् ज्योतिष
(3-39)

मध्यवर्ती तथा उपान्त्य 'ज' 'ज' तथा 'ज्ज' दो रूपों मे मिलता है—

मध्यवर्ती-ज-अजराउर-उष्ण (1-45), खजणो कर्दम (1-69) ।

1 उपान्त में 'छ' भी 'च्छ' रूप मे ही मिलता है ।

2 यह म. भा आ से अलग स्वतंत्र प्रयोग है ।

प्रा भा आ य७ज अजुअलवण्णा-अम्मिकावृक्षलअयुक्पूणा (1-48),
अजुओ-सप्तच्छलअयुक (1-17) ।

उपान्त मे-ज-ओहज-नास्तीतिभणितगर्भाक्रीडा (1 156), गजो गाल (2-8)

जल-

मध्यवर्ती-उज्जला वलात्कार. (1-97), उज्जूरिअ-धीण (1-112)

उपान्त मे-अवरिज्जो-अद्वितीय (1-36), वज्जा-अधिकारः (7-32)
मध्यवर्ती 'ज्ज' मे निहित है-

प्रा भा आ --यं--अज्जो जिन लआर्य (1-5), मज्जा सीमालमयादा (6-113)

प्रा. भा आ.-द्य-खज्जोओ नक्षत्रम्, लखद्योत (2-69), खिज्जिअं उपात्मन्
लखिद्य (2-74) ।

प्रा भा. आ - जं-गज्जणसदो मृगवारणध्वनिःलगर्जन शब्दः (2-88)

मज्जिअं अवलोक्तिलमार्जित (6-144)

प्रा भा आ -- ज्य-पेज्जल-प्रमाण (माप)लप्राज्य (6-57) ।

प्रा भा मा. — ज-भाउज्जलभ्रातृजाया (6-103) ।

प्रा. भा — ह्य-हिज्जो-कत्य (दीता दृआ कल)लह्य (8-67) ।

भ-

यह तालत्र्य, नाद, घोष, महाप्राण, निरनुनासिक स्पर्श सवर्षी ध्वनि है ।
दे ना मा मे इनमे प्रारम्भ होने वाले कुल 54 शब्द हैं । इनमे 53 शब्दों मे
प्रारम्भवर्ती 'भ' म भा आ. के 'भ' का अनुगमन करता है । शेष एक शब्द मे यह
प्रा भा प्रा 'ल' का स्वानीय है ।

प्रारम्भवर्ती-भ -

भक्किअ - वचनीयम् (3-55), भडी-निरन्तरवृष्टि. (3-53) ।

प्रा भा आ क्ष७भ-भयणी-पधमलक्षप् (3-54) ।

मध्यवर्ती 'भ'-भ और 'भ' दो रूपों मे मिलता है-

'भ'—भनभल्लिआ-भोलिका (3-56), भुभुमुसय-मनोदुल्ल (3-58) ।

दे ना मा के शब्दों मे उपान्त्य 'भ' वितकुल ही नहीं मिलता ।

भ-

मध्यवर्ती - अज्जमस्सं-आकृष्ट (1-13), अज्जसिअ-दृष्ट अवज्जम-कटी
(1-56), भज्जरी-चाण्डालयाष्ट (3-54)

मध्यवर्ती 'ज्ज' मे निहित है -

प्रा. भा आ ह्या-अगुन्महरो-रहम्यभेदीलगुहहर अ उपसगं-त्रिविक्रम) (1-43) ।

प्रा भा आ —ध्य—मज्झनिग्र मध्य दिनम् (दोपहर) मध्य दिन (6-124),
मज्झिमगड—उदरम् मध्यमगण्ड या काण्ड (6-125)

उपान्त मे मिलने वाले —‘उभ’ के उदाहरण ये हैं—

अज्झा — असती (1-50), अविअज्झा नववधू (1-77), सइज्झो प्रातिवे-
सिमक—हिन्दी नाभा अवधी मभिया (8-10) ।

एक शब्द मे उपान्त्य उभ मे निहित है—

प्रा भा आ व्य--ओज्झ--अपवित्र मध्यम्यम् (1-48) ।

मूर्धन्य व्यञ्जन ध्वनिग्राम--

दे ना मा. की मूर्धन्यव्यजनो विशेषतः ट, ठ, ड, ढ, मे प्रारम्भ होने वाली शब्दावली, अनादिकाल से प्रचलित तथा आर्य भाषाओं द्वारा आर्येतर भाषाओं मे गहग की गयी शब्दावली का वास्तविक स्वरूप स्पष्ट करती है । जहा तक मूर्धन्य व्यञ्जन ध्वनिग्रामो का सम्बन्ध है इमे परम्परा के सभी विद्वानो ने एकमत से आर्ये-
तर भाषाओ विशेषतः द्रविड कुल की भाषाओ की ध्वनियो से गृहीत माना है ।
भा आ भा के मयंप्राचीन उपलब्ध ग्रन्थो ‘वेदो तथा ब्राह्मणो मे प्राप्त मूर्धन्यवर्ण-
युक्त शब्दो को या तो द्रविड भाषाओ का ऋण शब्द माना गया या द्रविड प्रभाव मे दन्त्यदणों का मूर्धन्यीकृत रूप । ऋण शब्दो मे वेद प्रयुक्त अणु, अरणि, कटुक, कूट, कुणारि, कुण्ड, गरु इत्यादि तथा ब्राह्मण प्रयुक्त अटवी, आडम्बर, खड्ग, तण्डुल मटकी, मर्कट इत्यादि शब्द है ।¹ दन्त्य ध्वनियो के मूर्धन्यीकृत रूप के उदाहरण विकट, कीकट, सकट, प्रकट, गाढ आदि हैं । निष्कर्ष रूप मे श्री चटर्जी का अभिमत है कि— ‘हम देखते हैं कि जैसे जैसे आर्य भाषा का विकास आगे बढ़ता है वैसे-वैसे दन्त्यो की जगह मूर्धन्य ध्वनिया बढ़ती जाती हैं । इस विषय में हम अवश्य बाहरी, सम्भवतः द्रविड प्रभाव की कल्पना कर सकते हैं ।’² इस सन्दर्भ मे डा० वीरेन्द्र श्रीवास्तव³ का भी अभिमत उल्लेखनीय है— ‘भारतीय आर्य भाषा में मूर्धन्य ध्वनिया सर्वथा नहीं थी यह नहीं कहा जा सकता । द्रविड भाषाओ में टकारादि कोई शब्द नहीं, पर सस्कृत मे कुछ शब्द हैं । अतः इसको मानने मे कोई आपत्ति नहीं हो सकती कि प्रा भा. आ. मे अपनी निसर्ग मूर्धन्य ध्वनिया भी थीं जैसे-टक, टकण, टिट्टिग, टिप्पणी, टीका, घट, वट, पट, डमरु डिभ, डीन इत्यादि और द्रविड प्रभाव या अन्य विकास शृंखला के प्रभावो से गृहीत तथा मूर्धन्यीकृत

1. दि ओरिजन एण्ड डेवलपमेण्ट ऑफ बंगाली लैंग्वेज’ ए. के चटर्जी, पृ. 42 ।

2. भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी—चटर्जी, पृ. 86 ।

3. अपभ्रंश भाषा का अध्ययन, पृ. 86 ।

ध्वनियां भी ।" दे ना मा. की मूर्धन्य ध्वनिया विशेषतः ट, ठ, ड, ढ, भा आ. भा. की निमर्ग मूर्धन्य ध्वनियों के अधिक समीप है, इन कोटि के शब्दों में से अधिकांश शब्दों का सम्बन्ध द्रविड भाषाओं में न होकर सामान्य रूप से विकसित परम्परित ध्वनियों में है । इन मर्म में डा वीरेन्द्र श्रीवास्तव का अभिमत उपयुक्त है ।

ट—

मूर्धन्य, ध्वान, आघोष, अल्पप्राण, निरनुनासिक स्पर्शध्वनि है । दे. ना मा. में इससे प्रारम्भ होने वाले 21 शब्द हैं । इनमें एक भी शब्द ऐसा नहीं है जिसे 'तद्भव' की कोटि में रखा जा सके । इन शब्दों का आरम्भवर्ती 'ट' ध्वनिग्राम प्रा. भा आ. के निमर्ग मृद्व मूर्धन्य 'ट्' का ही अनुगमन करता है ।

आरम्भवर्ती स्थिति—ट्कारि—अरणिकुमम् (4-2), टमरो-केशचय (4-1),

ठारो,—अधमत्तङ्ग (4-2), टिप्पी—तिलकम् (4-3) ।

मध्यवर्ती स्थिति तथा उपान्त में यह 'ट' और 'ट्ट' दो रूपों में म भा. आ के ही 'ट्' और 'ट्ट' का अनुसरण करता है—

मध्यवर्ती 'ट'—कटाली—कण्टकारिका (2-4), कटोल-ककोड (एक वृक्ष) (2-7), छिट्टरमणम्—चक्षुम्यगन त्रीटा (3-30) ।

मध्यवर्ती 'ट्ट' में प्रतिनिहित है—

मा भा आ. 'ट्ट'—अट्टट्टो-यात (1-10), कुट्टयरी—चण्डी (2-35), ट्टट्टयातिरस्-कण्ठी (4-1) ।

प्रा मा आ—त—कट्टारी—श्रुरिका—कत्तरी (2-4), वृलीवट्टी—अश्व—धुरीयवर्तः (5-61), पयट्टिओ—प्रवर्तित—प्रवर्तित (6-26) ।

प्रा मा आ—न—ओट्टो—अपमृत;—प्रपट्टः (1-66), वोसट्ट—मूनोल्लुठित—विक-मित सि. है 4-256 (6-81) ।

प्रा. मा आ.—तृ—भट्टिओ—विष्णु—भट्टक (6-100) ।

प्रा ना आ—च—रोट्ट तन्दुलपिष्ट—लक्ष्य (6-11) ।

उपान्त में 'ट'—टुटो—छिन्नकर (4-3), टेंटा—चूतम्यान (43), कुंटी पोट्टल (2-34) ।

—ट्ट—टमगेट्ट—जेखरः (4-1), मोट्टी—अर्वमहिपी (3-59), कटोट्ट—नीलोत्पल (2-9) ।

ठ—

यह मूर्धन्य, ध्वान, आघोष, महाप्राण, निरनुनासिक स्पर्श ध्वनि है । प्रा मा भा. में इससे प्रारम्भ होने वाले शब्दों की संख्या अत्यल्प है । ठक्कुर, ठार,

ठानिनी (ग्राप्ते मस्कृत कोश) आदि जो शब्द हैं वे भी देश्य ही लगते हैं। यहां यह ध्वनि प्रायः दन्त्य व्यंजनो के मूर्धन्यकृत रूप में ही मिलती है। म मा आ में भी यह प्रायः मूर्धन्यकृत रूप में ही व्यवहृत हुई है जैसे संस्कृत की 'स्था' धातु प्राकृत में 'ठा' हो गयी है। दे ना मा में 'ठ' ध्वनि से प्रारम्भ होने वाले कुल 9 शब्द हैं जिनमें कुछ ही शब्दों जैसे ठल्लो-निर्घन (4-5), ठिवक-शिशनम् (4-5) में ही यह ध्वनि पुत्र रूप में मिलती है। जेष शब्दों में इसकी शुद्धता सदिग्ध है। इन सभी को 'न्व' के मूर्धन्यकृत रूप में देगा जा सकता है।

आन्मवर्ती स्थिति—

मा मा आ ठ—ठरिअ—गौरवित (4-6), ठिविअ—ऊर्ध्वम् (4-6)¹।

प्रा भा आ. स्व७ठ—ठविआ-प्रतिमा ८ स्थापिता (4-5), ठाणिज्जो-गौरवित ८ न्यानीय (4-5) ठाणो-मान ८ स्थान (4-5)।

मन्ववर्ती स्थिति—'ठ' श्री 'ट्ठ'

प्रा भा. आ. -ठ- कटकु ची-गले में बधे वस्त्र की गाठ (2-18), कठिओ दीवारिकः (2-15)

„ घ७ठ .. गेंठुओ-वक्षःस्थल के वस्त्र की गाठ ८ गन्थि (2-13)

मन्ववर्ती 'ट्ठ' में प्रतिनिहित है—

प्रा भा आ —सत—ऊहट्ट ८ उपहसित (1-140), औहट्टो ८ उपहसित (1-153)।

„ „ -स्थ- चदट्टिआ-भुजशिखर ८ चन्द्रस्थिता (3-6)।

„ „ -ष्ठ- पिट्ट त-गुदा ८ पृष्ठान्त (6-49), सुरजेट्टो-वरुण ८ सुरज्येष्ठ (8-31)

„ „ -ष्ट- रिट्टो-काक ८ अरिष्ट (7-6) पीलुट्ट-जलाहुआ ८ प्लुष्ट (6-51)

„ „ -थ- पत्तट्टो-बहुशिक्षित ८ प्राप्तार्थ (6-69)।

शब्दों के उपान्त में 'ठ' ध्वनिग्राम अपने सर्वथा शुद्ध रूप में प्राप्त होता है—जैसे-
कठो-सूकर (2-51) गुठी-घू घट (2-90), गुठी-अघमहय (2-91)
मेठी, मेठो (6-138)।

'ट्ठ' — अगुट्ट-अवगु ठव (1-6), रिग्विट्ठे-उचित (4-34) 'दहिट्टो-
कथित्य. (5-35)।

1 उदाहरण के इन दोनों शब्दों की ध्वनिग्रामिक शुद्धता सन्देह से परे नहीं है। इन्हें मूर्धन्यकृत रूप में भी लक्षित किया जा सकता है। आन्मवर्ती शुद्ध 'ठ' ध्वनिग्राम ठल्लो और ठिवड दो ही शब्दों से मिलता है।

ए—

यह मूर्धन्य, नाद घोष, अल्पप्राण, निरनुनासिक स्पर्शवर्ण है। दे ना मा धे ढकार मे प्रारम्भ होने वाले कुल 36 शब्द है। इन शब्दों मे 'ड' व्यंजन ध्वनिग्राम अपने मूल तथा मूर्धन्यीकृत दोनों ही रूपों मे मिलता है। एक शब्द ढोग्रण (4-9) लोचन, मे यह प्रा भा आ के 'ल' का स्थानीय है। श्री पी वी रामानुज स्वामी 'ढोग्रण' शब्द को स लोचन से निष्पन्न करते है।¹

प्रारम्भवर्ती स्थिति मे 'ड'² और 'ढड'

प्रा भा आ -ड- षड्गो-मार्ग (1-16), षड्यणा षडया-असती (1-18),
अडाडा वलात्कारः (1-64)।

प्रा भा आ.—'डट'—उट्टगो-वृद्ध (1-123), उड्डसो-मत्कुणः (1-96),
उड्टगो-चौर (1-101)।

मध्यवर्ती-'डट' में प्रतिनिहित है

प्रा भा आ -ड- उड्डगो-प्रतिशब्द उट्टगो (त्रिविक्रम) स उट्टदन् (1-128)

प्रा भा आ. दं- उम्मड्डा -वलात्कार उम्मर्द (1-97), डिड्डरो भेक.

दुर्दुर (4-9)।

प्रा भा आ -त- कुड्ड-आम्बयम्/कौनुक (2-33), खड्डा-खानिः/खात
(2-66)

प्रा. भा. आ -6- कुड्डगिलोई-गृहगोवा/कुट-गिल (2-19)

प्रा भा आ --न्य-गड्डी-यान/गन्धी (2-81)

उपान्त मे 'ड' और 'ढड' के उदाहरण इस प्रकार हैं—

—ट—अग्घाटो-अपामार्ग (1-8), अण्डो-जार (1-18), अवडो-
(1-16)

—डट-प्रायड्डी-विस्तार (1-64)।

ट—

यह मूर्धन्य नाद, घोष, महाप्राण तथा निरनुनासिक स्पर्श वर्ण है। दे ना. मा. मे टकार से प्रारम्भ होने वाले कुल 22 शब्द हैं। इन शब्दों मे एक भी शब्द

1 दे ना मा स्थानीय. 41।

2: मध्यवर्ती स्थिति मा 'ट' वर्गों वही प्रा भा आ के 'ट' का स्थानीय होकर भी व्यपद्यत हुआ है उट्ट-दरणी/उट्ट। प्राकृत 'टार' सूत्र भी यही निदिष्ट करता है।

ऐसा नहीं है जिनका आरम्भवर्ती 'ठ' प्रा. भा. आ. 'ध' का स्थानीय हो।¹ मध्यवर्ती स्थिति में कही-कही यह 'ठ' का स्थानीय होकर आया है। इस दृष्टि से सभी शब्द निश्चित रूप से 'देश्य' प्रकृति के हैं।

आरम्भवर्ती स्थिति में 'ट' प्रा. भा. आ. और मा. भा. आ. का ही अनुगमन है—

—ढादरी-वीणा भेद (4-14), ढढरो-पिशाच (4-16), ढढो-पङ्गु (4-16)

मध्यवर्ती स्थिति में 'ढ' और 'इढ' की स्थिति इस प्रकार है—

ढ— घाडिय-इण्टम् (1-74), कण्ठेढत्ती—दत्तकर्ण (2-22),
कुढय-चुल्ली (2-63)।

इढ— अट्टप्रवकली-कट्याहस्तनिवेश (1-45), इदइढलओ-इन्ट्रो-
स्थापन (1-82), उडढलो-उल्लास (1-91)।

मध्यवर्ती—'इढ'—में प्रतिनिहित है—

प्रा. भा. आ.—ग्व—प्रोटइढ रक्तम्/प्रवदग्ध (1-156),

उड्डाडी-द्वमार्ग/दग्ध (4-8),

प्रा. भा. आ.—घं—उड्डइओ-चर्मकार/वर्धक (6-44),

उड्डइओ, उड्डवण-वस्त्राहरण/वर्धपन (7-87)।

उपान्त में 'ढ' और 'इढ' के प्रयोग के उदाहरण इस प्रकार हैं—

—ढ— उव्वाढ विस्तीर्ण (1-129), उव्वीढ उत्खातम् (1-100),
कगढो-दधिकलशी (2-55)।

—इढ—ओवडडी पारिवर्तनकदेशः (1-151) ढढो-भेरी (4-13),
वेअइढ भल्लातकम् (7-66)।

ए—

यह मूर्धन्य, नाद, घोष, महाप्राण, सानुनासिक स्पर्शवर्ण है। मा. भा. आ. की 'नोणः सर्वत्र' (प्रा. प्र. 2-42) मान्यता के आधार पर देशीनामाला की शब्दावली में भी सर्वत्र 'न' के स्थान पर 'ए' का ही व्यवहार किया गया है। इसके कुछ अपवाद आर्ष प्राकृत (अर्धमागधी) तथा सरह के दोहा-कोश में मिलते हैं। इन अपवादों के अतिरिक्त सर्वत्र 'न' को 'ए' ही मिलता है। उत्तरी पश्चिमी और दक्षिणी पश्चिमी प्राकृत में तो निश्चित रूप से 'न' का 'एत्व' विधान है। देशी-नाममाला के शब्दों का सम्बन्ध प्रकृत्या इन्हीं प्राकृतों और अपभ्रंशों से है। पश्चिमी

1. म. भा. आ. में घ7ढ के अनेकों उदाहरण दूढ़े जा सकते हैं जैसे घृष्ट7कीठ। वे ना. भा. धं ओ. कमढी/कमठ. (2-55)।

अपभ्रंश के अन्य ग्रन्थों, मंदेशरासक और पाहुडदोहा आदि की भी यही स्थिति है । इन अपभ्रंश से प्रभावित गुजराती, राजस्थानी और पंजाबी भाषाओं में आज भी 'न' के एत्व विधान की प्रवृत्ति स्पष्ट ही देखी जा सकती है । मध्यदेश तथा प्राच्य देश की मस्कृत से प्रभावित भाषाओं में यह प्रवृत्ति कम हो गयी है । संस्कृत के अनु-त्पत्ति हिन्दी आदि भाषाओं में 'ण' का प्रारम्भिक प्रयोग लगभग नहीं ही होता । मध्यवर्ती स्थिति में भी यह प्रायः मूर्धन्यीकृत रूप में ही व्यवहृत होता है । केवल उच्चान्त में यह सुरक्षित है । आजकल हिन्दी तथा उसकी बोलियों में इसे भी 'न' के रूप में व्यवहृत किया जा रहा है । जैसे बीणा-बीना । देशीनाममाला में 'ण' से प्रारम्भ होने वाले 169 शब्द हैं, जिनमें कुछ का मूल तो निश्चित रूप से म. भा. आ के रास्ते प्रा. भा. आ में ढूँढा जा सकता है केवल अर्थ अलग होने के कारण हमचन्द्र ने इन्हें 'देश्य' कह दिया है । 'ण' से प्रारम्भ होने वाले देश्य शब्दों की संख्या भी पर्याप्त है ।

प्रारम्भवर्ती स्थिति में 'ण' म. भा. आ. के 'ण' का अनुगमन है—अधिकतर शब्दों में यह प्राकृत 'एत्व' विधान के रूप में ही व्यवहृत है—

'ण' — णाग्रो-नविष्टः (4-23), शीरगी-शिरोवगुण्ठनम् (4-31),
णिहृप्रा-कामिता (4-26) ।

मध्यवर्ती 'ण' और 'ण' म. भा. आ. का ही अनुगमन करते हैं—

—ण-अणप्पो-वट् (1-12), अणराहो-शिरसिचित्रपटिका (1-24),
अणिल-प्रभातम् (1-19) ।

मध्यवर्ती 'ण' में प्रतिनिहित है—

म. भा. आ. ण-अणाराण-विवाहवृत्तानम् (1-7), कणासो-पयन्त (2-14),
प्रा. भा. आ. न्-उणमो-समुन्नत (उन्नम) (1-88), श्रीमण-श्रुति (अवसन्नम्
(1-56), अणटग्रो-नृप्. (अन्नचित् (1-19) ।

प्रा. भा. आ. न्य-अणमय-पुनश्चत् (अन्यमयम्) (1-28) ।

„ "न्- उवृण्ण-उद्विग्न (उद्विग्न) (1-123) ।

„ "गो- कणवाल-कण्डलादिकर्णभिरण (कर्णवाल¹) (2-23)
कण्ठोन्नी-चञ्चु. (कर्णालि- (2-57) ।

„ "ङ-जणोद्गो-राक्षस (यज्ञहन्) (3-43) ।

1. 'गो' शब्द गलत है—हिन्दी का 'वाता' या 'बाना' पद इसी से संभव है ।

उपान्त में 'ण' ग्रीन 'ण्ण' की स्थिति व भा या का ही अनुगमन करती है ।

—ण— ण्ण—निरितटम् (1-10), ण्ण—इन्द्राणी (1-58), ण्ण—
कापालिक (1-31)

—ण्ण— ण्ण—देवरभार्या (1-51), ण्ण—उर (1-105), ण्ण—ज्येष्ठभार्या
(7-41) ।

पह ध्वनिग्राम की उपस्थिति —

आ भा. प्रा में 'न्ह' व्यजन ध्वनिग्राम की सत्ता अलग ही मानी जा रही है । अधिकांश भाषा वैज्ञानिक इसे संयुक्त ध्वनि न मानकर एक स्वतंत्र ध्वनिग्राम मानने के पक्ष में हैं । इस स्वतंत्र व्यजन ध्वनिग्राम का मूलश्रोत म भा. आ में खोजा जा सकता है । वही यह 'ण्ह' के रूप में विद्यमान है यद्यपि यह अधिकांश स्वरों पर ध्वनि-परिवर्तनों के कारण है फिर भी इस ध्वनिग्राम की सत्ता अलग निर्धारित की जा सकती है । देशीनाममाला की शब्दावली में इस व्यजन ध्वनिग्राम का पर्याप्त प्रयोग हुआ है । यह ध्वनिग्राम मध्यवर्ती और उपान्त दो ही स्थितियों में प्राप्त होता है । कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—

म भा या ण्ह—उण्हिआ—कसर (खिचड़ी) (1-88), गेण्हिअ—उर
भूनम् (2-94), जण्हलघुपिठरम् (3-51), जण्हनी—नीवी (3-40), तुण्हो—
सूकर (5-14), पिण्हो—क्षामा (6-46) सण्हई—दूती (8-9) सिण्ह—हिमम्
(8-53) ।

ये कुछ ऐसे उदाहरण हैं—जिनमें 'ण्ह' व्यजन ध्वनिग्राम की स्थिति स्पष्ट दिखायी देती है । इनके प्रतिरिक्त कुछ शब्दों में यह व्यजन ध्वनिग्राम प्रा भा या ण्ण, स्त आदि व्यजन संयोगों के परिवर्तित रूपों में भी मिलता है, जैसे —

प्रा भा या ण्ण—उण्होदयभंडो—भ्रमर ऽ उण्होदयभण्डः (1-20),

तुण्हिक्को—मृदुनिश्चल ऽ तूण्हिक (4-15) ।

प्रा. भा या स्त ण्ह—अण्हिअओ—भ्रान्त ऽ अस्नेह (कः) (1-21), पण्हओ—स्तन-
धारा ऽ प्रस्तुत (6-3) ।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि देशीनाममाला के अधिकांश 'देश्य' शब्दों में मिलने वाला 'ण्ह' प्रा भा या के स्वतंत्र व्यजन ध्वनिग्राम 'न्ह' के मूल में देखा जा सकता है । मध्यदेश की तथा प्राच्य भाषाओं में यही 'ण्ह', 'न्ह' के रूप में परिवर्तित होकर प्रचलित है । उत्तरपश्चिमी तथा दक्षिण पश्चिमी भाषाओं

मे 'प्ह' की स्थिति अति सुलभ है। यहा यह म भा आ का ही अनुगमन करता है। प्रा भा आ मे लेकर आ भा आ. तक इसके विकास की अवस्था एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट की जा सकती है—

प्रा भा आ. कृष्ण म भा आ. कण्ह आ भा. आ. कान्ह।

दन्त्य या वत्स्य व्यंजनध्वनिग्राम—

म भा आ के दन्त्य व्यंजन ध्वनिग्रामों की प्रकृति का विश्लेषण करते हुए डा वीरेन्द्र श्रीवास्तव लिखते हैं—“जिह्वाग्र या जिह्वानीक द्वारा ऊपर के दांतों के स्पर्श से मुखविवर में आती हुई श्वासवायु का अवरोध होकर स्फोटन होता है। दन्त के अग्र, मध्य और मूल का विभिन्न वर्णों में उपयोग होता है। ऋक्-प्रातिशाख्य ने तकारवर्ण का उच्चारण स्थान जिह्वामूलीय बताया है (दन्तमूलीय-तु-तकार वर्ण 1-19) अब भी त और थ इसी तरह के वर्ण हैं। द और ध के उच्चारण में दन्त के मध्य और न के उच्चारण में अग्रभाग का उपयोग होने लगा। पाणिनीय शिक्षा में सभी के लिए सामान्य दन्त्य शब्द का प्रयोग है।¹ आ. भा. आ में दन्त्य कहे जाने वाले वर्णों का उच्चारण वत्स हो गया है। दे. ना मा के दन्त्य-वर्णों की प्रकृति म भा आ की ही है। दन्त्यों में केवल त, थ, द, ध वर्णों का ही प्रयोग हुआ है। न सर्वत्र 'ए' हो गया है, यह पहले ही प्रतिपादित किया जा चुका है।

त—

यह दन्त्य, ध्वास, अघोष, अल्पप्राण, निरनुनासिक स्पर्श वर्ण है। देशी-नाममात्रा में 'त' से प्रारम्भ होने वाले शब्दों की संख्या 110 है। प्रारम्भवर्ती स्थिति में यह म भा आ के 'त' का ही अनुगमन है। मध्यवर्ती स्थिति में कही, रही न भा आ. के अनुस्वर ही यह 'द' का स्थानीय होकर व्यवहृत हुआ है। इस ऋज के शब्दों में इसकी विभिन्न नियंत्रिता इन प्रकार है।

प्रारम्भवर्ती — त— तहरी-पट्टिकलासुरा (5-2), तलारी, नगररक्षक. (5-3), तु गो² -रात्रि (5-14), तुण्ही-मूकर (5-14)।

मध्यवर्ती — त— त्त

1. उपर्युक्त भाषा का अध्ययन पृ 93

2. तमिन में 'तुटु' या तय 'सोना (क्रिया) है। इस शब्द की तमिन की सम्पत्ति माना जा सकता है।

—त— अतरिज्ज-ऋषीसूत्रम् (1-35), अतेल्ली-मध्यम (1-55),
उड् तण-उत्तरीयम् (1-103) ।

प्रा भा आ द७त—मन्भतिप्र ऽमध्य दिनम् (6-124) ।

जा७त—मनी-विवाहगणक ऽमन्त्री (6-111) ।

—त— उच्चत्तवरत्त-पार्श्वयो स्थूलम (1-139) खित्तय-अनर्थः
(2-79) गत्ताडी-गायिका (2-82) ।

मध्यवर्ती-त— मे प्रतिनिहित है—

प्रा भा या क्त— औसित्त-अवलिप्त ऽअवसिक्तम् (1-158) ।

„ „—द— गवत्त-घास ऽगो + अद् (2-85) ।

„ „—प्त— पत्तट्ठो बहुशिषित ऽप्राप्तार्थः (6-68), सत्तावीसजोग्रणो-
इन्दु ऽसप्तविंशतियुज् (8-22) ।

„ „—त्र— वच्छीउत्तो-नापित ऽवात्मीपुत्र (7-47) ।

„ „—तु— वरश्त्तो-अभिनववर ऽवरयितृक (7-44) ।

उपान्त मे त और त के उदाहरण इस प्रकार है—

—त— अद्ध तो-पर्यन्त (सीमा) (1-8), औसायतो-जुम्भालसः
(1-170) कडत-मूलशाकम् (2-56) ।

—त्त— अणुमुत्ती अनुकूल (1-25), अत्ता-जननी (1-5),
अप्पगुत्ता-कैवाच (1-29), कत्ता-कौडी (2 1) ।

अ—

यह दन्त्य, श्वास, अघोष, महाप्राण, निरनुनासिक स्पर्शवर्ण है । देशीनाम-
माला मे 'य' मे प्रारम्भ होने वाले कुल 47 शब्द हैं । प्रा भा आ (संस्कृत) मे 'य' प्वनि से प्रारम्भ होने वाले शब्दों की संख्या अतिस्वरूप है ।¹ म. भा. आ. मे 'य' का प्रयोग प्राय प्रा. भा आ. 'रय' 'स्त' तथा 'त्स' आदि के स्थान पर हुआ है । देशी-
नाममाला के तद्भव शब्दों मे यह स्थिति ज्यों की त्यो है । देश्य शब्दों मे 'य' व्यजन ध्वनिग्राम का प्रयोग परिशुद्ध रूप मे हुआ है ।

प्रारम्भवर्ती स्थिति मे 'य'—

यक्को-अवसर. (5-24), यव-विषमम् (5-24), यवो पशु- (5-24) ।

प्रा. भा आ. त्स७य यरू-तलवार की मूठ ऽत्सरुः (5-24) ।

1. आप्टे ने अपनी संस्कृत शिक्षणरी (पृ 489) में यव, युव, युद्, यूत्कार, ययै-कूल इतने ही शब्द 'य' से प्रारम्भ होने वाले बताया है ।

प्रा ना आ. न्त७व- विष्णे-नि स्नेहहृदय Lस्तीर्ण. (5-30), थिमिअ-स्थिरम् L
निमित्त (5-27), येवो-विन्दु Lस्तप (5 29) ।

प्रा ना आ न्य७व-थिरमीप्रो-निमीक Lम्यिखीर्ण (5-31), थेरो-ब्रह्मा L
म्यविर (5-29), थेरानुणपद्मम् Lम्वविरा-सनम् (5 29) ।

प्रा भा आ न७व-यूरी-तन्नुवायोपग्गम् Lतूरी ।

पूरे देशीनाममाला कोश में मध्यवर्ती तथा उपान्त्य स्थितियों में 'य' व्यजन-
ध्वनिप्राप्त का सर्वथा अभाव है । इन दोनों स्थितियों में यह सर्वत्र मयुक्त व्यजन
ध्वनिप्राप्त 'र' के रूप में व्यवहृत हुआ है ।

मध्यवर्ती 'य' — अत्यन्त अनवमर (1-14), अत्युवड-भल्लातकम् (1-23)
उत्तमनपत्थल्ला-पार्श्वद्वयेन परिवर्तनम् (1-122) ।

मध्यवर्ती 'य' में प्रतिनिधित्व है —

प्रा ना आ 'यू'-अत्रागो-महायम् Lआ + यू¹ (1-9) ।

„ „ 'म्य'-अत्युड-तनु Lअम्यूल (1-9), उत्तमयो-सम्भर्द -Lउत् + स्थग्
(1-93) ।

„ „ 'न्'-नन्थनी-हान Lचन्नरि (3-2), पत्थरा-चरणाघातः Lप्रस्तरा
(6-8) ।

„ „ 'न्'-रत्तउटो-वन्नाअय Lवन्-उटज (7-45) ।

„ „ 'द'-मिद्धयो-मद्र Lमिद्धाय (8-31) ।

प्रा भा आ. 'य' - अगुवत-अगुनीयम् Lअगुठ (1-31) ।

उपान्त्य में 'य' के उदाहरण उस प्रकार हैं —

उत्तयो-प्रिलन्थ (1-96), ओल्लयो-विदारित (1-56),

ओल्लिय-मिडाड (1-168) ।

द—

यह उक्त नार, धीय, अन्वप्रान्त, निरनुनासिक स्पर्श वरुण है । देशीनाम-
माला में 'द' में प्राग्भक्त होने वाले पञ्चों की संख्या 118 है । इनमें केवल दो ही
पञ्चों में केवल प्राग्भक्त 'द' प्रा भा. आ 'उय' का स्थानीय है वे हैं-दोम-
मिन्नी Lपतामनय (5-51) तथा दोमिन्नी Lज्योन्ना (5-50) । उनके अतिरिक्त
पञ्च सभी पञ्चों का 'द' प्रा भा आ के 'द' का ही अनुगमन है ।

प्रारम्भवर्ती 'द' — दय-जलम् (5-33), दर-ग्रधम् (5-33), दसू-शोक-
(5-34) ।

प्रारम्भवर्ती 'द' में प्रतिनिहित है—

प्रा भा. आ - दृ-दु'घट्टो-हस्ती L द्वि + धुट्ट (5-44), दोग-युग्मम् L द्विक
(4-49), दूणो-हस्ती L द्विपान (5-44) ।

प्रा भा आ - द्र - दुट्टोली-वृक्षपक्ति L द्रुट्टोली (5-43) ।

मध्यवर्ती स्त्विति में 'द' और 'द्' म भा आ के ही अनुकरण हैं—

—द— प्रारदर-अनेकान्तम् (1-78), आहु दुरो-पुच्छ (1-66),
कदल-कपालम् (2-4) ।

—द्— अद्गो-आकुल (1-15), अवद्स-उलूखलादि (1-30),
उद्दामो-सधात (1-126) ।

मध्यवर्ती 'द्द' में प्रतिनिहित है—

प्रा भा आ - त् + द-उद्दिअ L उत् दारितम् (1-100), उद्दिसिअ-उत्प्रेक्षितम्
L उत्त + दिश (1-109), तद्दिअस-अनुदिवस L तत्तदिवसम् (5-8) ।

प्रा भा आ - द-कदमिअो-महिप L कदमित. (2-15), गद्गो-कटुध्वनि L गार्दम्य
(2-82) ।

पा भा आ - 'द्ध'-गज्जणमद्दो-मृगवारणध्वनिः L गर्जनशब्दः (2-88), सद्दाल-
तूपुरम् L शब्दाल (8-10) ।

प्रा भा. आ - द्ध-धूमदार-गदाक्ष L धूमद्वारम् (5-61) ।

प्रा भा आ - द्र'-समुद्गावणीअ-अमृत L समुद्रनवनीतम् (8-50),
समुद्गहर-पानीयगृह L समुद्रगृहम् (8-21) ।

उपान्त में 'द' और 'द्द' के प्रयोग के उदाहरण इस प्रकार हैं—

—द— कदी मूलशाकम् (2-1), कदो-दृढ (2-51), कलयदी-पाटला—(2-58)

—द्द— उद्द-जलसानुपम् (1-123), कुद्-प्रभूतम् (2-34), गज्जणसद्दो-मृग-
वारणध्वनि. (2-88) ।

ध—

यह दन्त्य, नाद, घोष, महाप्राण, निरनुनासिक स्पर्श ध्वनि है। देशो-
नाममाला में 'व' से प्रारम्भ होने वाले कुल 39 शब्द हैं। इनमें केवल दो ही शब्दों,

1 दे ना मा 7/80 में 'वोद्गो' (तृण) शब्द आया है। इस शब्द का मध्यवर्ती 'द्र' प्रा
मा आ के अनुरूप है अतः इस शब्द को तत्सम कहा जाना चाहिए। म भा. आ 7/8 ही
सर्वत्र मिलता है।

—घुमराओ-भ्रमर ऽघ्रुवरान (5-57) तथा घूणो-गज ऽम्यूण (5-60) में 'व' भ्रमरः प्रा. भा. आ 'घ्र' और 'म्य' का स्थानीय है। शेष सभी शब्दों की आरम्भवर्ती स्थिति में यह न भा आ के 'व' का ही अनुगमन है। मध्यवर्ती और उपान्त स्थितियों में भी 'व' का प्रयोग है। म. भा आ की घोष महाप्राण ध्वनियों को 'ह' कर देने की प्रवृत्ति के यत्र सर्वथा विपरीत है। 'देश्य' शब्दों की यही ता विलक्षणता है कि वे अधिकाल रूप से म. भा आ की व्याकरणिक प्रक्रियाओं और ध्वनिपरिवर्तनों से प्रभावित होते हुए भी वही-वहीं अपनी सर्वथा विपरीत स्थिति का प्रदर्शन करते हैं। आरम्भवर्ती-घ- घर तूलम् (5-7), वाडी-निरस्तम् (5-59), घूमरी-नीहार. (5-61)।

मध्यवर्ती स्थिति में 'घ' और 'व' पूर्णतः म भा आ का ही अनुगमन करते हैं—

—घ— इर्दगियूम तुहिनम् (1-80), कायघुओ-कामिञ्जुलात्प. पक्षी (2-29), 'कुघरी लघुमत्स्यः (2-32)।

दृ— उदच्छविघ्र-सज्जितम् (1-119), उद्धाओ-विपमोन्नतप्रदेश. (1-124), शिद्धमो अनिन्नगृहः (4-38), दोद्धिओ चर्मकार. (5-44)।

मध्यवर्ती 'व' में प्रतिनिहित है —

प्रा ना ण - वं-उद्धविघ्र-मज्जाकरणम् ऽवर्वाक्षिकम् (1-34),
उद्धजवा-मोचकम् (जूना) ऽअर्धजवा (1-33)।

" " - ख-कुट्टगविप्रमुहो-वाल ऽदुग्धगविकमुव (5-40)।

" " - ध्व-धूमद्वयमहिनीओ-वृत्तिका-धूमध्वजमहिष्य. (5-62)।

उपान्त में 'व' और 'द्व' के उदाहरण इस प्रकार हैं—

—घ— चउरविघो-मातवाहन (3-7), छेघो-म्यामक. (3-39), पटिखध-जलपहम् (6-28)।

द्व— पाण्ड-मनृण (1-75), आविद्ध-प्रेरितम् (1-63), तद्ध-मुत्तम् (2-67)

न—

देवीनामनाम में न व्यंजनध्वनिग्राम का सर्वथा अभाव है। भरत के समय में ही प्राचीन में 'न' को 'ण' कर देने की प्रवृत्ति चल पड़ी थी। स्वयं हेमचन्द्र ने भी घरने स्वरान्ता शब्द के 'वादी' (1-129) सूत्र में प्राकृत शब्दों में 'न' की स्थिति

स्वीकार की है। यही स्थिति लगभग सभी वैयाकरणों की रही है। जहाँ तक 'देश्य' शब्दों का प्रश्न है, हेमचन्द्र ने इनमें 'न' की स्थिति स्वीकार नहीं किया। देशीनाममाला की 63 वीं कारिका की वृत्ति (पृ० 208) में उन्होंने स्पष्ट कह दिया —

“नकारादयस्तु (शब्दाः) देश्यामसभविनएवेति न निबद्धाः। यच्च 'वादे' सूत्रितमस्माभिस्तत्संस्कृतभवाप्राकृतशब्दापेक्षया न देश्यपक्षेयेति सर्वमवदातम्।”

इस प्रकार देश्य शब्दों में सर्वत्र 'न' को 'ण' ही मिलता है। फलतः देशी-नाममाला में न तो नकारादि कोई शब्द है और न ही किसी अन्य स्थिति में इसका प्रयोग ही है। इससे संबंधित अन्य तथ्यों का विवेचन पीछे 'ण' ध्वनिग्राम की चर्चा के बीच किया जा चुका है।

प—

यह ओष्ठ्य, श्वास, अघोष, अल्पप्राण, निरनुनासिक स्पर्शवर्ण है। देशी-नाममाला में 'प' से प्रारम्भ होने वाले शब्दों की संख्या 393 है। प्रारम्भवर्ती स्थिति का 'प' पूर्णरूपेण म. भा. आ. के 'प' का अनुगमन है,—जिसमें प्रा. भा. आ. 'प्र' भी प्रतिनिहित है—

प—पक्खर-तुरगसंनाहः (6-10), पज्जा-अधिरोहिणी (6-1), पडवा-पटकुटी (6-6), पडाली-पक्ति (6-9)।

प्र7प-पच्चुत्थ-वोया हुआ/प्रत्युप्तम् (6-13), पडिच्छदो-मुखम्/प्रतिच्छन्द. (6-24), पण्हओ-स्तनवारा/प्रस्तुत (6-3)।

मध्यवर्ती स्थिति में 'प' और 'प्प' दोनों म. भा. आ. का ही अनुगमन करते हैं—

प— अपारमग्गो-विश्रामः (1-43), उरुपुल्लो-अग्रूप (1-134), कडपडवा-यवनिका (2-25)।

—प्प— अप्पज्जो आत्मवश. (1-14), उप्पेहउ-उद्भट. (1-116), कुप्पडो-गृहाचार (2-36)।

मध्यवर्ती 'प्प' में प्रतिनिहित है—

प्रा. भा. आ. त्प-उप्पको-पडक्/उत्पडक्. (1-30), उप्पीलो-संघात. /उत्पीड या पिण्ड (1-126)।

” ” पं-कप्परिअं-दारितम्/खर्पर (2-20)।

” ” प्र-वप्पो-सुमट /वप्र (6-88), वप्पिणो-क्षेत्रम्/वप्र या वप्रि (7-85)।

उपान्त में 'व' और 'व्व' के उदाहरण इस प्रकार हैं—

व— वृषा—तृणादिमष्ट वृष्टिनिवारणम् (2-75), भुषा-विश्वुः (1-101), चैवृष-मुनल (3-1) ।

व्व— अष्पो-पिता (1-6), ओष्वा शरण पर मणि को बमकाना (1-148) कटप्पो-निकर. (2-13) ।

व्—

यह ओष्व, व्वान, अघोष, महाप्राण, निरनुनासिक, स्पर्शवर्ण है । देशी-नाममाला में 'क' से प्रारम्भ होने वाले कुल 35 शब्द हैं । ये सभी शब्द 'देश्य' प्रकृति के हैं ।

प्रारम्भवर्तो-व-पुष्का-मिथ्या (6-84), फेलावा-मातुलानी (6-85), फौफा-भीषयितु शब्द (6-86) ।

मन्ववर्तो 'व' और 'व्व' परांस्वरण न. भा. आ का अनुगमन करते हैं—

व— वफाटो-गृहा (2-7), कुलफमणी-कुलकलट्कः (2-42), गुपगुमिप्र-मुगन्धि (2-93) ।

व्व— प्रप्पुण-पूर्ण (1-20), उप्फालो-दुर्जन. (1-90), चप्फन-मिरोमाता (3-20)

मन्ववर्तो 'व्व' में प्रतिनिहित है—

व्व ग ग ग-व्व-उप्पवोर्तो-चल उन्मप्य (1-102),

रिप्पस्सो-निर्वय निर स्पर्श (4-37) ।

व्व-उप्पोमो उद्गम उन्मकोट (1-91)

वक्कालो-मन्क लग्न स्फोटक (2-86), वप्पोउप्प-मिन्निटिम उप्पमिन्निटित (6-27) ।

व्व-व्विड्ढक उप्पिपुप्पम् (मन्मन) (5-35), देवउप्प उप्पिपुप्पम् (5-49) दप्पाउप्प प्रतिमयोप्पम् उप्पापाकुलम् (6-29) ।

उपान्त में 'व' और 'व्व' के उदाहरण मिलते हैं—

व— वृषो-व-व्वो (2-91), गुफो-गुप्ति (2-90), व्वोषा-भीषयितु शब्द (6-86) ।

व्व— व्विड्ढक-मन्मनम् (5-35), देवउप्प-व्विपुप्पम् (5-49), व्वुप्फा-विपुप्पम् (6-57) ।

यह ओष्ठ्य, नाद, घोष, अल्पप्राण निरनुनासिक स्पर्श वर्ण है। देशी-नाममाला में 'व' से प्रारम्भ होने वाले कुल 68 शब्द हैं। इनमें अधिकतर शब्दों का प्रारम्भ 'व' वाले परिवर्तित रूप में है। कुछ ही तद्भव शब्द ऐसे हैं जिनमें व 'व' का स्थानीय प्रोक्त प्रयुक्त होता है। म. भा. आ. में 'व' और व एक दूसरे में परिवर्तित कर दिए गये हैं। परिवर्तित गति सामान्य है।¹ प्राच्य प्रदेशों में 'व' को 'व' उच्चारण करने की प्रवृत्ति है उनके विपरीत पश्चिमी प्रदेश में वकार बहुलता है। यही वजह है कि पद्यों का नाट्य पश्चिम प्रदेश में ही है। यही कारण है कि जहाँ हमें 'प्रजापति' पद्य 357 है, वहाँ 'व' से प्रारम्भ होने वाले शब्दों की संख्या केवल 68 है और हमें भी कई शब्दों का 'व' प्रा. भा. आ. 'व' स्थानीय है।

प्राच्य भा. उ-वर्ण-वर्ण-वर्ण (6-90), वागी-मुभग (6-97),

मोटी-वर्णित (6-96), वीर-वृद्ध (6-96)।

प्रा. भा. आ. 37व-वर्ण-मुभग या पिता-वर्ण (6-88), वीर-वृद्ध-वर्ण-वर्ण (6-96)।

प्रा. भा. आ. 37व-वर्ण-मुभग या पिता-वर्ण

नगर-वर्णित में 'व' और व दोनों ही विभुद्ध शब्द प्रकृति के हैं।

व-वर्ण-वर्णित (1-16), व-वर्ण-वर्ण (1-11), उ-वर्ण-वर्ण (1-90)

व-वर्ण-वर्णित-वर्णित-वर्णित-वर्णित-वर्णित (1-42), उ-वर्ण-वर्णित-वर्णित-वर्णित-वर्णित (1-128), उ-वर्ण-वर्णित (1-126)।

उपान्त में 'व' का प्रयोग पर्याप्तमात्रा में है जबकि 'व' का प्रयोग अत्यल्प है।

व-वर्ण-वर्णित-वर्णित-वर्णित-वर्णित-वर्णित (1-64), उ-वर्ण-वर्णित-वर्णित-वर्णित-वर्णित (1-86), उ-वर्ण-वर्णित-वर्णित-वर्णित-वर्णित (1-86)

व-वर्ण-वर्णित-वर्णित-वर्णित-वर्णित-वर्णित (6-46)

भ—

यह ओष्ठ्य, नाद, घोष, महाप्राण, निरनुनासिक महाप्राण ध्वनि है। 'देशीनाममाला' में 'भ' से प्रारम्भ होने वाले शब्दों की संख्या 65 है। प्राकृत भाषाओं में 'भ' को प्रायः 'ह' हो गया है, परन्तु देशीनाममाला के शब्दों में सभी स्थितियों

1 प्राकृतकाल में व को व (वीर्य) प्रा. प्र. 2-15) उच्चारण करने की प्रवृत्ति के कारण 'व' को 'व' उच्चारण करने की प्रवृत्ति को अधिक बल मिला होगा।

2 उपान्त में 'व' के कम उदाहरण मिलने का प्रमुख कारण है 'व' का 'व' रूप में व्यवहार किया जाना है।

१०६ नं० कागज (६-१३०)

... प्रविष्टम् (

... (1-144),

... (11)

(149), धम्मोडी मध्याह्न

$$\left(\frac{1}{1-2.4} \right) 1$$

Year	Total (%)	Male (%)
1950	45	40
1955	50	45
1960	55	50
1965	60	55
1970	65	60

1977, 1978, 1979, 1980, 1981, 1982, 1983, 1984, 1985, 1986, 1987, 1988, 1989, 1990, 1991, 1992, 1993, 1994, 1995, 1996, 1997, 1998, 1999, 2000, 2001, 2002, 2003, 2004, 2005, 2006, 2007, 2008, 2009, 2010, 2011, 2012, 2013, 2014, 2015, 2016, 2017, 2018, 2019, 2020, 2021, 2022, 2023, 2024, 2025, 2026, 2027, 2028, 2029, 2030, 2031, 2032, 2033, 2034, 2035, 2036, 2037, 2038, 2039, 2040, 2041, 2042, 2043, 2044, 2045, 2046, 2047, 2048, 2049, 2050, 2051, 2052, 2053, 2054, 2055, 2056, 2057, 2058, 2059, 2060, 2061, 2062, 2063, 2064, 2065, 2066, 2067, 2068, 2069, 2070, 2071, 2072, 2073, 2074, 2075, 2076, 2077, 2078, 2079, 2080, 2081, 2082, 2083, 2084, 2085, 2086, 2087, 2088, 2089, 2090, 2091, 2092, 2093, 2094, 2095, 2096, 2097, 2098, 2099, 2100, 2101, 2102, 2103, 2104, 2105, 2106, 2107, 2108, 2109, 2110, 2111, 2112, 2113, 2114, 2115, 2116, 2117, 2118, 2119, 2120, 2121, 2122, 2123, 2124, 2125, 2126, 2127, 2128, 2129, 2130, 2131, 2132, 2133, 2134, 2135, 2136, 2137, 2138, 2139, 2140, 2141, 2142, 2143, 2144, 2145, 2146, 2147, 2148, 2149, 2150, 2151, 2152, 2153, 2154, 2155, 2156, 2157, 2158, 2159, 2160, 2161, 2162, 2163, 2164, 2165, 2166, 2167, 2168, 2169, 2170, 2171, 2172, 2173, 2174, 2175, 2176, 2177, 2178, 2179, 2180, 2181, 2182, 2183, 2184, 2185, 2186, 2187, 2188, 2189, 2190, 2191, 2192, 2193, 2194, 2195, 2196, 2197, 2198, 2199, 2200, 2201, 2202, 2203, 2204, 2205, 2206, 2207, 2208, 2209, 2210, 2211, 2212, 2213, 2214, 2215, 2216, 2217, 2218, 2219, 2220, 2221, 2222, 2223, 2224, 2225, 2226, 2227, 2228, 2229, 2230, 2231, 2232, 2233, 2234, 2235, 2236, 2237, 2238, 2239, 2240, 2241, 2242, 2243, 2244, 2245, 2246, 2247, 2248, 2249, 2250, 2251, 2252, 2253, 2254, 2255, 2256, 2257, 2258, 2259, 2260, 2261, 2262, 2263, 2264, 2265, 2266, 2267, 2268, 2269, 2270, 2271, 2272, 2273, 2274, 2275, 2276, 2277, 2278, 2279, 2280, 2281, 2282, 2283, 2284, 2285, 2286, 2287, 2288, 2289, 2290, 2291, 2292, 2293, 2294, 2295, 2296, 2297, 2298, 2299, 2300, 2301, 2302, 2303, 2304, 2305, 2306, 2307, 2308, 2309, 2310, 2311, 2312, 2313, 2314, 2315, 2316, 2317, 2318, 2319, 2320, 2321, 2322, 2323, 2324, 2325, 2326, 2327, 2328, 2329, 2330, 2331, 2332, 2333, 2334, 2335, 2336, 2337, 2338, 2339, 2340, 2341, 2342, 2343, 2344, 2345, 2346, 2347, 2348, 2349, 2350, 2351, 2352, 2353, 2354, 2355, 2356, 2357, 2358, 2359, 2360, 2361, 2362, 2363, 2364, 2365, 2366, 2367, 2368, 2369, 2370, 2371, 2372, 2373, 2374, 2375, 2376, 2377, 2378, 2379, 2380, 2381, 2382, 2383, 2384, 2385, 2386, 2387, 2388, 2389, 2390, 2391, 2392, 2393, 2394, 2395, 2396, 2397, 2398, 2399, 2400, 2401, 2402, 2403, 2404, 2405, 2406, 2407, 2408, 2409, 2410, 2411, 2412, 2413, 2414, 2415, 2416, 2417, 2418, 2419, 2420, 2421, 2422, 2423, 2424, 2425, 2426, 2427, 2428, 2429, 2430, 2431, 2432, 2433, 2434, 2435, 2436, 2437, 2438, 2439, 2440, 2441, 2442, 2443, 2444, 2445, 2446, 2447, 2448, 2449, 2450, 2451, 2452, 2453, 2454, 2455, 2456, 2457, 2458, 2459, 2460, 2461, 2462, 2463, 2464, 2465, 2466, 2467, 2468, 2469, 2470, 2471, 2472, 2473, 2474, 2475, 2476, 2477, 2478, 2479, 2480, 2481, 2482, 2483, 2484, 2485, 2486, 2487, 2488, 2489, 2490, 2491, 2492, 2493, 2494, 2495, 2496, 2497, 2498, 2499, 2500, 2501, 2502, 2503, 2504, 2505, 2506, 2507, 2508, 2509, 2510, 2511, 2512, 2513, 2514, 2515, 2516, 2517, 2518, 2519, 2520, 2521, 2522, 2523, 2524, 2525, 2526, 2527, 2528, 2529, 2530, 2531, 2532, 2533, 2534, 2535, 2536, 2537, 2538, 2539, 2540, 2541, 2542, 2543, 2544, 2545, 2546, 2547, 2548, 2549, 2550, 2551, 2552, 2553, 2554, 2555, 2556, 2557, 2558, 2559, 2560, 2561, 2562, 2563, 2564, 2565, 2566, 2567, 2568, 2569, 2570, 2571, 2572, 2573, 2574, 2575, 2576, 2577, 2578, 2579, 2580, 2581, 2582, 2583, 2584, 2585, 2586, 2587, 2588, 2589, 2590, 2591, 2592, 2593, 2594, 2595, 2596, 2597, 2598, 2599, 2600, 2601, 2602, 2603, 2604, 2605, 2606, 2607, 2608, 2609, 2610, 2611, 2612, 2613, 2614, 2615, 2616, 2617, 2618, 2619, 2620, 2621, 2622, 2623, 2624, 2625, 2626, 2627, 2628, 2629, 2630, 2631, 2632, 2633, 2634, 2635, 2636, 2637, 2638, 2639, 2640, 2641, 2642, 2643, 2644, 2645, 2646, 2647, 2648, 2649, 2650, 2651, 2652, 2653, 2654, 2655, 2656, 2657, 2658, 26

... (199) ...

(1-79), दृष्टुषी-मन्त्र 13-14
1 दृष्टुषी (5-47) ।

(S-47) 1

1942 (1-32)

1950

[illegible]

—मध्यम-मध्यम (1-117) कर्मिन्-मानिक (माटे की चक्कीवाला)
(2-8), मध्यम-मध्यम (6-3), मध्यम-मध्यम (6-13), मध्यम-मध्यम
(7-33), मध्यम-मध्यम (7-33) । इन सभी शेष शब्दों में 'मध्य' का प्रयोग एक
मध्यम-मध्यम मध्यम-मध्यम के रूप में देखा जा सकता है ।
मध्यम-मध्यम के उदाहरण इस प्रकार हैं—मध्यम-मध्यम (5-1) ।

उपानिषद् में 'म' और मन के प्रमाण के उदाहरण इस प्रकार हैं—म-आयामो-
(2-86), तमो-शोक (5-1) ।

उपाना ने 'म' और 'म' के प्रमाण के उदाहरण इस प्रकार हैं—
 व-म (1-64), मगुममो-मोटीरन (2-86), तमो-शोक (5-1)।
 मम— धामा-माना (1-5), गुग्गी-रुष्टा (2-90), पालीहम्म-वृत्ति (मेड़)
 (6-45), मरनी मातुनानी (6-112)।

अतन्व्य व्यञ्जन —

ऋक् प्रातिगाद्य के अनुसार स्पर्श तथा ऊष्म वर्गों के बीच में स्थित वर्ग अन्तःस्थ वर्ग है ।¹ य, र, ल, व-इन चार वर्गों को अन्तःस्थ बताया गया । इन्हें अर्द्धस्वर भी कहा जाता है क्योंकि इन उच्चारण का आरम्भ स्वरस्थिति से होता है और अन्त में वे आगामी स्वर और व्यञ्जन की स्थिति में चले जाते हैं । य का सम्प्रसारण 'इ', व का उ र का ऋ तथा ल का लृ इनकी स्वरार्धता को और भी स्पष्ट कर देता है । म न आ में इन अर्द्धस्वरो में केवल 'य' और 'व' का प्रयोग मिलता है । उनमें भी 'य' प्रायः श्रुति ध्वनि के रूप में ही व्यवहृत हुआ है । म भा. आ में ऋ और नृ का प्रयोग लगभग गणपति ही हो गया । अतः र और ल अर्द्धस्वर न रहकर पूर्ण व्यञ्जन ध्वनियों के रूप में व्यवहृत होने लगे । देशीनाममाला के शब्दों में व्यवहृत इन अन्तःस्थ ध्वनियों का विस्तृत विवेचन इस प्रकार है—

१—

ऊपर यह कहा जा चुका है कि 'य' अर्द्धस्वर है म भा आ में इसका प्रयोग स्वतंत्र व्यंजन के रूप में न होकर श्रुति के रूप में हुआ है। इसके साथ ही कुछ अपवादों (जैसे अर्ध मागधी आदि) को छोड़कर शब्दों के प्रारम्भ में इसका प्रयोग भी नहीं हुआ है। म भा आ का प्रारम्भवर्ती य 'ज' हो गया है। यह 'ज' व्यंजन ध्वनि के विवेचन में स्पष्ट किया जा चुका है। दे, ना मा के शब्दों में भी 'य' की स्थिति पूर्णस्पर्श म भा आ का अनुगमन करती है। इन शब्दों में 'य' का प्रयोग मध्यवर्ती और उपान्वय स्थितियों में प्रायः श्रुति के रूप में हुआ है। कुछ उदाहरण स्पष्ट हैं —

मध्यमर्तो-य- शनि-

नग्नपद्मो-विवाहगर्क (2-४६), जीवयमर्द्ध-मृगाकर्पणहेतुव्यविवृती
(3-46).

तस्यापनुद्दिष्टा अ नुगीयञ्म (5-9), पायड-अट्, त्तन्म् (6-40) ।

उपान्व-य-(श्रुति) —

मुच्य-भ्यन्तिम् (2-71), मुच्यन्त्य-साजट्कमणितम् (2-109)'

औष्ठ्य 'व' के स्थानीय 'व', इन तीन रूपों में हुआ है। यह पहले ही बताया जा चुका है कि म भा आ काल में पश्चिमी भाषाओं में 'वकार' बहुलता पायी जाती है। दे ना मा के शब्द इसी क्षेत्र की भाषाओं से सबद्ध लगते हैं। इन शब्दों में 'व' व्यञ्जनग्राम अपनी अर्धस्वरता से परे शुद्ध व्यञ्जन ध्वनिग्राम के रूप में व्यवहृत है जो प्रकृति की दृष्टि में दन्त्योष्ठ्य, नाद, घोष, अल्पप्राण, निरनुनासिक तथा अन्त स्य वर्ण है।¹ देशीनाममाला में 'व' से प्रारम्भ होने वाले शब्दों की संख्या 307 है। इसकी विभिन्न स्थितियों के उदाहरण इस प्रकार हैं —

आरम्भवर्ती स्थिति में व म भा आ के 'व' का ही अनुगमन करता है जन्मे प्रतिनिहित है प्रा भा आ 'प' 'व' तथा 'वृ' आदि।

— व — वनेत्रु-मूकर (7-42), वणवो-दवाग्नि (7-57) 'वणसवाई-कलकठी (7-52)।

प्रा मा आ — प7व वइरोडो-जार ऽपति-रोट् (7-42),

„ „ व7व वष्काउल ऽवाष्पाकुलम् (6-92), वफिअ-भुक्तम् ऽवप्सित।

„ „ वृ7व-वाडी वृत्ति ऽवृत्तिः (7-43), वट्टा-पन्था-ऽवृत् (7-31)।

„ „ व्र7व विलिअ लज्जा ऽल्रीडित।

„ „ व्य7व-वावडय विपरीतरतम् ऽव्यावृतक (7-58), वाविअ-विस्तारि-तम् ऽव्यापित (7-57)।

मध्यवर्ती स्थिति में व और व्व पूर्णतया म भा आ का ही अनुगमन करते हैं।

— व — अगवेओ-नदीपूर (1-29) अवरिवको-क्षणरहित. (1-20), ओवरो-निकर (1-157)।

— व्व — उव्वत्त-नीरागम् (1-29), कव्वाडो दक्षिणहस्त (2-10), कव्वाल-कर्मस्थानम् (2-52)।

मध्यवर्ती-व्व-में प्रतिनिहित है—

प्रा भा आ त् + व - उव्वाहिओ-उत्क्षिप्त ऽउत् + वह (1-106)।

प्रा भा आ द्व — उव्वुण ऽउद्विग्नम् (1-123)

„ — व्र-तिव्व-दुविषहम् ऽतीव्र (5-11)।

उपान्त में 'व' और 'व्व' के प्रयोग के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—

— व — कावी-नीलवर्णा (2-36), कूवो² हतानुगमनम् (2-62), खेवो-वामकरः (2-77)।

1 दे ना मा के शब्दों में अनुनासिक व (वँ) का बिल्कुल ही प्रयोग नहीं है। यह प्रयोग अपभ्रंश में अनादिसंयुक्त मकार के स्थान पर प्रायः पाया जाता है—जैसे—कैवलु ऽकमल।

2 उपान्त में व' के अधिकांश प्रयोग 'श्रुति' के रूप में देखे जा सकते हैं। ऊपर के उदाहरणों में 'कूवो', 'खेवो' आदि ऐसे ही प्रयोग हैं।

है। ऋकप्रातिशारय में 'र' की भाँति इसका भी उच्चारण स्थान दन्तमूल है। पणिनि इसे दन्त्य बताते हैं। आ भा आ. में इसका उच्चारण वत्स्य है। डा. धीरेन्द्र श्रीवास्तव म. भा. आ (अपभ्रंश) में इसका उच्चारण वत्स्य ही निश्चित करते हैं। उनका मन्तव्य है कि—“आ भा के आधार पर अपभ्रंश में र की तरह (ल का) उच्चारण स्थान वर्त्म है। उच्चारण प्रयत्न की दृष्टि से यह पार्श्विक वर्ण है और इसे तरल ध्वनि कहा जाता है। मुख विवर में घाती हुई श्वास वायु को मध्यरेखा पर अवरोध करके जिह्वापार्श्व से निकलने दिया जाता है।”¹ देशीनाममाला के शब्दों में प्रयुक्त 'ल' भी बहुत कुछ म भा आ की ही प्रकृति का है। इस कोश में 'ल' में प्रारम्भ होने वाले शब्दों की संख्या 66 है। इसकी विभिन्न स्थितियों के उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं—

प्रारम्भवर्ती स्थिति—

लमकं तरुक्षीरम् 7-18¹, लमुग्रं तैलम् (7-18), लयण-तनु (7-27) विशेष—देशीनाममाला के शब्दों में 'र' तथा 'ल' के विशुद्ध प्रयोग यह सिद्ध करते हैं कि इन शब्दों का प्रयोग म भा आ काल की पश्चिमी भाषाओं या बोलियों में होता रहा होगा। इस कोश में 'र' तथा 'ल' से प्रारम्भ होने वाला कोई एक भी शब्द ऐसा नहीं है जिसमें दोनों वर्ण क्रमशः एक दूसरे के स्थानीय होकर आये हों। पतञ्जलि के समय (150 ई. पू.) से ही यह प्रमिद्धि चली आ रही थी कि पूर्व के निवासी 'र' को 'ल' कर देने हैं तथा पश्चिम के निवासी 'ल' को 'र' करके (परिष्कृत रूप में) बोलते हैं। मध्यदेश में 'र' और 'ल' प्रयोग होता है। इस दृष्टि से देशीनाममाला के शब्द विशुद्ध 'र' और 'ल' ध्वनियों के प्रयोगों से युक्त हैं। इनमें न तो कहीं 'र' और 'ल' का स्थानीय है न ही 'ल' 'र' का स्थानीय है।

सव्यवर्ती —ल— अलय-विद्रुम (1-16), उत्रलय-सुरतम् (1-117), ओलइणी-प्रिया (1-169)।

—ल्ल— अल्ललो-मयूर. (1-48), ओल्लणी माजिता (कड़ी), (1-154), वक्कल्लय-पुरस्कृतम् (7-46)।

मध्यवर्ती 'ल्ल' में प्रतिनिहित है —

प्रा भा. आ —ल्ल— उल्लु हिग्र-सवृणितम् ८ उत्-लुट् (1-109),

उल्लेहडो-लम्पट् ८ उत्-लिह (1-104)।

” ” —ल्ल— उल्लूडो-आरुड् ८ उत्-रुह् (1-100)।

पदेनों को प्राकृतों में अपवाद रूप से 'श' भी सुगन्धित 'रहा-जैसे मागधी प्राकृत में । देशीनाममाना में भी दो ही ऊष्म ध्वनिया 'स' और ह मिलती हैं ।¹ क्रम से इनका विभूत विवरण नीचे दिया जा रहा है ।

स—

यत् कन्ध, रजस, अघोष, महाप्राण, निरनुनासिक ऊष्म वर्ण है । देशी-नाममाना में इनमें प्रारम्भ होने वाले शब्दों की संख्या 298 है । प्रारम्भवर्तीस्थिति में यह न भा ग ते 'म' का ही अनुगमन है जिसमें प्रतिनिहित हैं—'श' 'स' 'स्व' आदि ।

न— तुत्तो-गोपाल (8-33), सूई-मज्जरी (8-41), सूरणी-कन्द (8-41)
भा. भा. या म७म नूनन्यारी नण्डी लपुलवारिणी (8-42), सेलो-मृगशिणु-
लजत्य (8-57), नाराडी-आदि (एक चिडिया) लपराटि ल
(8-24) ।

भा. भा. या न७म—गोत्ती-नदी लनोतम् ।

„ „ न्व७म—माउल्लो अनुराग लस्वादु ।

„ „ थ७म मेट्टी-नामेग लश्रेष्ठिन् ।

व्यवर्ती स्थिति में 'म' और 'स्' पूर्णरूपेण म भा. का अनुगमन करते हैं—

—म— अज्झमिअ—हट्ठम् (1-30), ओसण—उद्देग (1-155),

कामिअ सूक्ष्मवत्थम् (2-59) ।

—स्— कस्सय-प्राभूत (मेट) (2-12), गिस्सको-निभेरः (4-32), एिस्सरिअ-
अस्तम् (4-40)

उपान्त में 'स' और 'स्म' के प्रयोग के उदाहरण इस प्रकार हैं—

—म— अंबुसू-जरभ (1-11) अ वेसी गृहद्वारफलहकः (1-8), गोहसो-चन्दनम्
(1-168) ।

—स्म— अज्झस्सं—आकृष्टम् (1-13), कस्सो—पड्क (2-2) ।

ह—

यह कण्ठ्य, नाद, घोष, महाप्राण, निरनुनासिक, ऊष्म वर्ण है । उच्चारण में स्वास का सघर्षण होने के कारण इसे सघर्षी ध्वनि भी कहा जाता है । प्राति-
षाख्यों में इसे कण्ठ्य या उरस्य बताया गया है । सम्भवतः उस समय इसका उच्चा-
रण स्वरयन्त्रमुख (काकल) में होता रहा होगा । संस्कृत में यह कण्ठ्य हो गया है ।

1. म और प के स्थान पर सर्वत्र 'म' ही का व्यवहार हुआ है ।

म भा आ ने भी इसकी सम्भूत की ही स्थिति रही। वह ध्वनि दो प्रकार की बनानी पड़ी है (1) प्रत्येक वर्गीकरण महाप्राण व्यंजन (द्वितीय तथा चतुर्थ) के ध्वनि में सुनायी पड़ने वाली अन्तिम प्राणध्वनि या ऊष्म ध्वनि (2) शुद्ध मधर्मी ध्वनि। यही कारण है कि म भा आ में उच्चारण सीक्य को दृष्टि में रखते हुए वर्गी महाप्राण व्यंतनों ख घ ङ व और भ (इन्हीं के अनुकरण पर फ भी) को 'ह' कर दिया गया। देवीनाममाला के शब्दों में निहित 'ह' ध्वनि म भा आ की 'ह' ध्वनि का पूर्णतया अनुगमन करती है। इस कोश में—ह—में प्रारम्भ होने वाले शब्दों की संख्या कुल 90 है। इस की विविध स्थितियां नीचे दी जा रही हैं।

प्रारम्भवर्ती स्थिति में 'ह' म भा आ का ही अनुगमन है जिसमें प्रतिनिहित है—

तुल्यमहाप्राणध्वनि—ह— ये सभी शब्द 'देय्य' प्रकृति के हैं— म भा आ के लक्षण शब्दों की भांति इस प्रारम्भवर्ती देय्य ह में, प्रा भा आ भ, घ, फ, स, स्क प्रादि प्रतिनिहित नहीं है। कुछ उदाहरण यहां दिये जा रहे हैं—

प्रत्ययो बहुनाथी (8-61), हरी-शुक (8-59), हलहल-तुमुन. (8-74),
नाताहलो मानिय (आटा इच्छा करने वाला) (8-75)।

मध्यवर्ती तथा अन्त्य स्थिति में—ह— पूर्ण रूपेण म भा आ के ह 'का' अनुगमन करता है— जिसमें प्रतिनिहित है—

—ह— प्र नीहरी-वृती (1-35), अरिहड-नूनम् (1-22),
अहिन्नो-उज्जरः (1-10), उहरी-शिष्टु (4-8)।

प्रा भा आ —य— दुम्मुषो मज्जं दुम्मुष (5-44), धूमसिहानीहार धूमशिव्वा
(5-61), मुहल-मुगम् (6-134)

, घ— अगह-प्रतपम् (1-13), अह-अधम (1-6), अहगरीही-ऊह.
लपनगोह (3-44), जहल-तव अयोधम्-जवनाशुक (3-45)

, —व— जहावाप्रो जड-प्रयाजात (3-41) पाहेज्ज-पायेयम् (6-24)

, घ— अणुवहृषा-नववध (1-48), दहिड-पू-नवनीतम्-दविपुष्पम्
(5-35) दहिप्रागो-दधिन (5-36)।

म भा आ —क— मधुप्रो-तृण मुक्त (2-75)।

, —म— गहिड म-नामिदाम (4-24), गहिडिच्छेप्रो-जवा-नामिच्छेदक
(4-24), गहिड-निर्वापारम्-निन्त (4-50)।

, —न— नामग-नामनातम् (2-90)

म — निगरी-निर्दय-नूनन (4-37)।

म भा. आ प पच्छूहो-रवि. ८ पत्त्यूप (6-5) ।

“ गु —मविणायहर-समुद्र. ८ मणिनागगृह (6-128) ।

उपान्त मे गृह प्राग्ध्वनि -ह-के कुल उदाहरण ये हैं—

उत्तूहो-मतट. कूप. (1-94), गणायमहो-विवाहगणक. (2-86),

गमगीहो-ज्ञानप्रधान. (2-89), चीही-मुस्तोद्भवतृण (3-14)

निष्कर्ष—

देशीनाममाला के शब्दों में प्रयुक्त व्यंजन ध्वनि ग्रामो की प्रकृति का विस्तृत विवेचन ऊपर दिया गया । इसे दृष्टि में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि ध्वनियों के प्रयोग की दृष्टि में म भा. आ. काल की देश्य शब्दावली पूर्णरूपेण इस काल की प्राकृत और अपभ्रंश कही जाने वाली भाषाओं से कही भी अलग हटकर नहीं है । इन देश्य शब्दों में प्रयुक्त कुल नवीन सगुक्त ध्वनियाँ ण्ह, म्ह, ल्ह, आदि अवश्य आ भा आ में व्यवहृत होने वाली, न्ह, म्ह, ल्ह, ढ आदि ध्वनियों के विकास की कड़ी के रूप में देखी जा सकती हैं । आ भा आ की 'ड' ध्वनि के विकास की पूर्वावस्था भी इन देश्य शब्दों में व्यवहृत 'ड' ध्वनिग्राम के प्रयोग के रूप में देखी जा सकती है । डा. चीनेन्द्र श्रीवामन ने भाडी गाडी आदि देश्यशब्दों में—'ड' की पूर्वस्थिति माना है उनका मन्वय है कि इन शब्दों को निम्ना भले ही संस्कृत के प्रभाव के कारण (ड) जाना रहा हो पर इनका उच्चारण निश्चित ही 'ड' की तरह होता रहा होगा ।¹ देशी शब्दों पर विचार के माय विचार करते समय यह बताया जा चुका है कि 'देश्य' शब्द परस्पर प्रचलित ग्रामीण अशिक्षित लोगों की बोलियों के शब्द हैं । इन ग्रामीण बोलियों में जिन ध्वनियों का व्यवहार होता रहा उन्हीं का साहित्यिक भाषाओं में भी व्यवहार हुआ । भाषाओं में समय-समय पर होने वाले ध्वनि परिवर्तनों में 'देश्य' शब्द भी प्रभावित होते रहे । अतः ध्वनियों के प्रयोग की दृष्टि से साहित्यिक भाषाओं के शब्दों और 'देश्य' शब्दों के बीच कोई विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती । केवल अर्थ ही इनका विभेदक हो सकता है । निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि ध्वनिग्रामिक प्रयोगों की दृष्टि से देशीनाममाला की शब्दावली पूर्णरूपेण म भा आ का ही अनुगमन करती है यदि और भी स्पष्ट कहा जाय तो इस दृष्टि से देश्य शब्द प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषा के ही अंग हैं ।

व्यंजन परिवर्तन —

देशीनाममाला की शब्दावली (विशेषतया तद्भव) में व्यंजन-परिवर्तन की

निम्नलिखित दिनाएँ परिलक्षित की जा सकती हैं। इन व्यंजन-परिवर्तनों के ठीक विपरीत देव्य शब्दावली की स्थिति है। इन शब्दों में म भा आ. के अनुरूप व्यंजनों को परिवर्तित न कर या उनका लोप न कर, ज्यों का त्यों लिखा गया है— जैसे— नोङ्गी, तोतडी, तुरी, पलही, पारी, वोदर, वोलो, महरो, मरालो, मरो, रूवी, रोटे, रींटी इत्यादि अनेकों देश्य शब्द हैं, जो व्यंजन-विकार, लोप, आगम आदि क्रियाओं में परे अपने प्राचीन रूप में सुरक्षित हैं। म. भा आ. की व्यंजन परिवर्तन प्रणाली केवल तद्भव और कुछ तद्भववत् देश्य शब्दों पर ही प्रभाव डालती है। परन्तु शब्दार्थ हेमचन्द्र की दृष्टि में ये सभी शब्द भी 'देश्य' ही हैं (ग्रंथ की दृष्टि से) अतः यहाँ भी ऐसे शब्दों को 'देश्य' मानकर म भा आ. के अनुरूप इनमें व्यंजनपरिवर्तन की दिशाओं को लक्षित किया जा रहा है।

1 लोप—

(1) शब्दव्यञ्जनलोप—चिरणामोऽस्विरन्नास्ते (त्रिविक्रम), चिरसीसोऽस्विरशीर्षः देगेऽन्वविर, घोरोऽन्वूल ।

(2) मध्यव्यञ्जनलोप—अर्द्धजुवर्तेऽचिरयुवती, ओआअओऽअपा-तप, रहलववऽरतिवध्यन्, रहर्द्धग्राऽरहर्द्धिका ।

व्यञ्जन लोप की विविध दिशाओं के उदाहरण पीछे दिये जा चुके हैं।

2 आगम—

(1) शाब्दव्यञ्जनागम—आदि व्यञ्जनागम की प्रवृत्ति देशीनाममाला के किसी भी शब्द में नहीं है। एज् शब्द में अ के स्थान पर 'ह' का आगम है—अच्छिहहल्लोऽन्निहल्लो ।

(2) मध्यव्यञ्जनागम—मध्यव्यञ्जनागम की प्रवृत्ति भी नहीं है।

(3) अन्त्यव्यञ्जनागम—म भा आ. की प्रवृत्ति के अनुरूप ही देशीनाममाला के शब्दों में भी प्रायः अन्त्यव्यञ्जन के लोप की प्रवृत्ति है। सभी शब्द स्वरान्त ही हैं।

3. विपर्यय—

उत्तिप्राऽरणिग्रा, तुहिप्सोऽतूष्णीकः

4. अन्तीकरण—

देशीनाममाला के शब्दों में पुनोगामी और पश्चगामी दोनों ही प्रकार के सर्भी-शब्दों की संख्या है जैसे—आसनऽआसनम्, अगमयधोऽअग्रन्वधः, अगहृणऽअग्रहृणम्, अरणिग्राऽअरणिग्रम्, अम्भुरोऽअम्भुग, गह्वरोऽगादम्प आदि।

3 धोषीकरण—

अघोष महाप्राणवर्ण प्रायः 'ह' में बदल गये हैं । इनके सघोषमहाप्राण वर्णों में परिवर्तित होने के उदाहरण लगभग नहीं हैं । सघोष महाप्राण वर्णों घ, झ, ट, ध, भ की मूलस्थिति ही सर्वत्र देखी जा सकती है । म. भा आ में इन सभी को 'ह' में परिवर्तित कर देने की प्रवृत्ति रही है । देशीनाममाला के तद्भव शब्दों में इनकी परिवर्तित स्थिति है, पर देश्य शब्दों में ये वर्ण आदि मध्य, और अन्त्य तीनों स्थितियों में अपने मूल रूप में विद्यमान हैं । इनका विस्तृत विवरण व्यंजनो की प्रवृत्ति का विवेचन करते समय दिया जा चुका है ।

(क) अघोष अल्पप्राण क, च, ट, त, प, को सघोष अल्पप्राण ग, ज, ड, द, ब में परिवर्तित कर देने के उदाहरण नहीं हैं ।

(ख) अघोष महाप्राण ख, छ, ठ, व, फ, को सघोष महाप्राण थ, झ, ढ, घ, भ, में धोषीकृत करने के उदाहरण भी नहीं हैं । इनमें ख, थ, फ को 'ह' में परिवर्तित करने के उदाहरण मिल जाते हैं—जैसे—

ख- दुम्मुहोऽदुमुंख, धूमसिहाऽधूमशिखा, मुहलऽमुखम् ।

घ- जहाजाओऽयथाजातः, पाहेज्जंऽपाथेयम् ।

फ- खलुहोऽगुल्फ ।

6. महाप्राणीकरण —

जैसे-बहःऽत्सर, थोओऽस्तेप या स्तोप ।

व्यंजन-सयोग —

देशीनाममाला की शब्दावली में निम्नलिखित व्यंजन सयोग प्राप्त होते हैं—

प्रबलसंयुक्तव्यंजन—

क्क, कख, गग, गघ, च्च च्छ, ज्ज, ज्झ, ट्ट, ठ्ठ, ड्ड, ड्ढ, ल, ल्थ, द्द, द्ढ, प्प, प्फ, ब्ब, व्व ।

जैसे—

एकैककमं, कर्कखडो, अगगवेओ, अगघाडो उच्चारो, उच्छट्टो, उज्जडं, उज्जभं मर्ण, कट्टारी, गिद्धूहो, कुड्डगिलोई, अड्डअकली, अत्त, अत्थयारिआ, षड् अद्दणो, अद्वविआर, अप्पगुत्ता, अप्पुण्ण, अब्बुद्धसिरी, अब्भक्खर्ण,

श्रीक्षर सयुक्त व्यजन—

ण, ण्ह, म्म, म्न, म्ह, ल्ल, ल्ह, व्व, स्म ।

जैसे—अण्णाण, उण्हिआ, अम्मा, वभणी (वम्मणी), उम्हाविअ, अल्ल, कौल्हाहर्ल, उन्दत्त, णिम्मन्तो ।

निअसयुक्त व्यजन—त्त, न्द, न्व । परन्तु इन्हें सर्वत्र अनुस्वार रूप में ही लिखा गया है । जैसे—

अनीहरी, दुरदर अ वयू । न्व सयोग मिलता तो है, पर ण्ठ रूप में परिवर्तित होकर ।

सयुक्ताक्षर—

सयुक्ताक्षरों ध, ध्र, तथा म्ह, ल्ह आदि का विवेचन पीछे व्यजनों के विवेचन के बीच विस्तार में किया जा चुका है । इस दृष्टि से किया गया देशी-नाममाना ली पद्धावली का अध्ययन कोई महत्वपूर्ण परिणाम समक्ष नहीं लाता । व्यंजनों के विकार की लगभग सभी दिशाएँ म. भा. आ. जैसी ही हैं ।

अध्ययन

1. पदग्राम—भाषा की लघुतम अर्थवान् इकाई को पदग्राम कहते हैं। एक पदग्राम के एक या अनेक सहपदग्राम होते हैं। ये सहपदग्राम परिपूरक वितरण में होते हैं।¹

पदग्रामिक अध्ययन की दृष्टि में देशीनाममाला की शब्दावली अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इन प्रकार के अध्ययन में ही इस कोश के शब्दों का सर्वथ किसी युग विशेष की भाषा में जोड़ा जा सकता है। “देशीनाममाला” केवल नामपदों का संग्रह नव्य है। इसी नामपदों का जातीय विवेचन ही यहाँ अभीष्ट है। निरुक्तकार गान्ध ने पद समूह के चार विभाग किये हैं— 1. नाम, 2. आख्यात, 3. उपसर्ग, 4. निपात। सन्वप्रधान अर्थात् द्रव्यप्रधान पद नाम हैं। भावप्रधान अर्थात् क्रिया प्रधान पद आख्यात कहलाते हैं। अयंछोनक पद उपसर्ग हैं तथा सपाती और पदपूरक पद निपात कहलाते हैं।

देशीनाममाला की शब्दावली का सम्बन्ध प्रथम वर्ग की शब्दावली से है। इनके अन्तर्गत, सज्ञा, विशेषण और क्रियाविशेषण पदों का समाहार किया जाता है। आख्यात अर्थात् क्रियापदों का प्रयोग देशीनाममाला की शब्दावली में नहीं के बराबर है जो है भी, कृदन्ती प्रयोगों के आधार पर विशेषण या क्रिया विशेषण रूप में है। उपसर्ग सज्ञाप्रो के व्युत्पादक अभिन्न अग बनकर आये हैं। मुक्त रूप में अर्थवान् न होते हुए भी ये पद-वद्ध होकर अर्थवान् हो जाते हैं। अतः इनका विवेचन व्युत्पादक प्रत्ययों के रूप में किया जाना चाहिए। निपातों की स्थिति देशीनाममाला की शब्दावली में नहीं है अतः इनका विवेचन यहाँ किये जाने वाले अध्ययन का विषय नहीं होगा।

शब्दों का स्वरूप

भाषा में किसी भी प्रातिपदिक या धातु का स्वतंत्र प्रयोग संभव नहीं होता। संस्कृत में तो यह नियम ही था—“नापदशस्त्रे प्रयुञ्जीत”। निर्विभक्तिक-पद भाषा का अग ही नहीं बन सकता। पाणिनि ने तो सुवन्त या तिङन्त होना, पद का लक्षण ही बताया है।² जहाँ विभक्तियों का कोई लक्षण उपस्थित नहीं होता वहाँ भी विभक्तियों का लोपप्रदर्शित कर, पद को विभक्त्यन्त बनाकर प्रयोग करने की प्रवृत्ति है।³

1. कवीर की भाषा—डा मातावदल जायमवाल, पृ. 51 पर दी गयी पाद टिप्पणी।

2. सुप्तिङन्त पदम्। पाणिनि 1।4।14

3. लव्यपादपिसुप। पाणिनि 2।4।82

इन विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी भी भाषा में व्यवहृत होने वाले पदों में प्रत्यय प्रशिया अनिवार्य है। देशीनाममाला की शब्दावली में भी प्रत्यय प्रशिया इसके पदात्मकगठन का महत्त्वपूर्ण अंग है। इसमें संकलित सभी शब्द प्रथमान्त, एकवचन हैं। इनके लिए निर्णय में भी प्रत्यय ही सहायक हैं।

वायंद्वापार की दृष्टि से प्रत्यय प्रमुखतः दो प्रकार के होते हैं :—

(1) व्युत्पादक प्रत्यय

(2) विभक्ति प्रत्यय

(1) व्युत्पादक प्रत्यय—

वे प्रत्यय हैं जो किसी धातु अथवा प्रातिपदिक के पूर्व या पश्चात् सम्बद्ध होकर, दूसरी धातु अथवा प्रातिपदिक का निर्माण करते हैं।

(2) विभक्ति प्रत्यय—

वे प्रत्यय हैं जो किसी धातु या प्रातिपदिक के अन्त में जुड़कर व्याकरणिक रूप को प्रकट करते हैं। विभक्ति प्रत्यय के बाद फिर कोई प्रत्यय नहीं जुड़ता, अन्यथा इन प्रत्ययों को चरम प्रत्यय कहा जा सकता है। व्युत्पादक प्रत्ययों के आगे, विभक्ति प्रत्यय तो आ सकते हैं, किन्तु विभक्ति प्रत्यय के बाद व्युत्पादक प्रत्यय नहीं आ सकते हैं।¹

इन्हीं दो विभागों के अनुसार देशीनाममाला के पदनामिक-गठन का विवेचन नीचे किया जा रहा है। सर्वप्रथम विभक्ति प्रत्ययों का विवरण दे देना उपयुक्त होगा।

(क) विभक्ति प्रत्यय—

देशीनाममाला के सभी शब्द प्रथमा एकवचन के हैं। इनमें, सज्ञा, विशेषण और श्रिया विशेषण शब्द ही हैं। इनमें लगने वाले विभक्ति प्रत्यय इस प्रकार हैं—

श्री—

यह पुल्लिङ्ग, सज्ञा, विशेषण और श्रिया विशेषण पदों में लगने वाला प्रथमा ए व का प्रत्यय है।। मस्कृत में अकारान्त शब्दों के प्रथमा एक वचन के शिगों में 'श्री' जर देने की प्रवृत्ति रही है। प्राकृत में सभी अकारान्त शब्दों के प्रथमा ए व के रूप को प्रोक्षगन्त जर दिया गया। देशीनाममाला के सभी श्रीका-

पञ्चमन्त्रां, अन्त्य, ओ ह (हश् प्रत्याहार) के परे होने पर 'ओ' में नविनियम से परिणत हो जाता है। उसी ओकारान्त रूप को प्राकृत ने स्वीकृत कर लिया (अन्ति-प्रा प्र अन्, ओन् नो (511)। अपभ्रंश ने लघूच्चरित कर इसे 'उ' में रूपा दिया पर कुछ रूप प्राकृतवत् चलते रहे हैं।¹

नागार्णव्य में यह कहा जा सकता है कि देशीनाममाला के ओकारान्त शब्द अन्तर्गम ही 'उगारान्त' की अवस्था की पूर्वावस्था का द्योतन करने वाले हैं। इसकी विचार शृङ्खला इस तरह दी जा सकती है—

अन० अ० ओ० उ०।

प्रा—

देशीनाममाला के आकारान्त पद प्रायः स्त्रीलिङ्ग है। यह संस्कृत के स्त्रीलिङ्ग प्राची टाप् प्रत्यय के अनुकरण पर ही हुआ है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

मन्त्रपद—

अगिला प्रयोगाना, अन्तर्गमिप्रा-नापिच्छलता अड्यणा असती, अणुमृग्रा-धानन्ताप्रनरा, अन्ता-प्रम्रा, अह्वा-गमनी, आमवा-डच्छा, इरिया-कुटी, उष्फु-निता-रवती, कलिप्रा-गती, नापिच्छा-कोकिला इत्यादि।

कुछ 'आकारान्त' देश्यपदों में 'प्रा' विभक्ति प्रत्यय का अग न होकर ऐसा लगता है, मृगप्रातिपदिक का ही अग बनकर आया है। ऐसे आकारान्त पद-अर्थ की दृष्टि में भी स्त्रीलिङ्ग प्राची नहीं हैं। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

अड्यणा-मोनम् (ननु वि), अणुमृग्रा कोष, अमाग-वदली, आडाटा-चराणा ओता-मिशाप्दम्, अमिप्रा-अण्प्रचारी पदम्, कालिप्रा क्षीरम्, कोडला-काण्डिना वनमडा-वनत्वार ? वेडा-अमृ।

इस प्रकार के प्रयोगों में मुख्य विभक्ति 'देसी' प्रयोग कहा जा सकता है। ऐसे ही पदों में प्रवृत्ति-प्रत्यय का निर्धारण नहीं किया जा सकता। प्रवृत्ति प्रत्यय की दृष्टि में अनिश्चय के शब्द अर्थगत विज्ञान की विषयवस्तु हैं। अकेली संस्कृत भाषा का महाराज तत्त्व उन शब्दों की व्युत्पत्ति दे पाना एक असम्भव सा कार्य है। ऐसे शब्दों में ही अनेक भाषाओं की सम्पत्ति है। यह युगों में भाषा में प्रयुक्त

होये आने के कारण इनका अर्थ मात्र ज्ञात होता है । ऐसे शब्दों को अज्ञातव्युत्पत्तिक शब्दों की ओटि में रखा जा सकता है ।

प्राकृत भाषा में संस्कृत के अकारान्त शब्द की प्रथमा विभक्ति के व. व में विसर्गयुक्त आकारान्त से, विसर्ग का लोप कर केवल 'आ' के प्रयोग की प्रवृत्ति भी रही है—जैसे वच्चा/वत्सा । देशीनाममाला के कुछ आकारान्त शब्दों में यह प्रवृत्ति देखी जा सकती है—

उवलभत्ता-वलयानि, खड्डुआ-मीक्तकानि, गुन्दा, गुपा-विन्दव, चाउला-तण्डुला ।

उपर्युक्त तीन विशेषताओं के अन्तर्गत देशीनाममाला के समस्त आकारान्त पद समाहित किये जा सकते हैं । विशुद्ध देश्य प्रकृति के शब्दों में इसे शून्यविभक्तिक प्रयोग भी कहा जा सकता है ।

ई—

आकारान्त पदों की भाँति ईकारान्त पद भी तद्भव और देश्य दो प्रकार के हैं । ऐसे शब्द कही तो विभक्त्यन्त हैं और कही निर्विकृत । विभक्त्यन्त पदों में 'ई' स्त्रीलिंगवाची विभक्ति प्रत्यय है । ऐसे शब्दों में यह संस्कृत के स्त्रीलिंगवाची 'डीप' प्रत्यय का ही विकास है । तद्भव शब्दों से अलग 'ई' प्रत्यय लघुतावाचक भी है । दोनों के उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

स्त्रीलिंगवाची 'ई' —

खोट्टी-दासी, गड्डरी-छागी, गत्ताडी-गायिका, गदीणी-चक्षु स्थगन-क्रीडा, मल्लाणी-मामी, महावल्ली, नलिनी, माणसी-मायाविनी, मामी-मातु-लानी, मायदी-श्वेतावरामन्यासिनी मेठी-पीलवान की स्त्री इत्यादि ।

लघुतावाचक 'ई'—

यह प्रा 'डी' और 'री' व्युत्पादक परप्रत्ययों के साथ मिलकर प्रयुक्त है । इसका विस्तृत विवरण व्युत्पादक प्रत्ययों के प्रसंग में दिया जायेगा । खडकी-खिडकी, गोजी-मजरी आदि इसके उदाहरण हैं ।

शून्यविभक्तिक 'इ' प्रत्यय—

जैसे—अणुसुत्ती-अनुकूल, ई दग्गी-तुहिनम्, उत्तुरिद्धी-दृष्ट, उद्धच्छवी, उररी-पशु., खुल्लिरी सकेत. घुग्घुरी.,-मण्डूक., छछुई-कपिकच्छू इत्यादि ।

यह नपुं.लि. का द्योतक विभक्ति प्रत्यय है। देशीनाममाला के सजा और विशेषण पदों में यह दो रूपों में व्यवहृत है। एक तो संस्कृत (फलम् आदि) के अनुकरण पर विभक्ति प्रत्यय (प्र ए व) के रूप में और दूसरे स्वार्थिक 'अ' (संस्कृत 'क') और वृद्धनी 'त' (अ) प्रत्यय के स्थानी रूप में। स्वार्थिक 'अ' के स्थानी रूप में यह प्रायः विशेषण पदों में व्यवहृत हुआ है। क्रमशः दोनों के उदाहरण इस प्रकार हैं—

अवक्त्र-आक्रान्तम्, अण्णमय-पुनरुक्तम्, अवगूढ-अलीकम्, इदग्निधूम-
तुहिनम् गुल-चुम्बनम्, गोड-काननम्, भूमुर-ताम्बूलम् इत्यादि।

स्वार्थिक 'क' और वृद्धनी 'त' का स्थानी अ—

उनुमिष-रुद्रगलरोदन (उनुमुम्भिनम्), ओअग्निअ-घ्रात (अव-आघ्रात),
वडतन्नि दारितम् ('त'), भलुमिष-दग्ध ('त') गिहुअ-निर्व्यापार (निमृत)
इत्यादि।

दनिअ-निर्कृतिताक्ष (दलिक), वरुअ-इक्षुसदृश तृणम् (क), वेप्पुअ-शिशुत्व
(क), हनिअ-शीघ्र (लघु)। स्वार्थिक 'क' प्रत्यय के स्थानी 'अ' और तज्जन्य
'अ' प्रत्यय मयुक्त रूप, 'त' के स्थानी रूपों की तुलना में, अत्यल्प हैं।

देनी-अ—

अन्यानिक देनी शब्दों में यह विभक्ति प्रत्यय न होकर पूरे प्रातिपदिक का
तो अग वाक्य ग्रन्थ है। ऐसे शब्द संस्कृत में अव्युत्पन्न हैं। इस कोटि के कुछ
प्रयोग द्रष्टव्य हैं—

मादिअ-गृहम्, मलिअ-लघुक्षेत्रम्, रहुअ-रज्जु इत्यादि। परन्तु आचार्य
रेमचन्द्र ने इन सभी शब्दों को निम्नस्थान ही मानकर नकलित किया है। उदाहरण
की मायाओं में उनका प्रयोग विभक्त्यन्त नपुं नि० शब्दों के रूप में ही किया
गया है।

(न) निम्नस्थानिक अन्य प्रयोग—

उकारान्त— गाहु-उन्लूक, टिम्बहु-एकफल विशेष, वीमु-जोडे मे से एक, हण-
प्रधुरा ।

ऊकारान्त— अ घधू-कूप, अयुसू-शरभ, आऊ-सलिल, उच्छुच्छ-हृष्ट, उच्छ-वात,
उडूतृणपरिवारणम्, कलवू-तुम्बीपात्रम्, काहेणू-गुजा, केऊ-कन्दः,
कोणू-लेखा (पविन), सेप्रालू-नि सह, चित्तदाऊ, मधुपटलम्,

डाऊ-फलहमक 'वृक्ष, शिम्मसू-तरुण.. थरू-तलवार की मूठ, दधू-
शोक, पलनू-सेवा, पाऊ-भवतम्, पिचू-पक्वकारीरम् भल्लू-शृङ्ख, मऊ-
पर्वतः, मुगगू-नकुन, वऊ-लावण्य, वगेवडू-शूकर, वसू-ढेर, वहू-
गुग्गुलु-द्रव्य, वेलू-चौर ।

एकारान्त-पु उ-अलगाव ।

उद्युंवा विभक्त्यन्त प्रत्ययो को दृष्टि मे रखते हुए देशीनाममाला की शब्दा-
वली को स्पष्ट ही दो भागों मे बांटा जा सकता है—(1) संस्कृत के अनुकरण पर
विकसित प्राकृतों की विशेषताओं से युक्त शब्दावली, (2) देश्यशब्दावली जिसे अज्ञात-
व्युत्पत्तिक कहा जा सकता है ।

(2) व्युत्पादक प्रत्यय :

व्युत्पादक प्रत्ययों का किसी भाषा की शाब्दिक या पदगत रचना मे बहुत
बड़ा हाथ रहता है । व्युत्पादक प्रत्ययों को दो वर्गों मे विभाजित किया जा सकता
है—(क) व्युत्पादक पूर्व प्रत्यय-जिन्हे उपसर्ग कहा जाता है (ख) व्युत्पादक पर-
प्रत्यय-ये सज्ञा एवं क्रियापदों मे लगकर उनका एक अलग अर्थवान रूप निर्मित
करते हैं । देशीनाममाला की शब्दावली मे दोनों प्रकार के प्रत्ययों का व्यवहार हुआ
है । इनका विस्तृत विवेचन इस प्रकार है ।

(क) व्युत्पादक पूर्व प्रत्यय या उपसर्ग—

भाषिक संरचना मे उपसर्गों का बहुत बड़ा स्थान है । पदात्मक गठन के
सदृश मे इनकी महत्ता बहुत प्राचीन काल से ही स्वीकार की जाती रही है । उपसर्ग
सज्ञा या क्रिया पदों मे लगकर उनका अर्थ बदल देते हैं । मुक्तावस्था मे उपसर्ग अर्थवान्
होते हैं या नहीं, इस बात पर पर्याप्त विवाद रहा है । शाकटायन की सम्मति मे उप-
सर्ग बिना सम्बन्ध के अर्थ का कथन नहीं करते, नाम और आख्यात से संयुक्त होकर
अर्थद्योतक बनते हैं । गार्ग्य का विचार है कि उपसर्गों के विविध अर्थ होते हैं—

—“न निर्वद्धा उपसर्गा अर्यान्निराहरितिकाश्टायन । नामाख्यातयोगे कर्मोपसर्गोऽन्यथाभवन्ति । उच्चावचा पदार्था भवन्ति इति गार्ग्य ।”¹

पाणिनि ने क्रियायोग में ही उपसर्ग सज्ञा स्वीकार की और यह माना कि उसके योग में बनात वाक्य अन्य प्रतीत होने लगता है ।² संस्कृत में प्र, अप, स, निर्, दुर् आदि प्रमुख 22 उपसर्ग माने गये । इनकी अपनी अर्थवान् मत्ता तो है ही, सज्ञा या धातु में जुड़कर ये उनका अर्थ भी बदल देते हैं । म भा आ में प्रा भा आ के उपसर्गों का ध्वनिपरिवर्तन के साथ प्रयोग किया गया । शब्दों के आदि में जुड़ने के कारण उन्हें पूर्वसर्ग (prefix) भी कहा गया है । गदग्रामिक अध्ययन की दृष्टि से ये आचट्ट पदग्राम हैं जो कि युक्तपदग्राम में जुड़कर उसमें अर्थ परिवर्तन कर देते हैं । आधुनिक भाषा वैज्ञानिक इन्हें पूर्व आचट्टपदग्रामों अर्थात् पूर्वप्रत्ययों की सज्ञा से अभिहित करते हैं । देशीनाममाला की शब्दावली में भी इन पूर्वप्रत्ययों या उपसर्गों के प्रयोग देने जा सकते हैं । यहाँ प्रयुक्त उपसर्ग पूर्णतया म भा आ के उपसर्गों का अनुसरण करते हैं ।

प०म प्र- पड्डु०ण०प्रतिष्ठान, पउत्थ०प्रोपित (गृह), प०मो०प्रातिवेशिक, प०हृ०प्रतिहस्त आदि ।

प्र०, अप- अवगा०अपाङ्ग, अवहाओ०अपभोग, अवस्तओ०अपरस्त ।

प्र०, प्र- अवग्रगिओ०अवगणित, अवग्रणे०अवहन् ।

प्र०, प्र- अवत्तय०अवृत् ।

प्रो०, प्र- ओहन्विप्र०अव-आघात, ओट्टु०अवदग्ध, ओहत्तो०अपहत, ओसित्त०अवनिस्तम् ।

प्रो०प्र०प्र- ओशाप्रओ०अपातप. (अवाप्रओ),
आमरिओ०अप-न्तु

प्रो०उत्- ओमीन०उत् शीर्ष ।

प्र०, प्र- प्र०मु०ओ०अनु-तु, प्र०मु०ओ०अनु-तु ।

नि०, नि- निग्र०निग्रन्त, निग्र०नि०नि०नि० (दम्भ),
निग्र०निग्रन्त, निग्र०नि०नि०नि० ।

1. प०म—प०म—113

2. प०म—प०म—प०म—114159 उपसर्ग धातुया वलादयसगीयो-प्रहाराहा-महार ।

णि॒निर, निस्-णि॒रगी॒निर्अ॒गी, णि॒ग्गिण्ण॒निर्ग॑तम् ।

णि॒स्सको॒नि ण॒क. (निर्भ॑र.) णि॒ट्ठुहि॒अ॒नि॒ण्ठ्यू॒त,
णि॒ट्ठू॒हो॒नि॒स्तव्वः॑ ।

णि॒प्फरि॒तो॒नि॒र्-स्पर्श॑ ।

डु॒डुर्- दु॒म्भो॒दुमु॑त्त. (वन्द॑र), दु॒म्भइ॒णि॒दुमं॑ति,

दू॒डुर्- दू॒मलो, दू॒हलो॒दुमं॑ग, दू॒हट्ठो॒दुहं॑दय ।

वि॒वि- वि॒क्केणु॑ग॒वि॒क्री, वि॒त्तभ॒वि॒क्कभ॑,
वि॒च्चड्ढो॒वि॒च्छई॑, वि॒लुत्तहि॒अ॒व॒लुत्तहृ॑दय ।

अ॒अ- अ॒गो॒अ॒काय॑ (रा॒क्षस॑), अ॒इर॒जुवई॑अ॒चिर॒युव॑ती, अ॒गह॒णो॒अ॒ग्रह॑ण, अ॒चल॒अ॒चल॑ (गृ॒ह)

आ॒आ आ॒ओ॒ओवि॒अ॒आ॒टोपि॑त (ओ॒धित॑), आ॒रेइ॒अ॒आ॒रेचि॑त (मु॒कुलित॑)
आ॒रोहो॒आ॒रोह॑ (स्तन॑)

अ॒हि॒अ॒भि॒अ॒हित्स॑ण॒अ॒भीद॑ण्य, अ॒हि॒हा॒ण॒अ॒भिवा॑नम् । के॒वल॒दो॒ही॒उदा॒ह॒रण॑ हैं ।

अ॒हि॒अ॒धि॒के॒उदा॒ह॒रण॑ एक भी नहीं है ।

अ॒इ॒अ॒ति- अ॒इ॒णि॒अ॒ति॒नीत॑ ।

सु॒सु- सु॒दा॒णो॒सु॒दा॒णो (चा॒ण्डाल॑), सु॒दु॒म्भ॒णि॒आ॒,
सु॒लन॑मजरी आदि में भी 'सु' का प्रयोग लक्षित किया जा सकता है । पर ये शब्द अज्ञात व्युत्पत्तिक हैं ।

उ॒उत्, उद्- उ॒ग्गो॒उ॒द्घा॑त (समू॒ह), उ॒ग्घट्ठ॒उ॒द्घु॑ष्ट (सा॒हस॑), उ॒च्छि॑त्त
उ॒त्ति॑प्त (वि॒क्षि॑प्त), उ॒त्थ॒घो॒उत्-स्थ॑ग्, उ॒द्दि॑सिअ॒उत्-दि॑श ।

ऊ॒उत्- ऊ॒स॒वि॒अ॒उ॒त-अ॒प् (उ॒द्भ्रा॑न्त)

ऊ॒सु॒भि॒अ॒उ॒द्-सु॒म्भ॑ ।

ऊ॒उ॒प- ऊ॒हट्ठ॒उ॒प-ह॑स ।

प॒डि॒प्रति॑ प॒डि॒वि॒क॒अ॒प्रति॑क्रिया, प॒डि॒ख॒घ॒प्रति॑स्क॒ध, प॒डि॒च्छ॒न्दो॒प्रति॑च्छ॒न्द
(मु॒खम्), प॒डि॒णि॒अ॒स॒ण॒प्रति॑नि॒वस॑न (रा॒त्रि का वस्त्र॑) ।

दे॒सो प॒डि- प॒डि॒च्छ॒अ॒स॒मय॑ प॒डि॒त्थि॒रो-स॒दृश॑ ।

प॒डि॒स॒त-प्रति॑कूलं, प॒डि॒सा॒रो-प॒टु॒ता आ॒दि॑ ।

परि॒परि॑ परि॒ह॒ण॒परि॑धानं, परि॒हा॒रइ॒त्ति॒आ॒परि॑हा॒र्या स्त्री॑ ।

परि॒ह॒च्छ॒परि॑हस्त (प॒टु) आ॒दि॑ ।

उ॒व॒उ॒प- उ॒व॒क॒य॒उ॒प॒कृत॑, उ॒व॒दी॒व॒उ॒प॒दी॒प॒,

उवमगो/उपमृ, उवउज्जो/उपकृतः ।

अण्/अन् न-प्रा भा आ मे व्यजन के पूर्व न को 'अ' हो जाता था और स्वर ने पूर्व अन् । म भा आ मे यही अन् -अण् के रूप में प्रयुक्त होता देखा जा सकता है । दे ना मा की शब्दावली में भी यह पूर्ववर्ग प्रयुक्त है । कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

अणह/अनघ, अणडो/अनृत । अत्र्युत्पाद्यं देश्य शब्दों में भी इसकी स्थिति अत्यन्त स्पष्ट है—

अणच्छिप्रार-अच्छिन्न, अणरामग्रो-अरति, अणरिक्को-अणरहित, अणहृषण्य-अनष्ट, अणहारग्रो-ऊँचा नीचा-असमतल आदि ।

(च) व्युत्पादक पर प्रत्यय

जाद्विक संरचना में व्युत्पादक परप्रत्ययों का बहुत बड़ा हाथ होता है । प्रा भा आ में उद्धृत तद्धित और कृदन्त दो विभागों के अन्तर्गत वर्गीकृत किया गया है । किसी कृदन्त नामपद से, जिसके अन्तर्गत सज्ञा, सर्वनाम और विशेषण हैं अन्य नामपद का निर्माण करने वाले प्रत्यय तद्धित कहलाते हैं और किसी, वातु में संयुक्त होकर नामपद का निर्माण करने वाले प्रत्यय कृदन्त कहलाते हैं । देशीनाममाला की देख्य जाद्विक संरचना में इन दोनों प्रकार के प्रत्ययों का महत्वपूर्ण स्थान है । इसमें धातुगत कुछ प्रत्यय तो संस्कृत के हैं, कुछ आर्येतर द्राविड आदि भाषाओं के और कुछ विपुलरूप में 'देशी' हैं । तद्धित और कृदन्त इन दो विभागों के अन्तर्गत इस कोश के पन्नों में व्यवहृत प्रत्ययों का विवरण नीचे दिया जा रहा है ।

तद्धितान्त शब्द—

प्राप्ताद्वित प्रयोगों को पाँच वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

(1) स्थायित्व प्रत्यय

दे ना मा के शब्दों में स्थायित्व में कई प्रकार के प्रत्ययों का व्यवहार हुआ है । इन स्थायित्व प्रत्ययों को देखते हुए उनके भिन्न-भिन्न प्रदेशों की भाषा से सम्बन्धित होने का मिथ्यात्व भी स्पष्ट हो जाता है ।

उदा०—

दे ना मा के शब्दों में यह प्रत्यय पर्याप्त मात्रा में व्यवहृत है । यह अल्पार्थ का शब्द भी दर्शाता करता है । उदमहकामुग्रो/उदमहकामुग्र, उत्तमगवरद्विग्रा/

उत्तरणवरडिका (नाव), करिआ L कारिका, कासिअ L कशिक, कोलिओ L कौलिक जोइओ L ज्योतिष्कः, दलिअ L दलिक, पडिच्छिआ L प्रति-इच्छिका, बीअओ L बीजकः, भट्टिओ L भर्तृक इत्यादि ।

अड् या ड्—

आ भा. आ. मे ट् स्वार्थवत् प्रयोग—यह विशुद्ध देशी प्रत्यय है । हेमचन्द्र 8।4।429 तथा तर्कवागीश 3।2।6 मे इस प्रत्यय का विवरण देते हैं । अपभ्रंश भाषा का यह अपना प्रत्यय माना गया है । अपभ्रंश मे यह देश्य शब्दों के प्रयोगबाहुल्य के कारण ही आया होगा । लगभग सभी प्राकृत व्याकरणकारों ने इस प्रत्यय की स्थिति स्वीकार की है । रामतर्कवागीश ने स्वार्थिक-ड-प्रत्यय को कोन्तली¹ तथा -डी-प्रत्यय को पाचानिका² की विशेषता बताया है । उत्तरी राजस्थान मे आज भी -डी-प्रत्ययान्त शब्दों का बाहुल्य है । हिन्दी मे लकड़ी, पगड़ी, भाड़ी, मराठी मे पारडू, करडू, शेरडू तथा गुजराती मे भनडू, दियडू आदि प्रयोग इसी स्वार्थिक प्रत्यय से संबद्ध हैं ।

पुल्लिङ्ग मे प्रयुक्त होने पर यह प्रत्यय 'डा' (अतो स्त्रिया डा) तथा स्त्रीलिङ्ग मे प्रयुक्त ही -डी- के रूप मे आता है । परन्तु दे ना मा के शब्दों मे इन प्रत्ययों का प्रयोग इस नियम से मुक्त है ।

ड-डा —

अडाडो-बलात्कारः, करडा-लट्टू, करडो-धाम्न, घट्टिअघडा-गोष्ठी, भाड-लतागहन (हिन्दी-भाड़ी), डड-चीथडा, तडमडो क्षुभित, तडवडा एकवृक्ष, तल्लड-पलग, तिरिडो-तिमिरवृक्ष, परडा एक साप, पुरोहड, वेडो-नाव (बडा)

डी—

आराडी-विलपितम्, करयडी-स्थूलवस्त्र, करोडी-कीटिका, खडहडी-तरु-मर्कट गत्ताडी-गायिका, गोडी-मजरी, घम्मोडी-मध्याह्नसमय, भडी-निरन्तरवृष्टि, डडी-चीथड़ा, तरणवरडी-एकनाव, ततडी-दही की कढ़ी, तोतडी-कढ़ी, घाडी-फेंका हुआ, पखुडी-पत्ती, मउडी-जूट, मडी पिधानिका, रोडी इच्छा, तुरुडी-फोडा ।

कही-कही अड् + डी साथ-साथ भी आये हैं—जैसे—

छुरमड्डी-नापितः तिरिड्डी-उणवात, पड्डी-प्रथम-प्रसूता ।

1 डकारमुम्नी विल कोन्तली स्यात् 3।3।39

2 ई डी बहुलात् पाञ्चालिका-3।3।39

री—

कच्छुगी-कैवाच, कट्टारी-शुक्रिका, करमरी-बलात् लायी गयी स्त्री, गड्ढरी-छागी, त्रिल्लिगी-मशक आदि ।

ट्ट — यह भी 'देमी' प्रत्यय है ।

भोट्टी-अश्वमहिषी, तरवट्टो-एक वृक्ष, थट्टी-पशु, दुग्धुट्टो-हस्ती, परिहट्टी-आव वेंग, पोड्ट उदरम, गोट्ट-आटा ।

ड्ड—

गाउड्डो-मद्भाव, थउड्ड-भेलावा का वृक्ष, वेड्डा-मूछ-दाढी, मड्डा-बलात्कार, वड्डो-महान् हड्डा-जुआ, हिड्डो-वामन

अल्ल-डल्ल-उल्ल-उल्ली—

इसकी तुलना प्रा. भा आ के उल (चटुल-मृदुल) से की जा सकती है । पर प्रा भा आ में भी यह देश-भाषाओं में ही लिया गया होगा । पाणिनि के उणादि प्रत्ययों में अनेक देव्य प्रकृति के हैं । अतः यह विगुट्ट 'देमी' प्रत्यय है । रामतर्कवागीश ने वेदों में अल्ल प्रत्यय का प्रयोग बाहुल्य बताया है—

'वेदभिकामन्नघना वदन्ति' 3।3।8

मात्सेय इमे-उल्ल वाने हैं । वे ना मा की शब्दरचना में उन प्रत्ययों का बाहुल्य देना जाता है ।

अन- उम्मन्न तृष्णा, उम्मन्नो-नृप, ओल्ली-दीर्घमधुरध्वनि, कल्ला-मद्यम् चिल्ला-जकुनिपत्नी, दरवन्नो ग्राम स्वामी, मूप्रन्नो मूक, लडग्रल्लो-वृषभ

इल्ल- तगिल्ल-रमानम्, ग्रगिल्लो-नवीन, एक्कनाहिल्लो-एकस्थानवाची, एक्क पगिल्लो-देवर, ओरिल्लो-अल्पमय, कडलवन्नो-स्रच्छदचारी वृषभ, नन्दल्लो-मयूर ।

उल्ल- वल्लिगल्लो-द्वेष, उल्लुल्लो अनुवाद, उल्लुल्लो-पुत्रा, कडल्ल-स्योक्तम् पाउल्लो पत्र

उल्ली-पुल्ली-गिला, पकुल्लिअ-नक्षेपितम्

अल्ल-

अल्लिअयो पूनादिमन्न, अल्लिअको क्षणरहितः, उल्लुअ-छदन, लल्लिअको-कोविश, अल्लिअको-नयुद्धार आदि ।

कत्तृत्ववाचक प्रत्यय—

अण— ओडण-उत्तरीयम्, ओहरण-विनिपातनम्, कुहणो-रासक कूसण-खट्टा,
कुनफणो-कुल कलक ।

हार-हारी-हर-हरी—

बउहारी, वोहारी-भाड़, वोहहरो-मागध.

अंतहरी-दामी ।

आण्— अण्णो तृप्ति. ।

उज्ज— अण्वनिज्ज-अण्वननम् ।

उज्ज— चुज्ज-आण्वनम् ।

प्प— दात्तप्प-पुच्छ, विडप्पो-राहु, भोडप्पो-चना, टिप्पी-तिलक ।

नम्बत्पार्थक्य प्रत्यय—

चारी-आरु-आर-पेपण्णारी-हूनी

आल—

आलुआली-मिश्रीभावः, आवाल-जननिकटम्, कटुआलो-लघुमत्स्यः

ई-इक-कमणी-नमणी (मीठी) कुतली एक प्याला ।

खडकी-खटविकका-खिडकी, गारणी-गणिका-गायिका ।

गामणी ग्रामणी-ग्रामाधिपति ।

ण्णी-देनी प्रत्यय—

गामेणी नाम :- एणी-छाणी

वनी-गती-दुम्बवती-नदी, कुक्खिमई-कुक्खिमती-गर्भिणी ।

न्त्री प्रत्यय—

आ— अडयणा, अडया-असती, कायपिउच्छा-कोकिला, कलिआ-सखी, कीला-
नववधू, कुकुला-नववधू, नागेज्जा-नवपरिणीता, चिरचिरा-जलधारा ।

अ-आ— गड्ड-जैया ।

ई— कल्होडी-वछिया, कुट्टयरी-चण्डी, खडई-असती, गारणी-गायिका, गोवी
वाला, भीरा-नज्जा, एदा-गाय ।

णी— गदीणी-चक्षु, स्यगनकीडा, एदिणी-गाय, णीसणी-सीढी, दुद्धिणी-
दुधहँडी, पच्चुच्छुहणी नवसुरा । रुचणी-आटे की चक्की ।

एणी-गामेणी-छाणी (हिन्दी में दहँडी) ।

इआ-इका— उत्तरणवरडिआ-नौका, गणणाइआ-चण्डी, घुणघुणिआ-कर्णोप-

अग्निका, गीनग्निका-नीदी, दुर्दिधग्निका-दुधहँडी, पडिच्छिका-प्रतिहारी ।

इणी- दुम्मइणी-बलहंजीला म्नी, दु दुमिणी-रूपवती पुआइणी-पिशाचगृहीता,
पुड्डणी-ननिनी ।

प्राया- फेलाया-मातुलानी मयणमलामा-सारिका ।

ग्राई- वणमवाई-कोकिला जाई-मुरा ।

ग्रई- वणई-वृक्षपक्ति, जीवयमई-मृगाकर्षण हेतु व्याधिमृगी

(5) कृदन्तीप्रयोग—

देशीनाममाला की शब्दावली में भूत कृदन्त तथा भाववाची कृदन्त के प्रयोग ही देखने में आते हैं । उनके उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं

भूतकृदन्त—

अ प्रा भा आ -वन-

अश्वनिअ-प्रनिफनित, अज्भवसिअ-दाढ़ी मूछ से सफाचट, अ छिअं-
अ'ट्टाट,-ओगिविअ-गनिव्याघात अमिरिअ-घातम् कडततिअं-दारित
ज्यादि ।

उगनग मनी विजेषणपदो मे जो ग्रान्यातज हैं । इस प्रत्यय का व्यवहार देखा जा
सकता है ।

नलवन-

ग्रोगिन लप्रयमिक जगउत्तो लजनायुत्त-ग्राम प्रधानपुरष । दिअधुनी-
काट, दिअदन्त-दोपहर का भोजन ।

भाववाचक अण प्रा भा आ अन्—

उज्जानग उदभानम् (जूपादि मे पछोग्ना), उज्भनण, अज्भमणवपलायनम्
उउनेयणी मुट्-लेपन-चूना, दु डिअपेगण-ब्राह्मण का भेजा जाना छिक्कोअणो-
पगतम्, निअदण-विवाह ।

“अर्थगत अध्ययन”

ध्वनि और पद यदि किसी शब्द के बाह्य अंग हैं तो अर्थ उसकी आत्मा है। जिस प्रकार जीवात्मा के बिना शरीर का कोई मूल्य नहीं उसी प्रकार अर्थ के बिना शब्द की कोई महत्ता नहीं है। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने ‘सिद्धे’ शब्दार्थ¹ सवध² सूत्र में यही ध्वनित किया है। शब्द और अर्थ दोनों का शाश्वत सम्बन्ध है। यह कहना तो उपयुक्त नहीं कि किसी शब्द विशेष का एक ही अर्थ नित्य है उसका अर्थ परिवर्तित हो सकता है, पर शब्द नदैव सार्थक ही होना है। किसी शब्द से उसके किसी अर्थ-विशेष की नित्यता और अनित्यता के विवाद से परे, सामान्य रूप से यह स्वीकार किया जाता रहा है कि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध शाश्वत है अर्थात् शब्द सदैव अर्थवान् होता है। वाक् और अर्थ के इसी शाश्वत सम्बन्ध की चर्चा कालिदास ने अपने महाकाव्य रघुवंशम् के प्रारम्भिक श्लोक में की है—

“वागर्थविध संपृक्तो वागर्थप्रतिपत्तये” आदि। अब एक प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है—आग्निर शब्द में अर्थ के सम्बन्ध का नियामक कौन है? महाभाष्यकार पतञ्जलि इस सम्बन्ध का नियामक लोक को मानते हैं। लोक में शब्दों का व्यवहार ही किसी शब्द में उसके अर्थ का नियामक होता है। अतः लोकव्यवहार की ध्यान में रखकर ही किसी शब्द के अर्थ की परीक्षा की जानी चाहिए। यही व्यवस्था निरुक्तकार यास्क ने ‘अर्थनित्य परीक्षेत’ कह कर दी। ‘शब्द और अर्थ का सम्बन्ध गुणत्वाकर्षण नियम के अनुसार प्राकृतिक नहीं है। यदि ऐसा होता तो किसी शब्द के उच्चारण करते ही अनायास सर्वदा एक अर्थ की ही प्रतीति हो जाती। शब्दार्थ सम्बन्ध देशकालावच्छिन्न न होकर भी, किसी व्यक्ति विशेष की इच्छा पर निर्भर न होकर, समाज पर आधारित है। ध्वनियों का अर्थों से कोई प्राकृतिक सम्बन्ध नहीं, फिर भी ध्वन्यानुकरणात्मक, भावाभिव्यजक शब्दों में ध्वनि का प्रभाव आ ही जाता है और किसी भी भाषा में ऐसे शब्दों की नगण्य मात्रा नहीं होती। उनकी अर्थ बोधन प्रक्रिया पर विचार करना ही चाहिए। शब्द वस्तुतः अर्थों के सकेत है। जब सकेतों में सकेतित अर्थों की बोधनक्षमता कथंचित घट जाती है या नहीं रहती तो सकेत परिवर्तित कर दिये जाते हैं या सकेत का नये अर्थ से सम्बन्ध स्थापित कर दिया जाता है। यही वागर्थप्रतिपत्ति है—शब्द से अर्थ का प्रतिपादन है।”²

डा. वीरेन्द्र श्रीवास्तव का यह कथन उपर्युक्त कथन का ही समर्थन करता है। शब्दों से अर्थ का सम्बन्ध-ज्ञान पूर्णतः लोक व्यवहार पर आधारित है। लोक-

1. महाभाष्य प्रथम आह्निक।

2. अपभ्रंश भाषा का अध्ययन—डा. वीरेन्द्र श्रीवास्तव, पृ. 243

व्यवहार की धारा में रखते हुए शब्दायं सम्बन्ध का निर्धारण और उसके अर्थ विकास का विचार ही अर्थ-विज्ञान का विषय है। इन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर देशीनाम-माला की शब्दावली का अर्थगत अध्ययन यहाँ अभ्यास है। इस कोश में सकलित शब्दावली का अर्थ तो पूर्णतया लोकव्यवहार ज्ञान पर आधारित है। दे. ना. मा. की शब्दावली का सम्बन्ध अनादि प्रवृत्त प्राकृत भाषा (लोक भाषा) में है। इसमें नचित शब्द युग युगों में लोकभाषाओं में प्रचलित रहे हैं। ग्रन्थों में प्रयुक्त न होने के कारण उनके अध्ययन में स्थिर पद्धति पर नहीं किया जा सकता। इनकी महत्ता केवल अर्थगत अध्ययन की दृष्टि में है। यह अर्थनिर्धारण भी पूर्णतया शब्दों के लोकव्यवहार पर आधारित है। देखने में इस कोश के अनेकों शब्दों सम्बन्ध और प्राकृत (साहित्यिक) में लगते हैं, पर इनका अर्थ संस्कृत और प्राकृत के अर्थविकास से नहीं जुड़ पाता। इनके अर्थ का नियामक तो लोक ही है। लोक में प्रचलित इनके प्रयोगों की आधार पर इनके अर्थ का निर्धारण किया जा सकता है। यही कारण है कि आचार्य हेमचन्द्र इन शब्दों को किसी एक युग विशेष की भाषिक सम्पत्ति न मानते हुए इनका सम्बन्ध अनादिप्रवृत्त लोकभाषा से बताते हैं—

..... "तस्मादनादि प्रवृत्तप्राकृतभाषाविशेष एवाय देशीशब्दो नोच्यत इति नातिव्याजि।"¹

उन अज्ञानव्युत्पत्तिक शब्दों का अध्ययन केवल अर्थ की ही दृष्टि में किया जा सकता है। चन्द्रात्मक और पदात्मक दृष्टि से दी गयी इनकी व्युत्पत्ति अत्यन्त आसानी पर तात्पर्यात्मक भी लगती है, अतः अर्थ-विज्ञान की विविध दिशाओं को आधार मानकर ही इनका अध्ययन किया जाना उपयुक्त होगा।

अज्ञात अतिपरोक्षशब्द की व्याख्या परोक्षवृत्ति का आश्रय लेकर प्रत्यक्षवृत्ति से करनी चाहिए। निरुक्त के टीकाकार दुर्गाचार्य इस प्रक्रिया का एक उदाहरण भी देते हैं, वे स्वयं 'निघण्टु' शब्द को अतिपरोक्षवृत्ति शब्द मान पहले परोक्षवृत्ति 'निगन्तव' शब्द ने उसे व्युत्पन्न करते हैं और फिर 'निगमयितार' जैसे प्रत्यक्ष क्रिया वाले शब्द से उसे व्युत्पन्न कर लेते हैं।¹

निरुक्त या व्युत्पत्तिशास्त्र भाषा विज्ञान का एक महत्वपूर्ण अंग है। किसी भी भाषा में व्यवहृत शब्द को समझने के लिए उसकी निरुक्ति आवश्यक है। दे ना मा. ११ पद्यावली भी निरुक्ति की अपेक्षा रखती है। परन्तु इस निरुक्ति के लिए पण्डित-प्रत्यय का निर्धारण किया ही जाये, यह आवश्यक नहीं। शाकटायन² या नैरुक्त सम्प्रदाय की भाँति सभी शब्दों का प्रकृति-प्रत्यय विवेचन अनिवार्य माने बिना भी मार्ग की भाँति गद्यमार्ग का अनुसरण किया जा सकता है। शाकटायन और यास्क ने सभी शब्दों की व्युत्पत्ति में प्रकृति-प्रत्यय निर्धारण आवश्यक माना था, परन्तु मार्ग-सम्मत हैं कि सभी शब्दों की व्युत्पत्ति दे पाना सम्भाव्य नहीं, अतः अज्ञात व्युत्पत्तिक शब्दों के अर्थ अवधारण मात्र से सतोष कर लेना उपयुक्त है, उनकी दृष्टि में निर्वचन सम्भाव्य शब्दों की ही व्युत्पत्ति अन्वेषणीय है। देशीनाममाला के शब्दों में भी यही सिद्धान्त लागू किया जाना चाहिए। इसमें मरुजित अनेकों शब्द ऐसे हैं, जिनकी शास्त्रसम्मत व्युत्पत्ति दी जा सकती है, पर यह व्युत्पत्ति ध्वन्यात्मक एवं रूपात्मक समानता तक ही सीमित होगी अर्थविज्ञान की दृष्टि में उपयुक्त नहीं होगी। एक उदाहरण लिया जाये—दे ना. मा 4 'अमयणिगमो' शब्द आया है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से यह शब्द संस्कृत का 'अमृतनिर्गम' शब्द है। इनमें ध्वनिगत विकार (वर्ण विकार) ध्वनिविज्ञान का विषय है, इसका रूपात्मक अर्थ रूप विज्ञान का विषय है, परन्तु अर्थविज्ञान की दृष्टि से दोनों में अन्तर आ जाता है। 'अमयणिगमो' का अर्थ चन्द्रमा है, परन्तु 'अमृतनिर्गम' शब्द पूरे संस्कृत साहित्य में कहीं भी चन्द्रमा के अर्थ में व्यवहृत नहीं है। ऐसी स्थिति में इसकी व्युत्पत्ति अधूरी रह जाती है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि शब्द और अर्थ का शाश्वत सम्बन्ध है। यदि शब्द है तो उसका कुछ अर्थ भी होगा और अर्थ का निर्धारक लोक होता है। अतः किसी भी शब्द की व्युत्पत्ति देते समय अर्थ को ध्यान में रखना आवश्यक हो जाता है। स्वयं निरुक्तकार

1 त्रिविध ही शब्दव्यवस्था-प्रत्यक्षवृत्तयः परोक्षवृत्तयः, अतिपरोक्षवृत्तयश्च। तत्रोक्तक्रिया-प्रत्यक्षवृत्तयः अन्तर्लीनक्रियाः। परोक्षवृत्तयः अतिपरोक्षवृत्तिषु शब्देषु निर्वचनाभ्यामायः। तस्मात्परोक्षवृत्तिमापाद्य प्रत्यक्षवृत्तिना शब्देन निर्वक्तव्या तद्यथा निघण्टव इत्यतिपरोक्षवृत्तिः निगन्तव इति परोक्षवृत्तिः, निगमयितार इति प्रत्यक्षवृत्तिः। —निरुक्त 1।1।5 पर वृत्ति।

2. निरुक्त-1।12

यान्व ने भी प्रत्येक शब्द की व्युत्पत्ति देने का प्रयास किया था, पर इस भोक में वे जिनने ही शब्दों की उद्घट्टाग व्युत्पत्तियाँ दे गये हैं। यही कारण है कि हेमचन्द्र समय होते हुए भी देश्यपदों की व्युत्पत्ति (प्रकृति-प्रत्यय निर्धारण) के चक्कर में नहीं पड़े। उन्होंने लोक को प्रमाण मानकर, अनादिप्रवृत्तप्राकृत भाषा (लोकभाषा) के शब्दों का अर्थनिर्धारण मान कर दिया है। इस कोश के अधिकांश शब्द ध्वन्यात्मक एवं स्वान्मक गठन की दृष्टि में म आ आ का अनुगमन करते हैं, परन्तु अर्थ की दृष्टि में वे विस्तृत भिन्न प्रतीत होते हैं—जैसे 'अम्बोच्ची'¹ को लीजिए—इसका अर्थ है 'फूल चुनने वाली'। इनकी व्युत्पत्ति 'आम्नाणि उच्चिनोति' इस रूप में संस्कृत से दी जा सकती है, फिर भी यह शब्द संस्कृत का नहीं है क्योंकि संस्कृत में न तो इसका प्रयोग ही दृष्टा है और न व्युत्पन्न कर लेने पर ही इसका अर्थ 'फूलचुननेवाली' होता है। उसका व्युत्पन्नित्व अर्थ होगा 'ग्राम का फूल चुनने वाली'। परन्तु इस अर्थ में, जोत में उसका व्यवहार नहीं होता—अतः ये 'देशी' शब्द हैं। हेमचन्द्र स्वयं भी कहते हैं यदि हमारा अर्थ 'ग्राम का फूल चुनने वाली' ही होगा तब यह देशी नहीं होगा—

'यदाग्रपुष्पाण्येवाच्चिनोति तदा न देशी ।'²

इस प्रकार 'देशी' शब्दों का प्राचीन परिपाटी में किया गया व्युत्पत्तिगत अध्ययन जिसे वाम का नहीं सिद्ध होता। इनका केवल अर्थ की दृष्टि से किया गया अध्ययन ही उपयोगी होगा। नारायण रूप में यह कहा जा सकता है कि 'देशी' शब्दों का अध्ययन पुरातन अर्थ-विज्ञान के क्षेत्र में पड़ता है। व्युत्पत्ति के अन्य अंग-वर्णागम, अगमिण, वर्णविपर्यय, वर्णविनाश और धातु का अतिशय योग इन शब्दों की प्रकृति के निर्धारक होते ही हैं, उनमें उन शब्दों के 'देशीपन' में कोई अन्तर नहीं आता। देशीनाममात्र में एक दो नहीं—अनेको ऐसे शब्द हैं, जिन्हें सुधी विद्वानों ने संस्कृत का या फिर संस्कृत में विद्युत तद्भव शब्दावली का अंग बतलाया है। ऐसे स्थलों पर उक्त संस्कृत-भाषा-ग्रन्थ ही उभर कर सामने आता है। ऐसे स्थलों पर व संस्कृत, यह भूल जाने कि संस्कृत स्वयं प्राकृतों (लोकभाषाओं) की करणी है। संस्कृत के स्थानों ही प्राकृत प्राकृता (लोकभाषाओं) की सम्पत्ति है। प्रत्येक शब्द को संस्कृत में समीक्षा करने की नीति में वे चान्दविषय तथ्यों की ओर में आख बन्द करती हैं। आचार्य हेमचन्द्र विद्वानी द्वारा की जाने वाली नीतिमान से अच्छी तरह ध्यान देने की आवश्यकता उन्होंने देशीनाममात्र के प्रारम्भ में ही यह स्पष्ट कर दिया

है कि देश्य शब्दों की निरुक्ति किसी प्रकार भी सम्भव नहीं है। पूरे कोश में सकलित शब्दावली को वे तीन वर्गों में बाँटते हैं—

(1) जो लक्षण से असिद्ध है—अर्थात् जो शब्दानुशासन के नियमों से व्युत्पन्न हैं, जिनमें वर्णगम आदि चतुर्विध निरुक्तियों का समावेश नहीं तथा जिनमें प्रकृति प्रत्यय विवेचन का कथचित् अवकाश नहीं और जो सर्वथा लोक में रूढ़ हैं वे देशी हैं। देशीनाममाला के अविकाश शब्द इसी कोटि के हैं जैसे—अवको-दूत, अगिला-अवजा, अडगणा-अगली, अण्ड-जार, परिमल्लो-व्याघ्र, आहु-उल्लू, कली-शत्रु, करडो-व्याघ्र, कोलो-ग्रीवा, ढेंका-पानी की चखी, ढेंकी-वान कूटने की चक्की, कोल्लुआ-कोल्लू, तहरी शराब, तु गी-रात्रि, थट्टी-पशु, थरी-कपडा बुनने का यंत्र, थूणो-अश्व, दारो-कटिसूत्र आदि।

(2) ऐसे शब्द जो सस्कृताभिधान ग्रन्थों में प्रसिद्ध नहीं हैं, अर्थात् प्रकृति प्रत्यय से सिद्ध होते हुए भी सस्कृत कोशों में सकलित नहीं हैं (इन्हें सस्कृताभ शब्द भी कहा जा सकता है)। जैसे अम्बोच्ची-फूल चुनने वाली, अमयणिगमो-चन्द्रमा, छिन्नोन्मवा छिन्नोद्भवा दूर्वा, अइराणी अधिराज्ञी-इन्द्राणी, वइरोअणो-वेरोचन वृद्धः आदि।

(3) गीणलक्षणा शक्ति से भी जो शब्द सिद्ध नहीं हैं—जैसे वहल्ल—वैल मूर्ख या गगा—गगातट जैसे शब्दों का सकलन नहीं किया गया।¹

देशी शब्दों का यह वैलक्षण्य आचार्य हेमचन्द्र ने स्वयं ही बता दिया है। जहाँ कहीं व्युत्पत्तिलभ्य शब्द का सकलन उन्होंने किया भी है, उसके देशी माने जाने का औचित्य भी प्रतिपादित कर दिया है। इतना सब होने पर भी डा. वूलर जैसे विद्वान् को दे ना मा के सभी शब्द सस्कृत से व्युत्पत्ति ग्राह्य लगे।² शब्दों के स्वरूप को देखकर उन्होंने एक भटके से कह तो दिया कि सभी शब्द सस्कृत से व्युत्पत्तिलभ्य हैं पर व्युत्पत्ति उन्होंने एक भी नहीं दी। उनकी ही परिपाटी का अनुसरण श्री रामानुजस्वामी ने किया। देशीनाममाला की भूमिका में तथा इसकी ग्लासरी (शब्दसूची) में उन्होंने कितने ही 'देशी' शब्दों की व्युत्पत्ति सुझायी है, पर व्युत्पत्ति देते समय वे शब्द के अर्थ पर ध्यान नहीं दे सके, अधिकतर उनका ध्यान ध्वन्यात्मक साम्य पर ही गया है। उनकी बहुत सारी व्युत्पत्तियाँ निरुक्तकार 'यास्क' की व्युत्पत्तियों की याद ताजा कर देने वाली हैं। यह ठीक है कि देशीनाममाला की

1. दे ना मा 1।3 कारिका और उसकी वृत्ति।

2. प्राइवलच्छीनाममाला की भूमिका—वूलर, पृ. 14

शब्द बताते हैं ? पुन कुछ और शब्द संस्कृत मूल तक पहुँचते हैं, यद्यपि वे प्राकृत वैयाकरणों द्वारा स्थापित किये गये ध्वनि नियमों से व्युत्पन्न नहीं किये जा सकते । इस तरह उदाहरण स्वरूप—कल्ला, चूओ, दुल्ल, हेरिवो शब्द क्रमशः संस्कृत के शब्दों कल्य, चूनुक, दुक्कल और हेरव से निकटतया सम्बन्धित हैं । इनके विपरीत कुछ शब्द जैसे गडोव, एदिणी, आदि थोड़े अर्थपरिवर्तन के साथ धनु और धेनुः का ही सकेत देते हैं और भदसणो, बूलधोणो, धूमहारं, मेहच्छीर परिहार, इतिवधा, मुहरोमराई और इन्ही से मिलते जुलते शब्द संस्कृत के शब्दों से व्युत्पन्न किये जा सकते हैं यद्यपि (संस्कृत के) ये शब्द इनके पर्यायवाची नहीं हैं तब भी ये क्रमशः चोर, सूकर, गवाक्ष उदक, ऋतुमती, भ्रू आदि का ही सकेत देते हैं । देशीनाममाला के अधिकांश शब्द इसी प्रकृति के हैं, परन्तु कुछ निश्चित सख्या ऐसे भी शब्दों की हैं, जो आर्येतर से हैं और जो इन शब्दों का संस्कृत के अतिरिक्त अन्य भाषाओं ने निश्चित सम्बन्ध प्रदर्शित करते हैं । इनमें से अनेकों शब्द द्राविड भाषा से अपना निकट या सम्बन्ध प्रदर्शित करते हैं । कुछ विशेष उल्लेखनीय शब्द यहाँ उद्धृत किये जा रहे हैं ।

ऊरो (द्र. ऊरु)—कम्बा, चिकका (क. चिकका)—छोटा, छाणी (त. चाणि या छाणि)—गोबर, छिन्न (ते. निल्लि) —सूराख, दारो (ते. दारमु) —सूत्र या कटिमूत्र, पसटि (ते. पसिण्डि) —स्वर्ण, पडुजुवई (ते. पाडुचु) —अघेड स्त्री, पोट्ट (ते. पोट्टु)—उदर, पुत्ती (द्र. पुनि)—व्याघ्र, भाओ (ते. बाव)—बहिन का पति, (त-मट्टै)—सौग रहित या गजा (हेमचन्द्र आलसी) मम्मी (त. मामी) —मातुलानी, वंग (ते. वट्ग) एक फल, वट्टो (ते. ग्रीड्डु) —बडा, सूला (क. सूले) —वेष्या । ये और इसी तरह के अन्य शब्दों की और शब्दकोश में सकेत कर दिया गया है । श्री के. अमृतराव ने (इण्डियन एटीम्वरी -पृ 33 पर) यह बताया है कि देशीनाममाला में कई शब्द अरबी और फारसी के हैं । सर जार्ज ग्रियर्सन ने (जर्नल आव रायल एशियाटिक सोसायटी—पृ 235 पर) एक अन्य अरबी के शब्द (खिलाल) का नग्न इस कोश में दिखाया है । इस प्रकार हेमचन्द्र का देशी, केवल संस्कृत के ही शब्दों को नहीं अपितु संस्कृतेतर भारतीय एवं विदेशी दोनों ही प्रकार की भाषाओं के शब्दों का समाहार करता है । यहाँ संस्कृताभ शब्दों से तात्पर्य है जो शब्द संस्कृत से तो व्युत्पन्न किये जा सकते हैं, पर जो प्राकृत व्याकरण में बताये गये नियमों के अनुकूल न हों, इनको देशी शब्दों की परिधि से निकाल देने का पर्याप्त कारण भी है क्योंकि प्राकृत व्याकरणकारों द्वारा बनाये गये नियम स्वयं लचर हैं । यदि हेमचन्द्र प्राकृत 'लट्ठी' और 'हेट्ठ' शब्दों को क्रमशः संस्कृत यष्टि और अघः से व्युत्पन्न कर सकते हैं तो हम नहीं समझ पाते कि वे सभी संस्कृताभ देशी शब्दों को जिनका

रकेत उत्पन्न किया गया है—मस्कृत से क्यों नहीं व्युत्पन्न कर सकते ।”¹

इस तरह श्री रामानुजस्वामी की सम्मति में, देशीनाममाला के अन्तर्गत संस्कृत ने मयंया अव्युत्पन्न देशी शब्दों की संख्या बहुत कम रह जाती है । जो शब्द वच्चे भी हैं उनका आचार विभिन्न नम्यों में भारत में प्रवेश करने वाली आर्यवाराओं द्वारा जोर में समाविष्ट परन्तु साहित्य में अगृहीत शब्द हैं या हेमचन्द्र के समय में प्रचलित कुछ पान्थी अरबी शब्द हैं । इसके साथ आभीर-गुर्जर आदि अनार्य नातियों को भी जोड़ सकते हैं जो अपभ्रंश के प्रचलन से ठीक पूर्व या आसपास भारत में आयी और उन्होंने न केवल जन-जीवन को ही प्रभावित किया बल्कि राजसत्ता हाथ में लेकर शासन भी किया और आर्यों में ही पूरी तरह घुलमिल गयी । पशुपालन और गोसंवर्द्धन में सम्बद्ध अनेक शब्द इनके नाशी हैं ।

देशीनाममाला की शब्दावली की, इस प्रकार की गयी आलोचना कोई विशेष महत्त्व नहीं रखती । रामानुजस्वामी की यह आलोचना पूर्णतया शब्दों के ध्वन्यात्मक नाम पर आधारित है दे ना मा. के शब्दों में, संस्कृत के कुछ शब्दों की ध्वनिगत समानता देखकर उन्हें संस्कृत में व्युत्पन्न कर लेना उपयुक्त नहीं । दे ना मा की शब्दावली का अध्ययन पूर्णतया अर्थ-विज्ञान का विषय है । प्रकृति प्रत्यय-निर्धारण माना गया है इस शब्दावली का अध्ययन समस्याओं पर समस्याएं खड़ा करता जायेगा । फिर तो 'देशी' शब्दों को तद्भव या तत्सम सिद्ध करने के लिए एक अलग नया नमूना ही निर्माण करना होगा । किसी शब्द में संस्कृत की धातुओं का सकेत पाकर, उसकी व्युत्पत्ति संस्कृत के शब्द में देकर शब्द को संस्कृताभव बना देना स्वस्थ दृष्टि-रहित नहीं रहा जा सकता । यह पहले ही बताया जा चुका है कि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध सम्बन्ध है, अर्थ या पद के अर्थों का नहीं । ऐसी स्थिति में दे. ना मा. की शब्दावली का अध्ययन अर्थ की दृष्टि से किया जाना चाहिए ध्वनिगतसाम्य के प्रचार पर नहीं । दे ना मा की शब्दावली का अर्थ की दृष्टि से अध्ययन करना सम्भव मत-वर्णन सिद्ध होगा । उन तथ्य पर ध्यान देने हुए डा. वीरेन्द्र श्रीवास्तव का मत-वर्णन उचित है—

मन्दर में चानू रहकर मयभग में श्रीर उनके साहित्य में समाविष्ट हो गये तो उन्हें 'देशी' ही समझाना चाहिए । स्वयं हेमचन्द्र ने अनेक शब्दों में संस्कृत व्युत्पत्ति की संभावना समझते हुए भी देशी होने का आधार अर्थ-परिवर्तन ही समझा है । उदाहरणार्थ 'अधधु' शब्द कूपवाची दिया गया है (1-18) । हेमचन्द्र लिखते हैं । -अन्धश्चासा-
 वन्धु-नेतिविग्रहे मन्दर भवो अधधु शब्दः केवल सोऽन्धरूपावाची । अयत्तु कूपमात्र-
 वाचीतीह निवृद्ध । गेत्वोणादिकमधधु शब्दमिच्छन्ति तैरपि संस्कृते प्रयोगादर्शनादय-
 नग्राह्य एव ।" कहने का तात्पर्य है कि यदि अन्ध अन्धु में कर्मधारय समास और
 परस्मै नग अनुस्वार का ध्वनिविकार मान कर अधधु शब्द को पूर्णतः तद्भव
 शब्द स्वीकार कर भी लिया जाय तो भी उसका अधा कुप्रा (जलरहित कूप) यह विशेष
 अर्थ ही होगा । मयभग में इनका अर्थ सामान्य कूप है, अतः इसे देशी मानना
 चाहिए । मयविन्दार का यह उदाहरण है । यदि वैयाकरण उणादिगण में अधधु
 शब्द को निन्दित करने हैं तो भी इस शब्द का संस्कृत भाषा में प्रचलन में नहीं,
 अनदेगी गन्द में ग्रहण करना चाहिए । इसी तरह मयभग में अइराहा-विद्युत,
 है । स्वयं हेमचन्द्र लिखते हैं — "अइराहा इति त्वचिराभाशब्दभव" अर्थात्
 अइराहा अचिराभा वर्णव्यत्यय द्वारा निष्पन्न तद्भव होता है । यह शब्द देशी इसलिए
 है कि संस्कृत-कोश में नहीं और न विद्युत अर्थ में संस्कृतभाषा में प्रयुक्त है । एक और
 उदाहरण अबोच्ची है । इस शब्द का अर्थ 'पुष्पलावी' (फूल चुनने वाली) है ।
 'आम्राणि उच्चिनोति' इस व्युत्पत्ति से यह संस्कृताभ शब्द या तद्भव शब्द बड़ी
 आसानी में बन सकता है, फिर भी संस्कृत शब्द नहीं, क्योंकि 'फूल चुनने वाली' अर्थ
 संस्कृत में नहीं है । हेमचन्द्र तो इनके मतर्क हैं कि वे कहते हैं, 'यदात्र पुष्पाण्येवोच्चि-
 नोति तदा न देशी' अर्थात् अबोच्ची का 'आम्रपुष्प ही चुननेवाली' यह अर्थ कर लिया
 जाय तो उसे देशी नहीं कहना चाहिए । हेमचन्द्र संस्कृताभ से व्याकुल नहीं होते ।
 संस्कृत भाषा में सामान्य फूल चुनने वाली, यह अर्थ-विस्तार नहीं था, अतः इस शब्द
 को देशी समझा गया । अनेक बार संस्कृत कोश में किसी शब्द को देखकर भ्रान्ति
 हो जाती है कि वह संस्कृत शब्द है । यद्यपि वह अन्य भाषा या प्राकृत से
 आया हुआ होता है । अमर के पर्यायवाची शब्दों में रोलव दिया हुआ है (दे ना
 7-2) । हेमचन्द्र टिप्पणी करते हैं—

“... रोलव शब्द केचित् संस्कृतेऽपि गतानुगतिकया प्रयुज्जते” अर्थात् गता-
 नुगतिक पद्धति पर रोलव शब्द संस्कृत में चला गया है अन्यथा देशी शब्द है । “.....
 “.....'अण्णाण' देशी शब्द का अर्थ दहेज है, पर मुखंतावाची 'अण्णाण' शब्द अज्ञान
 का तद्भव है (दे ना. मा. 117 पर वृत्ति), एक सी वर्णानुक्रमणी होने से दोनों एक

प्रतीत होते हैं ।¹

केवल ध्वनिसाम्य के आधार पर शब्दों की व्युत्पत्ति कभी-कभी बड़ी भ्रामक हो जाती है । दे. ना मा की ग्लानरी (शब्द-कोश) में श्री रामानुजन् ने ध्वनिसाम्य के आधार पर कुछ ऐसी व्युत्पत्तियाँ दी हैं जो अत्यन्त भ्रामक होने के साथ ही हान्यात्मक भी हो गयी हैं । वे उजड़ शब्द को संस्कृत उज्ज्वल शब्द से व्युत्पन्न करते हैं । हिन्दी का 'उजड़ा' पद 'उजड़' का ही विक्रमिit रूप है । इसका स. उज्ज्वल शब्द में कोई सम्बन्ध नहीं दिवायी पड़ता । इसी प्रकार 'अगश्रो' शब्द को, जिसका अर्थ दानव है, वे स. अमुर शब्द से व्युत्पन्न करते हैं, अच्छा था वे इसे 'अकाय.' शब्द से व्युत्पन्न करने हैं, दानव भी कभी-कभी अशरीरी होते हैं । इसी तरह अगहणो-सामानिक को वे स. 'अगघन' शब्द से व्युत्पन्न करते हैं । कापालिक को कौन ग्रहण करना चाहेगा । इसी प्रकार अनेकों काल्पनिक एवं ध्वनिसाम्य पर आधारित व्युत्पत्तियों की ग्लानरी में भरमार है । इस तरह की व्युत्पत्तियाँ निरुक्तकार यास्क के समय में ठीक लगनी थीं, उनका एक मिथ्यान्त भी था, वे सभी शब्दों को आख्यातज मानकर बने थे । परन्तु आज, जब कि भाषा-शास्त्र बहुत आगे बढ़ चुका है, पता नहीं जितनी प्राचीन साधनाएँ भ्रामक सिद्ध हो चुकी हैं, इस प्रकार की व्युत्पत्ति मुझता कहा तक उपयुक्त होगी । इस म्यल पर दे. ना. मा की ग्लानरी में दी गयी कुछ व्युत्पत्तियों का उन्नेव कर देना अनुपयुक्त न होगा—

अनन्त = प्रवृद्ध / आनन्त ।

अन्तिवल्तो = द्वेष्य. (अनु) / अन्तिहर ।

अनुपनवागा = अम्निगावृद्ध / अनुगलपणं ।

अट्ट = वृष / अट्ट ।

अगनिस्तो = अग्निरहित / न-रिक्त ।

अनुचिप्र = द्विक्वा / अनुचिप्र ।

अनमय = पुनन्त / अन्य मय ।

अनुद्ध = अनु / अनुद्ध ।

अनुदतिरी = मनोरथाधिपकनप्राप्तिः / अनुदतिरी

अन्यको = दानव / अन्यक्ष ।

अलिग्रा = सखी८शाली ('शाली' शब्द संस्कृत में स्वयं ही प्राकृत से माया हुआ नगता है)

अवग्रणिग्री = अवग्रहित८अव-गणित ।

अवडो = कूप या वगीचा८ अवट, अवत ।

अवत्तय = विसंयुलित (ढीला-ढाला)८ अव-वृत् ।

अवरत्तग्री = पञ्चात्ताप८अवरक्त ।

अवरिवको = क्षणरहित८अवरिक्त ।

अवरिज्जो = अद्वितीय८अवर ।

अवहडिग्रं = परिरम्भ ८अवहृद्ध ।

अवहट्टो = गवितः८अवधृष्ट ।

अवहड = मुसल८अवधृत ।

अवारी = आपण८अवार ।

अविहाविग्रं = दीनम्८अविभावित ।

अनगिग्री = अश्वः८असगितः ।

अह = दुःख८अघ ।

अहरो = असमर्थ८अभर ।

अहिसिग्रं = ग्रहणकासदित८अभि-सद् ।

अहिहर = देवकुल८अहिगृह ।

अहिहाण = वर्णना८अभिधान ।

आउरं = सप्राह८आतुर ।

आउनं = अरण्य८आकुल ।

आऊ = जल८आप । हिन्दी प्याऊ इसी से ।

अडोविग्रं = आरोपित८आटोपित ।

आडिग्रं = इच्छित८आद्य ।

आणुग्रं = आकृति८आनन ।

आमेलो = जूडा८आपीड ।

आरणाल = कमल८आरात्-नाल ।

आरेडग्रं = मुकुलित८आरेचितम् ।

आलवं = कुकुरमुत्ता८(आलम्ब) ।

आवट्टिआ-नववधू८आवृत ।

आवडिग्रं = सगठित८आपतित ।

आसवण = गृह८आवास (वर्ण विपर्यय) ।

आहूड = सीत्कार८आ-हृत ।

उदमहकामुग्रो = कुक्षाऽऽन्द्रमहकामुक ।

उदमहो = कुमारी का पुत्रऽऽन्द्रमह ।

उन्माग्रो = मंग्रहऽउद्घात ।

उगुण्ठ = माह्नऽउद्घुण्ट ।

उच्चोदो = विमृत्तऽउच्चट् ।

उच्छित = विक्षिप्तऽउच्छिस्त-अच्छा या 'विक्षिप्त' से ही इसे निष्पन्न किया जाता ।

उज्जल्ला = वनात्कारऽउज्जवल ।

उन्नुगो = हृणऽउद्दवन ।

उन्वन्तपन्थल्ला = पाण्ड्वयेनपरिवर्तनऽउन्मथलप्रस्थला ।

उद्घन्थो = निराशऽवृथा-अर्थ ।

उप्पीनो = सग्रहऽउद्-पीट् या पिण्ड ।

उन्माग्रो = ज्ञान्तऽउत् भाव ।

उन्मुहो = हृणऽउन्मुव ।

उदुह्नो = काकऽउलूक-हन्त ।

उल्लुटिश = पिमा हृष्टा चूर्णऽउत्-लुट् ।

उल्लेहटो = लम्पटऽउत्-लिह् ।

उपमगो = मन्दऽउप-मृ ।

उन्वन = रगहीनऽउत्-वृत् ।

उन्वाग्रो = गिलऽउत्-वे ।

उन्वाहृत = श्रीगुक्थऽउत् व्याकृत ।

ऊनयो = जभाईऽऊन्मय्य ।

ऊनविश्र = उद्धान्तऽ(उत्-श्रपयति ।

ऊनुविश्र = विमुञ्जऽउत्-गुण् ।

ऊनुविश्र = रुद्रगणरीदरऽउत्-नुम्भ ।

णवत्तण = चन्दनऽणक्-अणम् ।

णम्भुगो = तथरुऽणन्तट् ।

णन्तपुनि = विरनविन्दुवर्षऽणक्-गुत् ।

प्रोगयो = प्रपन्थोत्ऽउद्गार ।

प्रोन्न = प्रपत्रिऽप्रपत्र ।

प्रान्द = प्रानुक्तऽप्रपदय ।

प्रोय = चानऽप्रदर ।

प्रोगी = पुत्रपरिपारीऽप्रपति ।

प्रोलुगो = सेवक ऽश्वरुण । होता कि 'श्वलग्न' शब्द से इसे
व्युत्पन्न किया जाता ।

प्रोसक्की = अपसृत ऽअप-सक्त ।

प्रोमण्ण = द्रुटित ऽअवसन्न ।

प्रोसिहो = अवल ऽअप-श्रि-क ।

प्रोमीस = अपवृत्त (पीछे घूमना) ऽ उत्-शीर्ष ।

कवन्तो = पीन ऽकर्कश ।

कडप्पो = निकर ऽकलाण या कर्पट ।

कप्परिअ = दारित ऽखर्पर ।

कलवू = तुम्बीपात्र ऽअलावू ।

कलिग = नीलोत्पल ऽकली ।

कलेरो = ककाल ऽकराल ।

कविलो = पूवा ऽकपिल ।

कविग = शराव ऽकपिश ।

कालट्ठ = धनु ऽकाल-वर्त ।

कालिया = शरीर ऽकाल ।

किरिइरिया = कर्णोपकर्णिका ऽ किरिकिरि ।

कुड्डगिलोई = छिपकली ऽकुट्-गिल ।

कुमु भिलो = पिशुन ऽकुमुम्भ ।

कूल = सैन्यस्य पश्चाद्भाग ऽकूल

केआलू = नि सह ऽखेदालू ।

गत्ताडी = वेश्या ऽगात्री ।

गयणरई = मेघ ऽगगनरति ।

ग्रहकल्लोलो = राहु ऽग्रहकल्लोल ।

गुम्मइओ = सचलित ऽगुल्म ।

घरयदो = दर्पण ऽगृहचन्द्र ।

चूओ = स्तनाग्र ऽचूचुक — यह शब्द प्राकृत से ही संस्कृत में
गया हुआ लगता है ।

छेओ = स्थासक ऽछेद ।

भपणी = पक्ष्म ऽक्षप् ।

भाड = लतागहन ऽभाट-यह शब्द भी प्राकृत की सम्पत्ति
लगता है ।

डाली = शाखा ऽदल ।

तणमोल्नी = मल्लिका/तृणशूल्य ।

तवा = गौ/ताम्रा ।

तामर = रम्य/तामरस ।

तोमरिणी = शस्त्रप्रमार्जक/तोमर-जातिवाची "तोमर" पद निश्चित रूप से प्राकृतों की सम्पत्ति है इसका सस्कृत शब्दावली से कोई सम्बन्ध नहीं है ।

तोस = घन/तोष ।

विण्णो = निर्दय/स्तीर्ण ।

थूरी = तन्तुवायोपकरण/तुरी-यह-शब्द भी सस्कृत में प्राकृतों से आया होगा ।

थेरामण - कमल/स्थविरासनम् ।

थेवो = विन्दु/भेष या स्तोक ।

थोरो = क्रमपृथक्वर्तुल/स्थूल ।

दलिष = निकृष्टिताक्ष, /दारु, दलिक

दुग = नितम्ब/दु ख-अच्छा या यदि इसे दुर्गम से व्युत्पन्न किया जाता ।

दुच्चटिषो = दुर्ललित-/दुर-चण्डिक ।

दूमनो = श्रमागा/दुर्भग ।

दोहणहारी = पणिहारिन, मालिन/दोहन-ह ।

घणिम्रं = गाढ/स्तन ।

घुप्रगाप्रो = भ्रमर/ध्रुवराग ।

घूणो = गज/स्थूण या स्थूल या घातु घू ।

घूनीवट्टो = अश्व/घुनीयवतं ।

पटिमुत्ती = प्रतिकूल/प्रतिश्रोत ।

पटिमूरो = प्रतिकूल/प्रतिक्षर ।

पयरा = चरणाघात/प्रमत्त ।

पदनाप्रो = हर (शकर भगवान्)/पदनाय ।

परमुहन्तो = वक्ष/परमुपत्व ।

परिन्नतो = निषिद्ध, भोर/परमत्त-अच्छा या कि इसकी व्युत्पत्ति परिनीत. या परिभ्रान्त. से दी जाती ।

पेनो में घुछ तो अर्धमास्य होता ।

पनिहप्रो = मृगं/उपलब्ध ।

पदप्र = दुर्गम/प्रमत्तम् ।

पायप्पहणो = कुक्कुट / पादप्रहण ।

पासाणिग्रो = साक्षी / पार्श्वनीत ।

पिच्छी = चूडा 'चोट' / पुच्छ-स्वयं पुच्छ शब्द की ही संस्कृत में नदिग्व स्थिति है ।

पुडङ्गणी = नलिनी / पुटकिनी ।

पुत्राङ्गणी = पिशाचगृहीता / पिशाचिनी या पूयादिन् ।

पुत्रार्ति = तर्ण उन्मत्त, पिशाच / पिशाच ।

पैग्नल = प्रमाण (माप) / प्राय ।

बुक्कणो = काक / बुक्कन ।

बुंदीरी = महिषः / वृद्ध ।

बोक्कडे = छाग / वक्कर ।

भारोच्छय = तालफल / भार-उच्छय ।

भल्लू = ऋक्ष / भल्लूक — यह शब्द निश्चित रूप से संस्कृत की सम्पत्ति नहीं है ।

भुक्कणो = श्वा, मद्यादिमान / बुक्कन ।

मट्टो = अलस / मृज्ज-हिन्दी की बोलियों में आज भी मट्ठर, घालसी अर्थ में प्रचलित है । शब्द के प्रयोग का वातावरण ही बताता है कि यह लोक-भाषा का शब्द रहा होगा ।

मम्मक्का = उत्कण्ठा / मर्म ।

मयलवुत्ती = रजस्वला / (मलिनपुत्री) ।

मरालो = अलस / मराल ।

मुहालवत्तो = तरुण / महालक्ष्य ।

मेली = सव या सभा / मेल या मेला ।

रिट्ठो = काक / अरिष्ट ।

रोमराइ = जघन (नितम्ब) / रोमराजि ।

रोट्ट = तन्दुलपिण्ड / रुच्य ।

लयापुरिवो = यत्रपद्माकारवधूलिख्यते / लतापुरुष ।

वइरोडा = जार / पति-रोट

वइवेला = सीमा / वेला ।

वग्रो = गृध्रपक्षी / वृक ।

वहुघारिणी = नववधू / वधू ।

वैगल्ल = मुटु / वैकल्य ।

नमाहुः = अनुगमन / नम-साधन ।

सगोन्ली = समूह-सघातः ।

हृन्निग्र = शीघ्र / लघु ।

श्री रामानुज स्वामी द्वारा दी गई ये व्युत्पत्तियाँ पूर्णतया ध्वनिसाम्य पर प्राधान्य हैं। देशी शब्दों में संस्कृत शब्दों की एक-दो ध्वनियों की भी छाया उन्हें मिली जिसे उन्हें संस्कृत के शब्दों में व्युत्पन्न कर लेते हैं। व्युत्पत्ति का तात्पर्य केवल ध्वनिसाम्य खोजना नहीं होता। शब्द में ध्वनियों का उतना महत्त्व नहीं होता, जितना उनके अर्थ का। इन व्युत्पत्तियों में शब्दों के अर्थ पर ध्यान दिया गया है। ध्वन्यात्मक साम्य का निदर्शन कर दिया गया है। देशीनाममाला में ध्वन्यात्मक प्रयोग की दृष्टि में तत्सम और तद्भव शब्द बहुतायत से सकलित हैं। परन्तु उनकी व्युत्पत्ति देते समय उनके अर्थों पर ध्यान दिया जाना आवश्यक हो जाता है। श्री रामानुज स्वामी इन तथ्य को ध्यान में नहीं रख सके हैं। कही-वही तो उनका संस्कृत-भाषा-प्रेम अतिहास्यास्पद स्थिति पैदा कर देता है। संस्कृत की सभी प्राकृतों का मूल मानकर जब तक शब्दों की व्युत्पत्तियाँ दी जाती रहेंगी, जब तक इसी प्रकार की भ्रान्तियाँ उठनी रहेंगी। अच्छा तो यह हो कि अनादिप्रवृत्त प्राकृतों (लोक भाषाओं) की शब्दावली (देशी पदों) को ध्यान में रख कर, अन्य संस्कृत भाषा की जाँच की जाये। इस दृष्टि में किया गया प्रयत्न महत्त्वपूर्ण परिणाम सामने लायेगा। संस्कृत भाषा ने जितने ही लोकहृद शब्दों को आत्मसात कर लिया है।

जहां तक देशी शब्दों और संस्कृत के शब्दों में ध्वनिगत समानता का प्रश्न है यह अत्यन्त स्वाभाविक है। दोनों ही प्रकार के शब्दों का सम्बन्ध भारतीय आर्य-भाषाओं से है। यह पहले ही प्रतिपादित किया जा चुका है कि देशी-शब्द युग युगों में सामान्य जनता के बीच व्यवहृत होते आये शब्द हैं, इसके वितरीत संस्कृत के तत्सम शब्द साहित्यिक भाषा की सम्पत्ति है। साहित्यिक भाषा और जनभाषा में जहां कुछ मौलिक भेद होते हैं, वहीं कुछ समानताएं भी होती हैं। दोनों समानान्तर यात्रा करती रहती हैं, परन्तु दोनों की अर्थाभिव्यक्ति प्रायः समान नहीं होती। कभी कभी अनजाने ही जनभाषा के शब्द साहित्यिक भाषा में आ जाते हैं और साहित्यिक भाषा उन्हें आत्मसात कर लेती है। यही प्रक्रिया जन भाषाओं में भी चलती है। भारत विभिन्न जातियों और संस्कृतियों का देश है। आर्यों के यहां आने के पहले और बाद में भी अनेकों जातियां आयीं उनकी अपनी भाषा रही होगी। अपने पूर्व आधी हुई जातियों से शब्द ग्रहण करना, आर्य-जनभाषा के लिए स्वाभाविक बात थी। इसी प्रक्रिया से इनमें द्राविड¹ और आग्नेय कुल (कौल, सथाल, मुण्डा आदि) की भाषाओं के शब्द आये होंगे। आर्यों के बाद भारत में आकर बसने वाली जातियों से भी जनभाषा ने शब्द ग्रहण किया होगा। अरबी-फारसी के शब्द इसी प्रक्रिया से आये होंगे। आचार्य हेमचन्द्र ने इस कोश का संकलन 12 वीं शताब्दी में किया था। उस समय तक आर्य जनभाषाएं विभिन्न आर्योत्तर एवं विदेशी शब्दावली का प्रभाव ग्रहण कर चुकी रही होगी। ये आर्योत्तर भाषाओं के तथा विदेशी शब्द, दोनों ही, देशी शब्दों की अपनी प्रकृति प्रत्यगत विशेषताओं से सम्युक्त होकर व्यवहृत हुए हैं। 12 वीं शती तक लोक-भाषा में जितने भी शब्द प्रचलित थे, हेमचन्द्र ने सभी (प्राप्य) का संकलन इस कोश में कर दिया होगा। इसका विस्तृत विवरण आगे दिया जायेगा।

उपरोक्त तथ्यों को ध्यान में रखते हुए देशीनाममाला की शब्दावली को निम्नलिखित विभागों में वर्गीकृत किया जा सकता है—

(1) अनादिप्रवृत्त प्राकृत भाषा (लोकभाषा) के वे शब्द जिनकी व्युत्पत्ति नहीं दी जा सकती। देशीनाममाला के अधिकांश शब्द इसी वर्ग के अन्तर्गत आते हैं। ऐसे शब्दों का स्रोत भारत में भिन्न-भिन्न समयों में आने वाली जातियों की भाषा मानी जा सकती है।

1. (अ) दे ना मा की ग्लासनी में द्राविड भाषाओं से गृहीत कई शब्दों की ओर संकेत किया गया है।

(ब) इ इडियन एंटीक्वरी-जिल्द 46 में के. अमृतराव के एक लेख 'दि द्रवीडियन एलीमेंट्स इन प्राकृत' में भी कई शब्दों की ओर संकेत किया गया है।

(2) मन्त्रानुविधान में अप्रमिद प्रा. भा. आ. या उससे भी पूर्व की भारो-
पीय भाषा में मन्त्र शब्द-जैसे —

अनुवृद्ध/अचिरयुवति = नववधू, अडराणी/अविराजी = इन्द्राणी, अक्कदी
/प्राग् = पश्चिमा, अगुम्भहरो/अगुह्यवर = रहस्यभेदी, अणुसूत्रा/
प्रवृत्ता = प्रामादप्रवृत्ता, उच्छुप्रण/इक्षुप्रण्य = इक्षुवाटिका आदि ।¹

(3) द्राविड परिवार की तमिल, तेलुगु-कन्नड भाषाओं के शब्द—

श्री रामानुजस्वामी ने दे. ना. मा. की ग्लासरी में कई शब्दों को द्राविड
परिवार की भाषाओं में मन्त्र बताया है। 'देशी' शब्दों में इस परिवार की
मन्त्रावली का पाया जाना भारत की द्राविडी (विभाषा) की समस्या को भी हल
कर देता है। प्राचीनकाल में द्राविड भाषा भाषी आज की भाँति केवल दक्षिण तक
ही सीमित नहीं थे। आर्यों के आगम पर उनका प्रथम संपर्क द्राविड भाषा-
भाषियों में ही हुआ होगा। उस संपर्क के बीच शब्दावली का आदान-प्रदान अत्यंत
स्वाभाविक बात थी। मध्यदेश में कभी द्राविड भाषा-भाषियों का निवास था
जहाँ प्रमाण आज भी मिलता है। बलोचिस्तान की 'ब्राहुई' तमिल की ही एक
भाषा है। इरियाणा में तो बोली जाने वाली भाषाओं में तमिल का तृतीय स्थान
पाया जाता है। अतः प्राचीनकाल से ही द्राविडों और आर्यों का संपर्क रहने के
कारण कुछ शब्द यदि आर्यजनभाषाओं में आ गये तो यह अनन्यतः स्वाभाविक है।
दे. ना. मा. में आये हुए कुछ द्राविड शब्द² इस प्रकार हैं—

अणु-पालिभेदः अ-अनुमु ।

अणो-पिता-अ-अणा ।

अणो-शार्दूल-अ-गुणि ।

अणो-वृत्ती-अ-इन्नु ।

अणो-वृत्ति-अ-इन्नु ।

अणो-भाषाग्रन्थ-अ-अणु-क. उच्छु ।

अणो-अणिक-अ-अणु ।

अणो-गुह्यभेदी-अ-अणु ।

अणो-अण-अ-अणु ।

अणो-अण-अणो-अण-अण-अणु ।

कट्टारी-क्षुरिका-द्र क (ट्) ठारी ।
 कण्णवाल कर्णस्याभरण कुण्डलादि-कर्ण द्र. वाल ।
 कदी-मूलशाकम् ते कन्द ।
 करडो-व्याघ्र -द्र, करडि
 कल्ला-मद्यम्-द्र. कल्लु ।
 किरो-शूकरः-द्र. किरु ।
 कीरो-शुकः-द्र किलि ।
 कुण्डो-निर्दयः, निपुण-द्र कुरुल ।
 कुल्लो-ग्रीवा, असमर्थः ते. कुल्लु ।
 कोलित्तं -उल्मुक-द्र कोळिढ ।
 खडक्की-लघुद्वार-ते किटिकि ।
 खड्ड-श्मश्रु-द्र गड्ड या कट्ट ।
 खण्ण-खातम्-ते कन्नमु ।
 खुड्ड-लघु त कुट्टै ।
 गड्डी-गन्त्री-क गाडि ।
 गुत्ती-वधन, इच्छा, वचन-ते. गुत्ति ।
 गुफमुमिअ-सुगन्धि-ते गुमगुम ।
 गोडी-मजरी-क. गोण्डे ।
 घारो-प्राकार-ते गोड ।
 चिक्का-अल्पवस्तु-द्र चिरु, चिक्का ।
 चिच्ची-हुताशन द्र. शिक्कु चिक्कु ।
 छाण-धान्यादिमलन-द्र चानि, शानि ।
 छिप्प-भिक्षा-द्र चिप्पा (छिप्पा) ।
 छिल्ल-छिद्रम्-ते चिल्लि ।
 जगडिओ-विद्रावित, कदर्शित-ते जगड्मु
 जोण्णलिआ-धान्य-ते जोल्ल ।
 झडी निरतरवृष्टि-द्र जडि ।
 झेड्डुओ-कन्दुक -द्र. चण्डु, जण्डु झण्डु भी उच्चारण हो सकता है
 डोओ-दारुहस्त-ते डोकि ।
 तट्टी वृत्ति -द्र तट्टि ।
 तडमडो-क्षुभित-ते तड-वडु ।
 तट-पृष्ठम्-ते तुण्टि ।

नग्गाय-आद्रं ते-तणिण ।
 तलाने-नगर रक्षकः-द्र तलेयारि ।
 तुप्पा-कौतुक, म्निग्व -द्र. तुप्पा ।
 दारो-कटिन्नम्-त दारमु ।
 पमटि-कनकम्-ते पमिदि ।
 पावो-मर्प -द्र पासु या पावु ।
 पिह-नघ्पक्षिण-ते पिल्ल ।
 पुल्लो-आद्य द्र - .पुनि ।
 पेड-मण्डम-द्र पेण्डर ।
 पोट्ट-उदरम्-द्र पोट्ट ।
 किट्टो-वामन-ते पोड्टि ।
 वलिग्रो पीन -वलिमिना ।
 वृत्तुला-वृद्ध-ते वृत्तुला ।
 दोशी-न म्-द्र दोन्दि ।
 नटो-जिरीक्षवृक्ष -द्र वण्डि या वण्डि ।
 नाग्रो-ज्जेण्डमग्निनीपति -द्र वाच या भाच ।
 नगुनो-नकुन -द्र मु गिम ।
 मज्जिग-अवलोकितम्-ते मज्जिग ।
 मट्टो-गृहीत मोट्टि ।
 मट्टो-अलम् -द्र मट्टि ।
 मटो-अण्ड-ते मेउ ।
 मटो-पि-निग-ते मण्डि-गा ।
 मत्त-गियेज्जेश न मत्ते ।
 माटि-रोमज (चातदार) त मायिर या मजिर ।
 माटि-अ-वृद्धम्-क माटि-त. माटम ।
 मामा-मातृदात्री-द्र मामा ।
 मामो-मातृदात्री-द्र (अम्) मामि ।
 मुट्टी-अन्विनम्-ते मुट्टु ।
 मेरा-मर्वादा-ते मेरा ।
 मोग्गो-मुत्तम्-द्र मोग-ते मोगट्ट ।
 मट्टी-अपातम्-द्र मट्टी ।
 मट्ट-अपातम्-द्र मट्ट ।

वट्टिव-परकार्यम्-ते वेट्टि ।
 चड्डो-महान् ते ओड्डु ।
 चहुण्णी-ज्येष्ठभार्या-द्र वदिन, मदिनि ।
 विल्ल-अच्छ-द्र, वेत्तल ।
 सरा-माला-ते सरमु ।
 सिप्प-भूसी क-सिप्पे ।
 सूला-वेश्या-क सूले ।
 हिड्डो-वामन -ते. पोट्टि ।

देशीनाममाला की शब्दावली में द्राविड भाषा के इन सभी शब्दों का मिलना कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है। जहाँ तक इन शब्दों के दक्षिणी भाषाओं से सबद्ध होने का प्रश्न है, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि ये शब्द दक्षिणी भाषाओं की अपनी ही सम्पत्ति हैं। प्राकृत व्याकरणकारों की भाँति द्राविड भाषाओं के व्याकरणकार भी इस कोटि के शब्दों को 'देशी' ही मानते हैं। उनका मन्तव्य है कि ये शब्द युग युगों से भाषा में व्यवहृत होते चले आ रहे हैं, और उनका मूल उद्गम अत्यन्त रहस्यात्मक है। इस सदर्भ में द्राविड व्याकरणकारों की मान्यताओं का उल्लेख आवश्यक है।

प्राकृत व्याकरणकारों की भाँति द्राविड व्याकरणकारों ने भी भाषा में प्रयुक्त होने वाले शब्दों को तीन वर्गों में विभाजित किया है—(1) तत्सम (2) तद्भव (3) देश्य। संस्कृत से ज्यों के त्यों ले लिये गये शब्दों को वे तत्सम कहते हैं—जैसे—ते—विद्या-पिता, क—वन, घन, वस्त्र—त कमल, कारण इत्यादि। संस्कृत के वे शब्द जो द्राविड भाषाओं में जाकर ध्वनिपरिवर्तनादि से संयुक्त हो या द्राविड भाषाओं की प्रकृति-प्रत्यय आयोजनाओं के अनुरूप होकर प्रयुक्त होते हैं—तद्भव कहे गये हैं—जैसे—

ते आकासमु (स. आकाश), मेगमु (स. मृग), वकर (स. वक्र)। क-पयाण (स. प्रयाण), वीदि (स. वीथी) वीणे (स. वीणा)। त शुत्तम (स. शुद्धम्), शट्टि (स. षट्ति), पिच्चे या विच्चे (स. भिक्षा)। ऐसे शब्द जो इन दोनों वर्गों के शब्दों से सर्वथा भिन्न हैं और भाषा में युग-युगों से प्रयुक्त होते आ रहे हैं, देश्य कहलाते हैं—जैसे—

ते ऊरु-कस्वा, इल्लु-घर, क-मने-घर, होल-मैदान, नेल-फर्श, त ऊर-कस्वा-, मने-घर, तरे-फर्श आदि। द्राविड व्याकरणकारों ने संस्कृत से असबद्ध लगभग सभी शब्दों को 'देश्य' मान लिया है। ऐसे शब्दों के मूल उद्गम के विषय में

नभी चुन है। प्राकृत व्याकरणकारों के समान ही उनका भी मत है कि इन शब्दों का मूल उद्गम एक मूल रहस्य है। ये अनादिकाल में देश की भाषाओं में व्यवहृत होते आये हैं। इसी परम्परा में कवियों ने इन्हें अपनी रचनाओं में भी व्यवहृत किया है।

दे ना मा की अविकाश शब्दावली भी अनादिप्रवृत्त प्राकृत भाषा (लोकभाषा) की शब्दावली है। इसमें मिलने वाले द्राविड भाषाओं के देश्यपद हेमचन्द्र जी 'देश्य' शब्द विचार से सम्बन्धित मान्यताओं की ही पुष्टि देते हैं। ऊपर द्राविड भाषा के जो शब्द संकेतित किये गये हैं, वे द्राविड व्याकरणकारों के अनुसार 'देश्य' हैं और अनादिकाल में प्रचलित देशभाषा से संबद्ध हैं। क्या हमें यह ध्वनित नहीं होना कि द्राविड भाषाओं के ऐसे शब्द निश्चित रूप से किसी अन्य देशभाषा में लिए गए शब्द होंगे। जिस तरह ये शब्द द्राविड भाषाओं में गये होंगे, उसी प्रकार आर्य भाषाओं में भी आ सकते हैं। इस वग के शब्द जनता की व्यावहारिक वाद-वाच की भाषा में प्रचलित रहते हैं, वे किसी एक भाषा की सम्पत्ति बनकर नहीं रहते। इनका प्रसार नित्य भिन्न-भिन्न भाषाओं में होता रहता है। निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि दे. ना मा में प्राप्त होने वाले द्राविड भाषाओं की शब्दावली भी 'देश्य' ही है। इसमें दक्षिणी भाषाओं की सम्पत्ति न रहकर युग युगों में प्रचलित देश-भाषा या जन-भाषा की सम्पत्ति रहना अप्रति उपयुक्त होगा। आचार्य हेमचन्द्र की भी यही मान्यता है, उन्होंने एक मौलिक शब्द 'देश्य' शब्दावली का सफलन उस कोश ग्रन्थ में किया है। यदि वे भाषा के सम्पूर्ण प्रान्तों और सभी भाषाओं की देश्यशब्दावली का सफलन करते तो उन्हें बड़े काम करने पड़ते। यही बात उन्होंने दे. ना मा 114 में कही है।

(4) जिह्मी शब्द

के समुदाय¹ और जार्ज ग्रियर्सन² प्रभृति विद्वानों ने दे ना मा की देश्य शब्दावली में सम्मिलित कुछ अरबी-फारसी के शब्दों की ओर ध्यान दिया है। इस बात में इन शब्दों का होना कोई चौंकाने वाली बात नहीं है। आचार्य हेमचन्द्र ने अपने ग्रन्थों में ही मुसलमान व्यापारी भाग्य आने लगे थे। 711 ई. में मुहम्मद काबिल सिन्ध का शासक हो गया और उनके उत्तराधिकारी तब तक शासन करने लगे जब तक कि राजपूतों ने उन्हें उखाड़ नहीं दिया। आगे मुहम्मद गजनवी

1 'संस्कृत-शब्दकोश'—पृष्ठ 46, के समुदाय या 'देश्य' 'दि द्रवीडियन एन्सिक्लोपेडिया'।

2 'दक्षिणी भारत का इतिहास'—अनुवादित-उपमध्य आय रायन एजियाटिक सोसायटी (1919) पृ. 235

के एक वजीर ने व्यापारिक कार्यों को सुचारु रूप से चलाने के लिए फारसी लिपि प्रचलित की और उसके सहारे व्यापारिक फारसी शब्द भी चल पड़े। हेमचन्द्र के समय तक अनेको अरबी-फारसी के शब्द सामान्य जनभाषाओं में घुलमिल चुके थे। सम्भवतः इन विदेशी शब्दों का इतना प्राकृतीकरण हो गया और तत्कालीन जन-भाषाओं में इतने सामान्य हो गये थे कि आचार्य हेमचन्द्र इन्हें पहिचान न सके होंगे। अतः कोश में कुछ फारसी-अरबी शब्दों का आ जाना अधिक आश्चर्यजनक नहीं। ऐसे कुछ शब्दों के उदाहरण यहाँ दिये जा रहे हैं—

1 अगुत्थल (दे. ना 1131) - अगुलीयम् - अगूठी। फारसी-अगुस्तरी, पहलवी - अगुस्त, जन्द-अगुस्त (स्त का वर्ण विकार त्थ है जैसे हस्त हत्थ) स छाया-अगुठ। यहाँ एक तथ्य विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। कोई एक समय था जब भारतीय और ईरानी आर्य एक ही प्रकार के भाषा-भाषी थे। दोनों अलग हुए तो दोनों की भाषाओं और सस्कृतियों में भी अन्तर आता गया। दोनों की भाषाओं में अनेको ऐसे शब्द होंगे जो आज भी समान रूप और अर्थ वाले हैं। पारसियों का जन्द-अवेस्ता तो थोड़े ध्वनि परिवर्तनों के साथ सस्कृत में रूपान्तरित किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में अगुस्त और अगुठ शब्द दोनों एक ही स्रोत से उद्भूत लगते हैं। जहाँ तक अगुत्थल शब्द के फारसी शब्द होने की सम्भावना है यह यदि अगुस्त से निष्पन्न किया जा सकता है तो अगुठ से भी निष्पन्न करने में कोई कठिनाई नहीं दिखती—अगुठ⁷ अगुठ⁷ अगुत्थ। यह शब्द तद्भव माना जाना चाहिए—विदेशी नहीं। फारसी में इसकी उपस्थिति देखकर इसे विदेशी शब्द कह देना उपयुक्त बात नहीं है।

2 दत्थरो (दे. ना 5134)—हस्तशाटक—रूमाल, फारसी-दस्तार⁷दत्थर (जैमे-प्रस्ताव पत्थव)। यह शब्द निश्चित रूप से फारसी का होगा। जनभाषा में यह ध्वनिविकार के साथ प्रचलित हो गया होगा। फारसी का ज्ञान न होने के कारण, ध्वनिगत विशेषणों को देखते हुए आचार्य हेमचन्द्र ने इसे प्राकृत की शब्द सम्पत्ति समझ लिया होगा।

3. वधो (दे. ना 6-88)—भृत्य—नौकर, फारसी-बन्दह, पहलवी-बन्दक, प्राचीन फारसी-बन्दक, सस्कृत छाया-बन्धक। फारसी भाषा-भाषी समाज में गुलाम रखने की परम्परा के बाहुल्य को देखते हुए, इस शब्द का सम्बन्ध भले ही फारसी से जोड़ दिया जाये पर जो स्थितियाँ-अगुत्थल शब्द के सम्बन्ध में बतायी जा चुकी हैं, बहुत कुछ इस शब्द पर भी सत्य प्रतीत होती हैं। संस्कृत बन्धक शब्द फारसी के बन्दह या बन्दक से अधिक प्राचीन लगता है। फिर दासों को, भाग जाने के डर से,

उन्हें कर्ज आदि देकर वांछ रखने की परम्परा भारतीय आर्य समाज में भी अप्राप्य घटना नहीं है। ऐसी स्थिति में इस शब्द को भी तद्भव माना जाना चाहिए, विदेशी नहीं।

4 परजक (दे ना 6-8) — अल्प श्रोत - छोटी नदी, फारसी परक-एक नदी का नाम। “व्यक्तिवाचक मज्ञा जातिवाचक मज्ञार्थ प्रयुक्त होती है। जैसे सत्कृत गाण्डीव (अर्जुन का धनुष) फारसी में गाण्डीव स मान्य धनुषवाची शब्द है। गंगा शब्द नदीवाची रहा है।”¹ फारसी-भाषी व्यापारियों के माध्यम से यह शब्द जन जीवन में थोड़े अर्थ परिवर्तन के साथ प्रचलित रहा होगा। आचार्य हेमचन्द्र ने इसे प्राकृत शब्द समझ कर संकलित कर लिया होगा।

5 जोन्वडो (दे ना 6-96) — छाग - बकरा फारसी के माध्यम में प्राप्त मूल अरबी शब्द बकर-बैल, हिब्रू में बकर पशु (प्राकृतानुरूप ध्वनिविकार-अकार को ओकार जैसे पद्म को पोम्प, र का ड में परिवर्तन) में छाया बोलकर। रामानुजस्वामी, इसे तद्भव मान म. के “वर्कर” शब्द में व्युत्पन्न करते हैं। परन्तु संस्कृत में ‘अवि’ और ‘अजा’ जैसे शब्द इस अर्थ में प्रयुक्त होते रहे हैं। अतः यह शब्द अरबी का ही होना चाहिए।

6 जयग (दे ना 3-40) जय मनाह — जीन, फारसी-जीन, पहलवी-जीन, जन्द-जडनि, संस्कृत छाया जयन्म्। श्री रामानुजस्वामी इस शब्द को तद्भव मानते हैं। प्राकृत में यह शब्द संस्कृत के ही माध्यम में आया होगा। जन्द में जडनि और संस्कृत में जयन् शब्द का साथ साथ मिलना, दोनों को किसी अन्य संयुक्त भाषा में संयुक्त करना है। यह आर्यों की उस समय की भाषा का शब्द माना जाना चाहिए जब दोनों साथ-साथ रहते पन बीजते रहे होंगे। आचार्य हेमचन्द्र द्वारा संकलित यह शब्द संस्कृत के ‘जयन्म्’ शब्द का ही वाक्य भाषा में व्यवहृत रूप होगा।

की यह परिपाटी बिल्कुल ही कामचलाऊ है। देशीनाममाला के हजारों शब्दों को 'देश्य' मान लेने में आपत्ति नहीं है, तो फिर एक शब्द को खींचतान कर विदेशी भाषा तक ले जाने का मोह कितना भ्रामक है। मेरी दृष्टि में यह शब्द पूर्णतया 'देशी' है और भारतीय आर्य-भाषा का है। परन्तु ग्रियर्सन जैसे विद्वान् की हा में हा मिलाने के कारण सभी विद्वानों ने इसे विदेशी शब्द मान लिया है।

दे ना मा के कुछ ऐसे ही शब्द हैं, जिन्हें विद्वानों ने विदेशी शब्द सम्पत्ति से सम्बन्धित बनाया है। जहाँ तक हेमचन्द्र के दृष्टिकोण का प्रश्न है, वे इन शब्दों के विदेशी होने की स्थिति से बिल्कुल अनभिज्ञ हैं। उन्होंने लोक-भाषाओं में प्रचलित देव्वर ही उन्हें सकलित कर दिया होगा। संस्कृत में पारसियों के माध्यम से कितने ही शब्द भारत आ गये हैं, परन्तु इसमें यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता है कि ये शब्द विदेशी हो गये। इसके विपरीत स्वयं ईरानी आर्यशाखा की भाषाएँ—भारतीय आर्य भाषाओं में बहुत अधिक प्रभावित हैं। बहुत प्राचीनकाल से ही भारत के आर्य, ईरान जाकर उन्हें अपनी शासनपट्टना से प्रभावित करते रहे हैं। इतिहासकार स्मिथ का विचार है कि पल्हव दूमरी शताब्दी में भारत के पश्चिमी भाग में विजेता बनकर फारम में आ गये थे। 641 ई० में फारसी वंश के समाप्त हो जाने पर जरथुस्त के उपासक भारत में आ बसे, जो आज भी पारसी कहलाते हैं। जरथुस्त के इन उपासकों में अधिकांश भारतीय आर्यवंशज ही हैं। ऐसी स्थिति में, भारतीय आर्यभाषा की इतनी प्राचीन परम्परा में देशी शब्दों की व्युत्पत्ति न खोजकर, विदेशी भाषाओं में जाना उपयुक्त नहीं है।

(5) ध्वन्यनुकरणात्मक शब्द—

प्रारम्भ से ही मनुष्य अनुकरणशील प्राणी रहा है। वह पशुपक्षियों की अव्यक्त ध्वनियाँ सुनता है, अन्य वस्तुओं के गिरने, हिलने-डुलने आदि से उत्पन्न आवाजे, सुनता है और भाववेश में आकर स्वयं या अन्य द्वारा विहित भावाभिव्यजक विभिन्न नादों को कर्णगोचर करता है। वह इन सभी का अनुकरण करता है। इसी अनुकरण की प्रवृत्ति के कारण भाषा में अनेक धातुप्रकृतियाँ, नाम और विस्मयादि-बोधक शब्द, व्यवहृत होने लगते हैं। दे ना की शब्दावली में इस कोटि के शब्द भी पर्याप्त मात्रा में हैं। इस कोश की शब्दावली का सम्बन्ध लोकजीवन से है, अतः ध्वन्यनुकरणात्मक शब्दों का मिलना अतिस्वाभाविक है। दे ना में आये हुए ध्वन्यनुकरणात्मक शब्दों का विवरण इस प्रकार है—

(1) लोकोद्भूत ध्वन्यनुकरणात्मक शब्द—जैसे—

खम्मखम्मो-सग्राम, खिक्खरी डोम के हाथ में रहने वाली फटे बास की छड़ी (खिर खिर शब्द करने के कारण), खुट्टु-त्रुटितम् (किसी वस्तु के टूटने

कुंभिनो-चौर — संस्कृत में यह शब्द 'घडियाल' एक जलजन्तु विशेष का अर्थ देता है। पानी में चौर की तरह छिपकर रहने के कारण हो सकता है कि लोक में इसका अर्थ लक्षणवा 'चौर' हो गया हो।

कुररी-एक पशुविशेष-इस शब्द का संस्कृत में भी यही अर्थ है, पर यह शब्द लोकभाषाओं से ही संस्कृत में गया हुआ प्रतीत होता है।

कोलाहलो — जगद्वत्तम्-चिड़ियों का कलकल निनाद। यहाँ भी सामान्य कोलाहलवाची शब्द को एक विशिष्ट अर्थ में सीमित कर दिया गया है।

छाया-कीर्तिः, भ्रमरी।

तिमिलिगी-गीतः।

तुच्छ-अवगुणक।

पाली दिक् या दिशा।

पानीबंदो-तडागः।

पूरण शूर्पः।

इसी प्रकार दे ना में जितने भी तत्सम शब्द हैं, उनका अर्थ संस्कृत के शब्दों से भिन्न हैं। अर्थगत वातावरण और इनके लोक जीवन में बहुतायत से व्यवहृत होने को ही ध्यान में रखकर आचार्य हेमचन्द्र ने इन शब्दों का सकलन 'देशी' शब्दों के बीच किया होगा। ऐसे शब्दों का सकलन जहाँ कहीं भी वे करते हैं—स्पष्ट रूप से स्वीकार कर लेते हैं कि अमुक शब्द संस्कृत में भी प्रयुक्त होता है, परन्तु अर्थगत वैषम्य के कारण मैंने इसे 'देशी' शब्दों के बीच सकलित कर दिया है। आचार्य हेमचन्द्र की इतनी स्पष्टवादिता पर यदि सुधी विद्वानों को सदेह हो तो, इसके लिए स्वयं हेमचन्द्र दोषी नहीं हैं, बल्कि दोष उन पूर्वाग्रहग्रस्त विद्वानों का ही है, जिनके ऊपर संस्कृत हावी है। यह पहले भी कहा जा चुका है कि शब्द और अर्थ का शाश्वत सम्बन्ध है, शब्द और ध्वनि का नहीं। शब्दों का अर्थ लोक व्यवहार पर आधारित होता है, उनके ध्वनि प्रयोग पर नहीं। इस कोटि के शब्दों का सकलन करते समय हेमचन्द्र ने इसी दृष्टिकोण का समझ रखा था। सुधी आलोचकों से कहीं अधिक, संस्कृत के जानकार, हेमचन्द्र थे, अतः इस कोटि के शब्दों को कोश में स्थान देना उनकी भ्रान्ति नहीं कही जा सकती।

(ख) धातुओं के अर्थातिशय योग से युक्त देशी शब्द या तथाकथित तद्भव —

दे ना पर जितने भी विद्वानों ने विचार किया है लगभग सभी का यह मत रहा है कि—इस कोश में तद्भव शब्दों का बाहुल्य है। पीछे रामानुज स्वामी द्वारा तद्भव बताये गये कुछ प्रमुख शब्दों के उदाहरण दिये जा चुके हैं। ध्वनिगतविकारों

को लक्षित कर ही इन शब्दों को तद्भव कह दिया गया है, जबकि स्थिति कुछ और ही है। तन्मय शब्दों की भाँति आचार्य हेमचन्द्र ने ऐसे शब्दों का प्रयोग भी अर्थ की दृष्टि में ही देनी शब्दों के बीच किया है। यहाँ भी उनका ध्यान शब्दों के लोक-तद्भव न ही और गया है, साहित्यिक प्रयोगों की ओर नहीं। इस वर्ग के शब्दों में अतिशय धातुमय शब्द हैं। इन शब्दों में वातुगत अर्थातिशय योग सर्वत्र लक्षित किया जा सकता है। नम्रुत में ही उभयों के योग में वातुगत अर्थ बदलते हुए देखा जाता है। प्रहार, विहार, ग्राहार, महार—सभी का अर्थ अलग है। दे. ना की त्रयान्वित तद्भव प्रव्हावली में भी यही अर्थातिशय योग देखा जा सकता है। सभी प्राकृत व्याकरणकारों ने प्राकृत की धातुओं को आदेश द्वारा तद्भव स्वीकार कर दिया है। दे. ना के शब्दों में ऐसी अनेकों धातुओं का प्रयोग हुआ है।¹ परन्तु पदान्वित योग में इनका अर्थ भिन्न हो गया है। जैसे—

आप्रद्विप्र-पवशचरित्तम मृदवान् आश्रड्ड है—जिसका अर्थ व्या-पृ- अर्थात् मृदवान् है। यहाँ अर्थ भिन्न हो गया है।

आमया-उच्छा। आमय-यन्तु 'मवव' या समावना के अर्थ में प्रयुक्त है।

गुण-मृन्ना के स्थान पर इमना।

हान-हिना के स्थान पर अवण करना।

उसी प्रकार आचिद्वि का अर्थ प्रेरितम् है, आमन्त्रिओ (आमन्त्रित) का अर्थ-आमन्त्रण का शब्द है, आलक्षिप्र का अर्थ लगडा है न कि सजा हुआ। ऐसे अनेक तद्भव शब्द पूरे कोश में देखे जा सकते हैं, जो स्वरूप से तो तद्भव लगते हैं, परन्तु यही दृष्टि में पूर्णतया देखी है। आचार्य हेमचन्द्र जहाँ भी ऐसे शब्दों का सकलन किया है स्पष्ट रूप से यह देते हैं कि यह शब्द तद्भव भी हो सकता है, परन्तु अर्थ की दृष्टि से नहीं है। इसी दृष्टिकोण को धामने स्वयं के अपने पूर्व के देशीकारों के अनेकों शब्दों को देख नहीं सकते हैं उनके द्वारा गिनाये गये अनेकों तद्भव शब्दों को देखी जा सकती है। ऐसे शब्दों पर सर्वत्र के अर्थ की ही महत्ता देते देखे जाते हैं। अतः तद्भव धातु प्रयोजन विचारों की वे विस्तृत परवाह नहीं करते।

निष्कर्ष—

मे यह कहा जा सकता है कि देशीनाममाला की शब्दावली के सकलन का आधार पूर्णतया लोकव्यवहार में प्रयुक्त शब्दों का अर्थ है। इसी दृष्टि से इसका अध्ययन भी किया जाना चाहिए। देशीनाममाला के शब्द अनादिकाल से सामान्य जनजीवन की भाषा में व्यवहृत होने वाली शब्दावली के अंश हैं। इनका साहित्यिक भाषाओं से प्रायः दूर का ही सम्बन्ध रहा है। इनका ज्ञान पूर्णतया लोकज्ञान पर आधारित है। हेमचन्द्र इसी तथ्य की ओर 'लोकतोऽवगन्तव्य' कहकर संकेत देते हैं। इनकी व्युत्पत्ति इतना एक दुर्लभ ही नहीं असम्भव सा कार्य है, फिर भी इनकी व्युत्पत्ति की जितनी भी संभावनाएँ हो सकती हैं, सभी की ओर संकेत कर दिया गया है। देशीनाममाला की अधिकांश शब्दावली वातावरण की दृष्टि से ग्रामीण है। आज भी ग्रामीण भाषाओं में इसकी शब्दावली का व्यवहार पर्याप्त मात्रा में मिलता है। ये शब्द सतत वर्तमान रहने वाली उन जनभाषाओं के अंश हैं जो समय-समय पर सदैव साहित्यिक भाषाओं को शब्द-सम्पत्ति प्रदान करती रही हैं।

— — —

सहायक ग्रन्थ-सूची

1. अथर्ववेद
2. अनेकार्थमग्रह-हेमचन्द्र
3. अपन जनात-वीरेन्द्र श्रीबान्धव
4. अत्रय म नाटिन-हरिवर्ग कोछट
5. अभिमानचिन्तामणि-हेमचन्द्र
6. अमरकवच-अमरक
7. अर्चिज्ञान और व्याकरणदान-डा कपिलदेव द्विवेदी
8. अष्टाध्यायी-पाणिनि ।
9. अर्थ मन्त्रि के मुलाधार-अनन्द उपाध्याय
10. आर्यशतकी-गोखले नावाय
11. अष्टाध्यायी दु कर्मेष्टि विद्यावाजी-पी डी गुणे
12. अष्टाध्यायी दु अष्ट-वृत्त, म मी
13. अष्टाध्यायी प्रकरण-आनन्द पट्टि (म मुनिजिनविजय)
14. अष्टाध्यायी-म मुनिजिनविजय
15. अष्टाध्यायी
16. अष्टाध्यायी
17. अष्टाध्यायी अष्टाध्यायी अष्टाध्यायी अष्टाध्यायी
18. अष्टाध्यायी अष्टाध्यायी अष्टाध्यायी अष्टाध्यायी
19. अष्टाध्यायी अष्टाध्यायी अष्टाध्यायी अष्टाध्यायी
20. अष्टाध्यायी अष्टाध्यायी अष्टाध्यायी अष्टाध्यायी

21. ए गामर ग्राम प्राकृत लैंग्वेज—डी सी सरकार
22. एवत्पूजन ग्राम ग्रवधी—डा बाबूराम सक्सेना
23. ए वैदिक वडं कन्काईन्म—विश्वबन्धु शास्त्री
24. श्रीरिजिन एण्ड डेवलपमेण्ट ग्राम वेगाली लैंग्वेज—सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या
25. कवीर की भाषा—डा माताबदन जायसवाल
26. कपूर् रमजरी—राजसोमर
27. कम्पेरेटिव गामर ग्राम माउर्न ग्रार्यन लैंग्वेजेज—बीम्स, जे.
28. कम्पेरेटिव गामर ग्राम ट्यूडियन लैंग्वेजेज—काट्टवेज ग्रार
29. कामसूत्र—वात्स्यायन
30. काव्यादर्श—दण्डी
31. काव्यानुशासन—हेमचन्द्र—स. रमिकलाल सी पारिख
32. काव्यालंकार—छद्रट
33. कीर्तिलता श्रीर अग्रहट्ट भाषा—शिवप्रसाद सिंह
34. कुमारपाल चरित—हेमचन्द्र
35. कुमारपालप्रतिबोध—सोमप्रभसूरि
36. कुमारपालप्रतिबोध—जिनमण्डन उवाध्याय
37. कुवलयमाना कहा—उद्योतन सूरि
38. मजुराहो ग्रार्ट—उर्मिता अग्रवाल
39. मउडवहो—वाक्पतिराज
40. माहानत्तमई—हाल
41. ग्रामर ग्राम ईस्टर्न हिन्दी—हार्नने
42. ग्रामीण हिन्दी—डा घीरेन्द्र वर्मा
43. गुजराती लैंग्वेज एण्ड लिटरेचर—दिवहिया, एन बी.
44. छन्दोऽनुशासन—हेमचन्द्र
45. डीयत्से-लिसरातूरत्साइटु ग—जीगफ्रीड गोल्डस्मिथ
46. गायकुमारचरित—पुष्पदत्त—स हीरालाल जैन
47. गेमिणाहचरित—लखमेव (लक्ष्मणदेव)
48. तरगवईकहा—पादलिप्त
49. ताण्ड्यब्राह्मण—
50. दक्खिनी हिन्दी—डा. बाबूराम सक्सेना
51. द्वात्रिंशिका (स्तोत्र)—हेमचन्द्र
52. दि कल्चरल हैरिटेज ग्राम इण्डिया—मजूमदार

- 53 दि मन्वन्त लेंगेज-टी. वरी
- 54 देवीनाममाला-हेमचन्द्र, म पिशेल
- 55 देवीनाममाला-हेमचन्द्र-म मुरलीवर वनजी
- 56 देवीनाममाला-हेमचन्द्र-गुजराती मभा, वम्बई मे प्रकाशित ।
- 57 दाहाकोण-राहुल माकृष्यायन
- 58 नाट्यशास्त्र-भरत
59. निघण्टु-हेमचन्द्र
- 60 निरुक्तम्-बाम्क-टीका प. उमाशकर शर्मा
- 61 नीतिशतक-भर्तृहरि
- 62 परमात्मप्रकाश एण्ड योगमार श्राव जोइन्दु-उपाध्ये ए एन.
- 63 परिभाषेन्द्रशेखर-नागेशभट्ट
- 64 पाउप्रदच्छीनाममाला-धनपाल, म वृत्तर
- 65 पाणि २ गितश डिपणतरी-कीलहार्न
- 66 पाट्टदोहा-मुनि रामगिह
- 67 पालिप्रामर-या दोघ्राग
- 68 पाणिध्याग्रग-जगदीशकश्यप
- 69 पाणिप्रामरग-भिक्षु धर्मरक्षित
- 70 पुतापनप्रवन्ध सग्रह-मकरन
- 71 पुराणी सिन्धी - गुनेरी

85. प्राकृत द्वयाश्रयकाव्य—हेमचन्द्र
- 86 प्राकृतविमर्श - डा. सरयूप्रसाद अग्रवाल
- 87 प्राकृत भाषाओं का रूप-दर्शन—आचार्य नरेन्द्रनाथ ।
88. प्राकृत लक्षण—चण्ड
- 89 प्राकृतव्याकरण—मधुसूदनप्रसाद मिश्र
- 90 प्राकृत भाषा—डा प्रबोध वेचर दास पंडित
- 91 प्राकृतभाषा और उसका साहित्य—डा. हरदेव बाहरी
- 92 प्राकृतभाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डा नेमिचन्द्र
- 93 प्राकृतव्याकरण - पी एल वैद्य
- 94 प्राकृतप्रकाश—कावेल
- 95 प्राकृतभाषाओं का व्याकरण—पिशेल-हिन्दी अनुवाद-हेमचन्द्र जोशी
- 96 प्राकृतपेङ्गलम् - भोलाशकर व्यास
- 97 प्राकृत-विमर्श—डा सरयूप्रसाद अग्रवाल
- 98 पृथ्वीराजरासो की भाषा—डा नामवरसिंह
- 99 प्री आर्यन एण्ड प्री द्रवीडियन इन इण्डिया—पी सी बागची
- 100 ब्रजभाषा व्याकरण—डा धीरेन्द्र वर्मा
- 101 ब्रजभाषा—डा धीरेन्द्र वर्मा
- 102 बालरामायण—राजशेखर
- 103 विहारी-सतसई—टीका-जगन्नाथदास 'रत्नाकर'
- 104 भविस्यत्तकहा - धनपाल
105. भारतीय आर्य भाषा—हि० अनु०—डा० लक्ष्मीसागर वाणर्ण्य
- 106 भारत का भाषा सर्वेक्षण—हि० अनु० डा० उदयनारायण तिवारी
- 107 भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी - सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या
- 108 भाषाविज्ञान और हिन्दी—डा सरयूप्रसाद अग्रवाल
- 109 भाषा-विज्ञान—डा श्यामसुन्दर दास
- 110 भोजपुरी भाषा और साहित्य—डा उदयनारायण तिवारी
- 111 मध्यकालीन भारतीय आर्य-भाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण—
सुकुमार सेन, हि. अनु डा. महावीर प्रसादलखेख
- 112 महाभारत—
- 113 महाभाष्य—पतञ्जलि
- 114 मृच्छकटिक—शूद्रक
- 115 मोहराजपराजय—यशपाल

- 116 योगजान्त्र—हेमचन्द्र
- 117 राजपि प्रभितन्दन ग्रन्थ
- 118 रामपूतने का इतिहास—गौरीशंकर हीराचन्द ओझा
- 119 रामायण (पठमचरित) —स्वयभू
- 120 राष्ट्र आत्र हेमचन्द्र —बुलर
- 121 दिग्विम्बिक सर्व आत्र इण्डिया—प्रियमन्त नभी जिल्दे
- 122 दिग्विम्बिक सर्व—प्रियमन्त, जी ए
- 123 नीतावर्द्धना वीरहल
- 124 चगन्ताकर—ज्योतिरीश्वर ठाकुर
- 125 वायव्यदीप—भर्तृहरि
- 126 विष्णुनितितानाजिकल लेखन (1914) —भण्डारकर
- 127 वीतरागमुनि —हेमचन्द्र
- 128 वैद्याकरणभूषणसार —भूषण
- 129 वैद्याग्रन्थक —भर्तृहरि
- 130 नवम रात्राण—
- 131 नृगार प्रकाश - भोज

- 148 हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग—नामवर सिंह
- 149 हिन्दी व्याकरण—कामताप्रसाद गुरु
150. हिन्दी निरुक्त-किशोरीदाम पाजपेयी
151. हिन्दीशब्दानुगमन—किशोरीदास वाजपेयी
- 152 हिस्टारिकल लिनिव्स्टिक्स इन इण्टोग्रार्यन—एस एम. कत्रो
153. हिस्टारिकल ग्रामर आव इन्स्क्रिप्शनलप्राकृत—एम ए. महेंदले
- 154 हिस्टारिकल ग्रामर आव अपभ्रंश—जी वी तगारे
- 155 हेमचन्द्राज प्राकृतग्रामर-वैद्य पी एल.
- 156 त्रिपण्डितशालाहारापुरचरित-हेमचन्द्र

कोशग्रन्थ

- 1 अभिधानराजेन्द्र
- 2 अभिनव हिन्दी कोश—हरिगुरु पर्मा (गयाप्रसाद एण्ड सस आगरा)
- 3 अमरकोष—अमरमिह
- 4 अवधीकोष—रामाज्ञा 'समीर'
- 5 अंग्रेजी हिन्दी डिक्शनरी—डा हरदेव बाहरी
- 6 इटिमालाजिक गुजराती इंग्लिश डिक्शनरी—एम एन वालसरे
7. ए कम्प्रेटिव एण्ड इटिमालाजिकल डिक्शनरी आव पालि लेंग्वेज—आर. एल टर्नर
- 8 ए डिक्शनरी आव पालि लेंग्वेज—आर सी. चाइल्डर्स
- 9 ए डिक्शनरी आव हिन्दी लेंग्वेज रे जे डी वाटे
- 10 तमिल लेक्सिकन—सभी जिल्दे-मद्रास यूनिवर्सिटी-प्रकाशन
11. नालन्दा विशालशब्दसागर—नवलजी(न्यू इम्पीरियल बुक डिपो नई सडक, दिल्ली)
12. पाइअमदमहणवो—हरगोविन्ददास त्रिकमचन्द सेठ
- 13 बिहारी डिक्शनरी (अपूर्ण) हार्नले ग्रियर्सन ।
- 14 भाषा विज्ञान कोश—डा. भोलानाथ तिवारी
15. वाचस्पत्यम्
- 16 वैजयन्ती कोश—यादवप्रकाश कृत ।
- 17 शब्दार्थकोस्तुम—प्रकाशित रामनारायण लाल अग्रवाल, प्रयाग
- 18 शब्दकल्पद्रुम—स्यारराजा राधाकान्त देव
- 19 सूरजजभाषा कोश—टण्डन
- 20 संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी—मोनिथर विलियम्स ।
21. संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी—वी० एस० श्राप्टे ।

- 22 हिन्दीशब्दार्थ पारिजात-चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद शर्मा (रामनारा० अग्रवाल,
इलाहाबाद)
- 23 हिन्दीशब्द मागरी-श्यामसुन्दरदास, ना प्र मभा, काशी
- 24 हिन्दी जन्मग्रह-मुकन्दीलाल श्रीवास्तव (ज्ञान म०, काशी)
- 25 हिन्दी गद्यभाषा कोश-विश्वेश्वर नारायण श्रीवास्तव इण्डि प्रेस,
इलाहाबाद
- 26 हिन्दी लोकोक्ति-कोश-विश्वम्भरनाथ खत्री, हरीशन रोड, कलकत्ता
- 27 हिन्दी मुहावराकोश-डा० भोलानाथ तिवारी
- 28 हिन्दी मुहावरा कोष-महन्दी
- 29 हिन्दी तमिल कोष-दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार मभा, हैदरा०
- 30 हिन्दुस्तानी दिक्कनरी प्लैटमजान
- 31 हिन्दी पर्यायवाची कोष-श्रीकृष्ण शुक्ल
- 32 हिन्दी रत्नद कोष-श्रीकृष्ण शुक्ल
- 33 हिन्दी तमिल कोष-श्रीकृष्ण शुक्ल
- 34 हिन्दी तेलगु कोष-श्रीकृष्ण शुक्ल

जननस्य

1. उद्दिष्टन दिग्विस्तृता ।
2. उद्दिष्टन अष्टोत्तरी ।

- 17 दि बुनेटिन आफ दि स्कूल आफ ओरिएण्टल स्टडीज । (यूनिवर्सिटी आफ लण्डन)
- 18 न्यू इण्डियन एण्टीक्वरी ।
- 19 बुनेटिन आफ दि डकन कालेज-रिमर्च इन्स्टीच्यूट पूना ।
- 20 मैमायर्म आफ दि एजियाटिक सोसायटी आफ बंगाल ।
- 21 सरस्वती स्टडीज--बनारस
